आधुनिक राज्य तथा स्वतंत्रता

लेखक
न० वि० गाडगिल

जयपुर पुस्तक सदन
चौड़ा रास्ता, जयपुर

मूल्य १२.५०

प्रकाशक : गौरीशंकर शर्मा, मैनेजर, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।
मुद्रक : रसिक प्रिंटर्स, करोल बाग, नई दिल्ली।

यस्येयं जन्मकुण्डली

प्रस्तुत ग्रन्थ की जन्मकुण्डली का बताना जरूरी है। सन् १९६० के अप्रैल महीने में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती मनायी जाने वाली थी। उस निमित्त में अनेक कार्यक्रम होने वाले थे तथा उनमें से एक कार्यक्रम के लिए निमंत्रण मिला था। मुख्य दीक्षांत समारम्भ राष्ट्रपति के हाथों होना था। उस समारम्भ से लगभग १५ दिन पहले उनकी तबियत खराब हो गई और जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने सुझाव दिया कि दीक्षांत अभिभाषण मैं दूं, और मैंने उसे मंजूर कर लिया।

ऐसे महत्वपूर्ण अवसरों पर दीक्षान्त अभिभाषण देना कोई चार घर भीख मांगकर सत्यनारायण करना नहीं है, इस बात का अनुभव हुआ। रोजमर्रा का विषय लेकर भाषण तैयार करना भी मन को प्रिय नहीं लगा। अतः निश्चय किया कि भाषण किसी तात्विक एवं तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल विषय को लेकर तैयार किया जाए। उस दृष्टि से भाषण की तैयारी की तथा उसमें स्वतन्त्रता, समता, कानून तथा लोकतन्त्र इन चार विषयों पर विचार किया। यह भाषण हिन्दी में था तथा अनेकों ने उसे पढ़कर उसकी प्रशंसा की। उससे मन में आया कि इस भाषण के विषय को ही अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया जाए तथा उस पर एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा जाए। निश्चय स्थिर किया, आवश्यक ग्रन्थ इकट्ठे किए तथा छः महीनों में इस ग्रंथ को लिखकर पूरा भी कर डाला। अब यह ग्रंथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

राज्य-विषयक कल्पनाओं का विस्तृत विचार 'राज्य-शास्त्र-विचार' नामक ग्रन्थ में मैंने किया है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता, समता तथा लोकतन्त्र का विचार 'राज्यव्यवहार-शास्त्र' एवं 'राज्यकारभार-शास्त्र' नामक ग्रन्थों में मैं कर चुका हूं। 'विधिशास्त्र-विचार' नामक ग्रन्थ में मैंने कानून के तत्वज्ञान एवं व्यवहार पर विचार किया है। 'राज्योपनिषद्' नाम की छोटी सी पुस्तिका में वही विचार संक्षेप में प्रस्तुत किए हैं। तथापि इस ग्रन्थ में जो विचार मैंने पाठकों के सामने रखे हैं, वे राजनीतिगत दार्शनिक दृष्टिकोण से रखे गए हैं। यह सही है कि कानून, स्वतन्त्रता एवं समता के सम्बन्ध में विचारों को लेखबद्ध करते समय, एक विशेष कानून, एक विशेष स्वतन्त्रता एवं एक विशेष क्षेत्र की समता आंखों के सामने रही है, तथापि अधिक मात्रा में विचार इन सब विषयों के पीछे विद्यमान तात्विक सिद्धान्त एवं दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ही है। लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार भी इसी दृष्टि से किया गया है। स्वातन्त्र्य एवं समता जिन बातों द्वारा मनुष्य के जीवन को सुखी एवं सम्पूर्ण बनाते हैं, वे बातें लोकतन्त्रात्मक राज्य ही में लोगों को

अधिक-से-अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो सकती हैं। लोकतन्त्र का कार्यान्वयन कानून के द्वारा होता है। इस दृष्टि से कानून के महत्त्व, उसके द्वारा दी गई आज्ञा के पालन की आवश्यकता एवं उसकी सीमा आदि बातो को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता गत डेढ सौ बरसो मे बढ़ी है। उसका पर्याप्त प्रचार हुआ है। यह सही है कि आज हमे अनेक प्रदेशो एवं राज्यो में स्वतन्त्रता की स्थापना हुई दृष्टिगत होती है, तथापि उसकी रक्षा के लिए हमे सदैव जागरूक रहने की बहुत अधिक आवश्यकता है। 'यो जागार तमृचः कामयन्ते। यो जागार तमु सामानि यन्ति।' इस वेदवाक्य के पीछे छिपे सत्य को ठीक से जान लेना बहुत जरूरी है। जो जाग्रत रहेगा वही स्वतन्त्र भी रह सकेगा, यह एक ठोस सत्य है। स्वतन्त्रता एव अधिकारो का आपस का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा कि चढ़ने और उतरने वाले समुद्र का तथा भूमि का होता है। अवसर पाते ही अधिकार या सत्ता स्वतन्त्रता पर हमला कर देते हैं। अतः सीमा पर का पहरा सदैव सजग होकर दिया जाना चाहिए। आज के युग मे जाग्रति की कितनी जरूरत है, यह बताने की आवश्यकता नही। स्वतन्त्रता को सार्थक बनाना हो तो व्यक्तिमात्र को आर्थिक क्षेत्र मे सम्पन्नता, सामाजिक क्षेत्र मे न्याय एव समता तथा जीवन मे पूर्णता का आनन्द प्राप्त होना चाहिए। इसी सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रतिपादित करने का इस ग्रन्थ मे यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। इसमे आलौकिक अथवा नई बात कुछ नहीं कही गई। अनेक विचारको ने जो कुछ इन विषयो पर कहा है, उन्ही के विचारो का अनुसरण करते हुए, अपने अनुभवो की कसौटी पर उन्हे अच्छी तरह कस कर अपने कुछ एक स्वतन्त्र विचारो के साथ उनका प्रतिपादन मैने किया है। पाठको को मेरा यह प्रयास रुचिकर प्रतीत होगा, ऐसी आशा है।

न० वि० गाडगिल

अनुक्रमणिका

स्वतंत्रता संबंधी कुछ स्थूल विचार

आजकल की दुनिया में जिन राष्ट्रों को पहले दर्जे का माना जाता है, उनमे भारत की भी गणना की जाती है। सन् १९४७ के अगस्त महीने मे भारत स्वतंत्र हुआ। संविधान-सभा द्वारा भारत का संविधान बनाया गया तथा २६ जनवरी १९५० को उसे लागू किया गया। इस प्रकार भारत एक प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य बना। संविधान सभा ने संविधान निर्माण कार्य पूरा करके नवम्बर १९४९ में भारतीय जनता द्वारा उसे स्वीकृत कराया। भारत का यह संविधान अतीत के अनुभवों के आधार पर, वर्तमान स्थिति को ध्यान मे रखते हुए, उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के हेतु आवश्यक विचार विमर्श के अनंतर तैयार किया गया। प्रत्येक समाज भविष्य को ध्यान मे रखकर ही वर्तमान काल के प्रयत्नों की दिशा निर्धारित किया करता है। समाज सदा बदलता रहता है। समाजगत नैतिक मूल्य बदलते रहते हैं। सामाजिक विचार क्षेत्र में एक भी वस्तु ऐसी नही हो सकती, जो बदलती न हो। आप कितनी भी सावधानी क्यों न बरतें, कोई कानून हर परिस्थिति में एक-सा तथा अपने आप मे पूरा नहीं उतर सकता। इस कारण बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार ही सामान्य कानून एवं संविधान का भी बदलना अभीष्ट सिद्ध होता है। भवन-निर्माण में जिस प्रकार सामान्य मरम्मत तथा मौलिक स्वरूप के परिवर्तन मे भिन्नता रहती है, उसी प्रकार कानून में किये जाने वाले परिवर्तनों को भी दो भिन्न-भिन्न रूपों में विभक्त किया जा सकता है। एक वह जो लौकिक व्यवहार को ध्यान मे रखते हुए सामान्य स्वरूप का परिवर्तन कानून में किया जाता है तथा दूसरा वह जो उसमे मौलिक रूप का परिवर्तन किया जाता है। घर को रंग देना, टूट-फूट को ठीक करना, दरवाजो अथवा खिड़कियों मे थोड़ा-बहुत बदल करना एक बात हुई। परन्तु घर के आकार को ही बदल डालना, उसके चबूतरों को तोड़कर नया रूप दे डालना दूसरी बात हुई। जिस प्रकार किसी भवन की नींव तथा चबूतरा होता है तथा उन्ही पर सारी भवनरचना अवलम्बित रहती है, उसी प्रकार किसी भी समाज एवं राज्य की नींव की तरह कुछ मौलिक सिद्धांत होते हैं, जिन्हें बदल डालने का अभिप्राय होता है एक प्रकार की क्रांति को जन्म देना।

सन् १९५० में भारत का संविधान लागू हुआ एवं उसके अनुसार लोकव्यव-हार का नियमन, नियंत्रण तथा मार्गदर्शन आरंभ हुआ। दो सार्वजनिक चुनाव भी हो चुके हैं। एतदर्थ दस वर्षों में संविधान में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन भी हो चुके हैं। जो सामा-जिक एवं आर्थिक ध्येय भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत किये गये हैं, उन्हें कार्या-न्वित करने की दृष्टि से संविधान का उपयोग करना होता है। यह काम लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर करना होता है। भारत का राज्य लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होने के कारण नागरिकों को संविधान द्वारा

स्वतंत्रता प्राप्त है तथा प्रत्येक नागरिक को, उचित सीमा में रहते हुए, अपनी भीतरी प्रतिक्रिया को प्रकट करने का पूरा अधिकार है। मुद्रण भाषण तथा संगठन की स्वतन्त्रता संविधान द्वारा उसे प्राप्त है तथा उसका यदि वह उपयोग करे तो उसे उचित ही माना जाना चाहिये। जो वस्तु प्रिय नहीं है, उसे कहने का उसको पूरा अधिकार है। उसे कहने का काम वह व्यक्तिगत रूप से करे या सामूहिक रूप से करे, उसकी इच्छा पर निर्भर है। कलियुग में शक्ति व्यक्ति में न होकर संघ में है, ऐसी उक्ति है। यदि कोई अकेला आदमी सड़क पर चिल्लाता हुआ निकले तो वह पागल कहलायेगा। पर यदि एक समूह बनाकर लोग चिल्लाते हुए निकलें तो उसे 'मोर्चा' अथवा 'प्रदर्शन' नाम दिया जायेगा। मौलिक अधिकार का उद्देश्य यही है कि अपने विकास के लिये व्यक्ति जो कुछ करना चाहता है, वह एक उचित सीमा में रहकर कर सके। केवल चुनावों के समय ही इस अधिकार को काम में लाने की बात नहीं है, वह उसका सार्वकालिक अधिकार है। भाषण एवं संगठन की स्वतंत्रता का व्यक्ति के जीवन में वही स्थान है, जो स्थान श्वासोच्छ्वास का हो सकता है। राज्य का कानून तथा कामकाज कागज पर किसी भी रूप में क्यों न लिखा जाय, उसका वास्तविक रूप वही है, जो व्यक्ति के अनुभव में आता है। इसलिये व्यक्ति को पूरा अधिकार होना चाहिये कि वह समाज की ड्योढ़ी पर जाकर अपने उस अनुभव को सुना सके। तथा सर्वसाधारण व्यक्तियों के अनुभव एवं सम्मति को ध्यान में रखते हुए सारासार का विचार करके शासन को राज्य का काम-काज करना चाहिये। लोकतान्त्रिक राज्य-प्रणाली का यह एक महत्वपूर्ण नियम है। इस दृष्टि से गत दस वर्षों में जो कुछ घटित हुआ है, उसे ध्यान में रखकर हमें काम करना चाहिये। तथा जिस नींव पर, एवं कल्पनाओं पर लोकतान्त्रिक राज्य की निर्मिति हुई है, उन्हें भी निरन्तर अपनी दृष्टि के सम्मुख रखना चाहिये। आज भारत में अनेक व्यक्तियों को ऐसा लगता है कि राज्य के द्वारा जो कुछ किया जा रहा है, उससे उनकी मौलिक स्वतन्त्रता कम हो गई है। लोकतन्त्र के सिद्धान्तों में जिस समत्व का प्रतिपादन किया जाता है, बहुतों को लगता है कि, भारत के लोकतन्त्र में उसका अनुभव जितनी मात्रा में होना चाहिये, उतनी मात्रा में नहीं होता। अतः हर कोई अपनी बुद्धि के अनुसार उपाय बतलाता है। ऐसी अवस्था में, राज्य तथा उसके आधारभूत सिद्धान्तों का विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। तथा इसी दृष्टि को सामने रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ में विचार किया जा रहा है।

हम कह आये हैं कि भारत एक प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। जिस प्रकार भारत स्वतन्त्र राष्ट्र है, उसी प्रकार भारत के निवासी भी स्वतन्त्र नागरिक हैं, यह स्पष्ट है। स्वतन्त्र राष्ट्र वे हैं, जो किसी अन्य राष्ट्र की आज्ञा नहीं मानते एवं उसे मानने के लिये नैतिक अथवा कानूनी किसी भी दृष्टि से बाधित नहीं हैं। प्रभुत्वसम्पन्न राज्य वह है, जो किसी अन्य की आज्ञा नहीं मानता एवं उसके अपने क्षेत्र में यदि कोई उसकी आज्ञा को न माने तो उसे निश्चित रूप से दण्ड दिया जाय। इस बात को सामने रखते हुए हमें देखना है कि आधुनिक राज्यों में स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है तथा उसकी क्या सीमाएँ हैं। स्वतन्त्रता का सामान्यतया अर्थ होता है किसी प्रकार के बंधन का अथवा सीमा का न होना। व्यक्ति को आराम से जीवन बिताने के लिये

जिस परिस्थिति की आवश्यकता अनुभव होती है, उस परिस्थिति का होना ही, उसकी दृष्टि से स्वतन्त्रता है। उस पर यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण तथा प्रतिबंध लगा दिया जाय तो उसे लगता है कि उसका सुख कम हो गया है तथा उसकी स्वतन्त्रता पर हमला किया गया है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि व्यक्ति को वैयक्तिक सुख के लिये आवश्यक प्रतीत होने वाली परिस्थिति, जिस समाज एवं राज्य में वह निवास करता है, उसके उद्देश्यों एवं आदर्शों के विपरीत नहीं होनी चाहिये। इस संगति को बनाने का अर्थ यह हुआ कि राज्य की शक्ति पर भी कुछ नियन्त्रण एवं प्रतिबंध होने चाहियें। व्यक्ति तथा समाज के बीच जो संबंध हैं, उन्हें व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समाज अथवा राज्य की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए देखा जाना चाहिये। स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का न रहना एक सीमित अर्थ में सही है। परन्तु व्यक्ति के विकास को ध्यान में रखते हुए उस स्वतन्त्रता की कल्पना में एवं वस्तुस्थिति में भी प्रगति के लिये गुंजायश रहनी चाहिये। व्यक्ति के वैयक्तिक विकास में बाहरी रुकावटें पैदा हों तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता अपने पूरे रूप में नहीं रह पायेगी। व्यक्ति पर कोई स्वतन्त्रता लाद नहीं सकता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी कोई सीमा को तोड़कर प्रतिबंध नहीं लगा सकता। सीमा को स्वीकार करना अथवा कानून का पूरी तरह पालन करना स्वतन्त्रता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार किसी भी कानून को न मानना अथवा किसी भी सीमा को स्वीकार न करना ही स्वतन्त्रता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। सीमाएँ यदि व्यक्ति के विकास में बाधक न बनती हों तथा उसमें विफलता की भावना पैदा न करती हों, तो यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है। इसके विपरीत, व्यक्ति का मन जिस बात को नहीं मानता, उसे करने के लिये उसे बाध्य होना पड़े, तो यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण नहीं है। समाज के हित एवं सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए व्यक्ति को अनियंत्रित एवं निःसीम स्वतंत्रता देना कोई भी अभीष्ट अथवा उचित नहीं मान सकता। तथा समाज के आत्यंतिक हित की दृष्टि से किन्हीं बातों में राज्य के द्वारा नियंत्रण से काम लिया गया, तो उससे स्वतंत्रता अक्षुण्ण नहीं रही, ऐसा कोई स्वीकार नहीं करेगा। देवी का टीका लगाना, प्राथमिक शिक्षण तथा मेलों के अवसरों पर टीका लगाना आदि बातों में राज्य द्वारा जबर्दस्ती से काम लिया गया तो उससे स्वतंत्रता की हानि नहीं होती। किन्तु जहाँ जबर्दस्ती तो होती हो पर जिसका संबंध सार्वजनिक हित अथवा सुरक्षा से न हो, तो वहाँ यह कहना ही पड़ेगा कि इस आचरण से स्वतन्त्रता की हानि होती है।

जब स्वतन्त्रता पर लादे जाने वाले बन्धनों पर हम विचार करते हैं, तो हम यह मानकर चलते हैं कि कोई-न-कोई सत्ता ऐसी है, जो स्वतन्त्रता पर बन्धन लादती है। जहाँ यह अमर्याद सत्ता किन्हीं थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहती है, वहाँ व्यक्ति स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं, जहाँ किसी के हाथ में निःसीम सत्ता आई हो और उसका उपयोग विवेक से किया गया हो। इसके विपरीत निःसीम सत्ता मनुष्य में निःसीम अहंकार को जन्म देती है तथा सत्ताधारी व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका हर काम ठीक ही होता है,

उसका हर कथन सत्य ही होता है। सत्ताधारी लोग यह भी मानते हैं कि वे जो कुछ करते हैं, वह सब लोगों के कल्याण के लिए होता है, और यदि सत्ता उन लोगों के हाथ में न रहे, तो राष्ट्र को मुसीबत का सामना करना पड़ेगा तथा राष्ट्र उन्नति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप, उनकी यह धारणा हो जाती है कि लोगों के कल्याण के लिए सत्ता का उनके हाथ में रहना बहुत आवश्यक है। इतिहास के इस अनुभव से हमें ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सत्ता के ऊपर नियन्त्रण आवश्यक है। निःसन्देह स्वतन्त्रता का उपयोग सत्ता पर ही निर्भर करता है। और तब तक स्वतन्त्रता का उचित उपभोग असम्भव है, जब तक सत्ता पर भी किसी का उचित अंकुश नहीं रहता। इसी प्रकार समाज की स्वतन्त्रता की रक्षा तब तक असम्भव है जब तक उसके वातावरण में निर्भयता न हो। सत्ता के आदेश के पालन की भाँति उसकी अनुचित आज्ञाओं का विरोध करना भी स्वतन्त्र नागरिक का एक मौलिक सिद्धान्त है। हम कह चुके हैं कि स्वतन्त्रता का सामान्य अर्थ बन्धनों का न रहना है। परन्तु बन्धनों का एकदम अभाव ही स्वतन्त्रता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं। जिस समाज में नैतिक तथा कानूनी किसी प्रकार का कोई बन्धन व्यक्ति पर न हो तो उस समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। वहाँ शान्ति तथा व्यवस्था खतरे में पड़ जायेगी। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस नियम का पालन जब तक व्यक्ति नहीं करेंगे, तब तक समाज की रचना सम्भव नहीं। यदि हो जाय तो वह बहुत विशृंखल रहेगी। समाज की निर्मिति का यह एक मौलिक नियम है। समाज में अनेक व्यक्ति रहते हैं। प्रत्येक की बुद्धि, आशा, आकांक्षा आदि सब भिन्न होती हैं। इस कारण समाज की धारणा के लिए किन्हीं नियमों एवं बन्धनों का रहना अनिवार्य हो जाता है। ये न रहें तो समाज में गड़बड़ फैल जायेगी तथा व्यक्ति का सुख एवं सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। अतः व्यक्ति एवं समाज दोनों का लाभ इसी में है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुछ नियन्त्रण बना रहे। मनुष्य समाज में कहीं भी व्यक्ति को सर्वथा उच्छृंखल स्वरूप की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। अधिक से अधिक प्रयत्न यह होना चाहिए कि व्यक्ति एवं समाज इन दोनों की इच्छाओं तथा आदर्शों के मध्य कोई उचित सन्तुलन बनाए रखा जाय। सत्ताधारी व्यक्तियों द्वारा लोगों पर जो भी नियन्त्रण किया जाय, उसमें व्यक्ति के विकास के लिए हर प्रकार की गुंजायश रखी जानी चाहिए।

यह सही है कि स्वतन्त्रता के मानी बन्धनों का न होना है तथापि हमें यह समझ लेना चाहिए कि यह सापेक्ष है। एकदम बन्धनों का अभाव ही स्वतन्त्रता है, यह सही नहीं। कोई भी धन्धा अपनाया जाय और कहीं भी नौकरी की जाय इस बारे में बन्धन न हों तो इसके मानी यह नहीं होते कि वह व्यक्ति अथवा समाज पूरी तरह स्वतन्त्र है। नौकरी में स्थिरता न हो, धन्धे में आमदनी न हो और बेकारी का डर सामने मौजूद हो तो ऐसी अवस्था में यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है तो वह एक शिष्टाचार मात्र ही होगा, वास्तविकता नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल बाहरी परिस्थिति की स्वतन्त्रता नहीं, उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक परिस्थिति के साथ भी है। जीना है इसलिए किसी भी शर्त को मंजूर करके नौकरी करना अथवा व्यापार-धन्धा करते समय अनेक मानसिक चिन्ताओं से पीड़ित रहना

कोई स्वतन्त्रता का लक्षण नहीं। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि शरीर, मन तथा आत्मा इन तीनों की प्रसन्नता का ही नाम स्वास्थ्य है। ठीक इसी प्रकार शरीर तथा मन दोनों की स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। जब मनुष्य का मन निश्चिन्त न हो, तब मतदान इत्यादि बातों की स्वतन्त्रता कोई मानी नहीं रखती। आर्थिक चिन्ता का अभाव भी स्वतन्त्रता का लक्षण नहीं है। अगर गुलामों को खाने-पीने के मामले में सब प्रकार की छूट रहे तो भी वे गुलाम ही बने रहेंगे। अगर किसी के सामने एक ओर स्वर्ग और दूसरी ओर स्वतन्त्रता रख दी जाय और किसी एक को चुन लेने के लिए कहा जाय तो निःसन्देह यह चुनाव उसके लिए एक टेढ़ी खीर हो जायेगी। यदि जीवन में आर्थिक सुस्थिति न हो तो स्वतन्त्रता के कोई मानी नहीं; क्योंकि यह देखा गया है कि स्वतन्त्रता के घोर उपासक भी भविष्य की चिन्ता से आर्थिक सुस्थिति की ओर झुकते हैं। नाम को स्वतन्त्रता हो और स्वतन्त्रता से प्राप्त होने वाला सुख न हो तो वह स्वतन्त्रता बेकार है। स्वतन्त्रता के मानी तभी पूरे होते हैं जब मनुष्य की आर्थिक स्थिति भी ठीक हो। तो भी आर्थिक सुस्थिति ही स्वतन्त्रता है, यह समीकरण भी ठीक नहीं। जिस दुनिया में हम साँस ले रहे हैं, वहाँ हमें आर्थिक सुस्थिति एवं स्वतन्त्रता के बीच खाई नजर आती है। इस खाई को पाटने की कशमकश जारी है। कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ आर्थिक परिस्थिति के अच्छा होते हुए भी मनुष्य का जीवन जकड़-सा गया है और उसकी विचार-शक्ति लुप्तप्राय हो गई है। जिस तरह आजकल दुकानों पर 'रेडिमेड' कपड़ा बिकने लगा है ठीक उसी प्रकार रेडिमेड विचार और सिद्धान्त भी बिकने लगे हैं; या कहिए, लोगों को उन्हें खरीदना पड़ रहा है। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है। वैचारिक स्वतन्त्रता एक मूल्यवान वस्तु है। उसका गँवा बैठना कोई अच्छी बात नहीं। प्राप्त स्वतन्त्रता को काम में लाना भी कोई आसान बात नहीं है। उसके लिए बहुत बड़ी मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है और इस शक्ति को हासिल करना कोई हँसी-खेल नहीं है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी शिक्षा की आवश्यकता है और इस कारण व्यक्ति को शिक्षा प्राप्ति की अधिकाधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ज्ञान एक शक्ति है और जिसके पास ज्ञान का संचय जितना अधिक होगा, वह उतना ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा। ज्ञान प्राप्ति का अवसर प्रदान करने से इन्कार करना स्वतन्त्रता से वंचित रखना ही नहीं है, बल्कि व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित रखना है एवं उसे समर्थ न होने देना है। अगर कोई किसी व्यक्ति पर पढ़ाई-लिखाई के लिए जबर्दस्ती करे तो इसके मानी यह नहीं कि वह उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहा है; क्योंकि पढ़ाई-लिखाई से ज्ञान प्राप्त होगा और वह ज्ञान व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। अतः इस मामले में जबर्दस्ती से काम लेना भी उस व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा शक्ति-दान है। अपने अनुभवों को अधिक अलंकृत रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित करने के कार्य में ज्ञान बहुत अधिक सहायक होता है। जब तक मनुष्य अपने अनुभवों को उचित रूप में अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं होता, तब तक उसकी स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं होती। और स्वतन्त्रता का सही मानों में उपभोग करने के लिए मन का शिक्षित एवं सुसंस्कृत होना परम आवश्यक है।

व्यक्ति को जिस समाज में रहना है, उस समाज में यदि बहुत अधिक विषमता हो, तो व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग नही कर सकता। जिस समाज में कुछ ही व्यक्तियों को विशेष सुविधाएँ अथवा अधिकार प्राप्त हों तो उस समाज के नागरिक की स्वतन्त्र कहना उपहासास्पद सिद्ध होगा। इसी प्रकार धर्म, जाति एवं जन्म की दृष्टि से समाज के अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक अत्याचार करें, वहाँ भी नागरिक की स्वतन्त्रता सन्देह मे पड जाती है और यह उसकी स्वतन्त्रता पर एक असह्य प्रहार सिद्ध होता है। स्वतन्त्रता के लिए समाज मे समता का होना बहुत जरूरी है। इसमें सन्देह नही कि सत्ताधारी वर्ग के अत्याचारो से प्रजा को मुक्त करना भी स्वतन्त्रता का एक अर्थ है। सत्ताधारी चाहे कोई व्यक्ति हो, वश हो या कोई वर्ग हो, सब सत्ता को इस रूप में क्रियान्वित करते हैं कि हर व्यक्ति को उनका कहा मानना पड़ता है और उनके आदेश के अनुसार काम करना पड़ता है। यदि कोई उनका कहा न माने तो उसे स्वतन्त्रता के फल से वंचित रहना पडता है। उस पर अत्याचार के पहाड भी टूटें तो भी उसे उपेक्षित तो होना ही पडता है और इसी कारण स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सत्ता को सीमित किया जाता है तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही कुछ मौलिक अधिकार व्यक्ति को दिए जाते हैं तथा राज्य इस बात का आश्वासन देता है। ससार के सभी देशों का अनुभव है कि अनियन्त्रित सत्ता स्वतन्त्रता का घोर शत्रु है। यदि सत्ता पर नियन्त्रण न हो तो किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे मे पड सकती है और इससे व्यक्ति के श्रेष्ठ एवं उदात्त गुणों का भीतर ही भीतर लोप हो जाता है, जिसके फलस्वरूप समाज को भी उत्तम गुणो से वंचित रह जाना पडता है। यदि सत्ता के अनियंत्रित होने पर व्यक्ति को अपने गुणों का विकास करने का अवसर मिलता हो तो समझना चाहिए कि व्यक्ति के उन गुणो से पूरे समाज की प्रगति न होकर केवल सफेदपोश, मालदार अथवा सब प्रकार से सम्पन्न व्यक्तियो का ही हित होगा। सत्ता का उपयोग करने वाले समाज के जिस स्तर से अथवा जिस वर्ग से सम्बन्धित होते हैं, उसी वर्ग के हित के लिए सत्ता का उपयोग किया जाता है। मतदान का अधिकार जिस वर्ग के पास है, उसी वर्ग का हित किया जाता है। इतिहास का यही अनुभव है। जिन दिनो मतदान का अधिकार केवल घरमालिकों को ही था, उन दिनो नगरपालिकाओं का सारा काम-काज घरमालिको के हित की दृष्टि से हुआ करता था। जिन दिनों मतदान का अधिकार बड़े-बड़े जमीदारों, मालदार किसानो और आय-कर देने वालो को ही था, उन दिनो जो कानून बनाए गए हैं, उन्हें देखकर हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। यदि समाज के किसी व्यक्ति अथवा समूह को राजकीय काम-काज मे भाग लेने का अधिकार न हो अर्थात् उन्हे अपने विचार प्रकट करने का अधिकार न हो, तो कहना होगा कि उन व्यक्तियो अथवा समूहो की नागरिकता अधूरी है। वे सत्ता से ही वंचित नहीं, अपितु सुखोपभोग से भी वंचित हैं। धर्म, वंश, शिक्षा अथवा सम्पत्ति किसी भी दृष्टि से व्यक्तियो को नागरिकता के अधिकार से वंचित क्यों न किया जाय, फल एक ही होता है; इसलिए स्वतन्त्रता को हर दृष्टि से स्वयपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे उसका उपयोग समता की दृष्टि से होना चाहिए। समता ही स्वतन्त्रता नही है। परन्तु समता के अभाव मे स्वतन्त्रता अपूर्ण है। लोग कहते हैं कि समता

और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी वस्तुएं हैं तथा आज भारत में इस विरोध की बहुत अधिक चर्चा है। एक पक्ष का कहना है कि राज्य द्वारा व्यापार तथा उद्योग पर नियन्त्रण से स्वतन्त्रता की हानि हुई है। यह भी कहा जाता है कि कानून द्वारा समता स्थापित करने से स्वतन्त्रता के वास्तविक रूप की हानि हुई है। उन लोगों का यह भी कहना है कि जब निसर्गतः मनुष्यों में तथा उनकी बुद्धि में समानता नहीं है, तब कानून की सहायता से इस नैसर्गिक स्थिति को बदलकर समता लाने से व्यक्ति के विकास में एक प्रकार से बाधा उत्पन्न हुई है तथा उनकी स्वतन्त्रता की हानि हुई है। समता की माँग से स्वतन्त्रता की हानि होती है यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। समता तथा स्वतन्त्रता में विरोध नहीं है बल्कि ये दोनों वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। किसी निरंकुश शासक के राज्य में प्रजा के हर व्यक्ति पर समान रूप से अत्याचार होता है, तो वहाँ समता तो है पर स्वतन्त्रता नहीं। जहां आवश्यक मात्रा में समता न हो वहां स्वतन्त्रता का ठीक से उपभोग नहीं हो सकता। समाज में, विशेषकर उस समाज में, जहां विषमता अधिक है तथा अधिक तीव्र है, समता की इच्छा भी अधिक तीव्र रहती है। जहां विषमता साधारण मात्रा में हो वहां समता की इच्छा उतनी तीव्र नहीं होती और वह द्वेष का रूप धारण नहीं करती। परन्तु जहाँ विषमता अधिक तीव्र होती है वहाँ समता की भावना भी अधिक तीव्र होती है तथा उसका रूपान्तर सामाजिक द्वेष में होता है और वहाँ क्रान्ति की भावना जन्म लेती है। विषमतायुक्त समाज की विषमता का आधार कोई नैसर्गिक तथ्य नहीं होता। जो लोग सम्पन्न होते हैं, उनकी सम्पन्नता में मनुष्य द्वारा निर्मित कानून अथवा मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक परिस्थिति का हाथ रहता है। शरीर के रंग अथवा ऊँच-नीच को देखकर लोगों को गुस्सा नहीं आता। कोई व्यक्ति बगैर मेहनत के मालदार या सुखी हो तथा कोई व्यक्ति किन्हीं नैसर्गिक अथवा शारीरिक दुर्गुणों या अयोग्यताओं के कारण नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था के कारण इनसे वंचित तथा उपेक्षित हो तो, इन दोनों वर्गों के बीच के सम्बन्ध क्रान्ति की पृष्ठभूमि बन जाते हैं और इस क्रान्ति का मार्गदर्शन करते हैं ऐसे गुणों एवं योग्यता रखने वाले लोग, जिनके गुणों की पूरी तरह उपेक्षा एवं अवहेलना की गई होती है। सम्पत्ति एवं समृद्धि के बल पर सुख पर अधिकार जताने वाले लोग अल्पसंख्या में होते हैं। इस कारण बहुसंख्यक लोग उनके विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। सम्पत्ति की प्राप्ति एवं रक्षा सत्ता के द्वारा की जाती है तथा यह सत्ता एवं सम्पत्ति इकट्ठा होकर समाज के बहुसंख्यक वर्ग को सुखोपभोग से वंचित रखते हैं। ऐसी बात नहीं कि सुख की प्राप्ति तभी होती है, जब सत्ता हाथ में हो तथा ऐसी भी बात नहीं कि सत्ता के न होने पर सुख की प्राप्ति होती हो। किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि सत्ता के अभाव में जो सुख की प्राप्ति होती है, उसकी मात्रा बहुत सीमित रहती है। सत्तासम्पन्न व्यक्तियों के उपभोग के बाद जो बचा-खुचा सुख रह जाता है, वही सत्ताहीन व्यक्ति को नसीब हो पाता है। अतः जहाँ समता है, जहाँ सामाजिक अधिकार समान हैं, वहाँ सुखोपभोग का वितरण अधिक न्यायपूर्ण होता है और इसी कारण स्वतन्त्रता का उपभोग भी अधिक मात्रा में तथा अधिक अच्छी तरह होता है। इतिहास हमें बताता है कि जिन देशों में विशेष सुविधाओं एवं विशेष अधिकारों को समाप्त कर दिया गया है, वहाँ लोगों के

सुखोपभोग में वृद्धि ही हुई है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ समता अधिक हो, वहाँ स्वतन्त्रता का उपभोग एवं उपयोग अधिक होता है तथा अधिक उत्तम रीति से होता है।

जिस प्रकार स्वतन्त्रता का पूरा पूरा अर्थ समझने के लिए उसके प्रत्येक पक्ष को ठीक-ठीक समझना आवश्यक होता है, उसी प्रकार समता को भी ठीक-ठीक समझने के लिए हमें उसके विविध पक्षों का अध्ययन करना होगा। जिस प्रकार स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए उस पर किन्हीं नियन्त्रणों का रहना आवश्यक होता है, उसी प्रकार समता के लिए भी कुछ नियन्त्रण आवश्यक होते हैं और उन नियन्त्रणों से ही समता का सिद्धान्त पूर्णता को प्राप्त करता है। यदि सर्वथा निरंकुश एवं नियन्त्रणहीन समता की कल्पना की जाय तो उससे समता को पूर्णता नहीं प्राप्त होगी और अव्यवस्थिति का निर्माण होता है। समता का अर्थ निरपेक्ष साम्य अथवा प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक ही साँचे में ढला हुआ व्यवहार नहीं है। मनुष्य निर्जीव नहीं है। उसके शरीर का आकार भी समान नहीं रहता और उसके मन की स्थिति अथवा समता का वर्णन करना तो कवि तथा योगी दोनों ही के सामर्थ्य से बाहर की बात रही है। वंशपरम्परा से प्राप्त होने वाली पार्थिव सम्पत्ति को कानून द्वारा कम या अधिक किया जा सकता है; परन्तु मानसिक सम्पत्ति को कानून द्वारा कम या अधिक नहीं किया जा सकता, भले ही वह सम्पत्ति उस व्यक्ति को वंश परम्परा से प्राप्त हुई हो। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को वंशपरम्परा से किसी न किसी मात्रा में मानसिक विचारों का उत्तराधिकार प्राप्त होता है तथा सामाजिक परिस्थिति के कारण मनुष्य के स्वभाव पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अन्य व्यक्ति से भिन्न होता है। अतः समाज में किन्हीं विविधताओं एवं विषमताओं का होना अनिवार्य है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाला सिद्धान्त अयोग्य नहीं है। यह मति अथवा स्वभाव सामाजिक परिस्थिति तथा वंशपरम्परा से चले आने वाले संस्कारों से निर्मित होता है। मनुष्य का मन कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है; बल्कि वह ऐतिहासिक निर्मिति है। उसे वर्तमान रूप में लाने के लिए अनेक पीढ़ियों का समय लगा है। ठीक इसी प्रकार अनेक पीढ़ियों तक प्रयत्न करने से उसके वर्तमान स्वरूप को बदला भी जा सकता है। यह कथन तर्कसंगत है। तथापि आज समाज के अन्दर व्यक्ति व्यक्ति में दृष्टिगोचर होने वाली विविधता एक ठोस सत्य है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। घोड़े और गधे सबको एक जैसा समझकर व्यवहार करना असम्भव नहीं है तथापि अवांछनीय है। कुबेर से लेकर भिखमंगे तक सबके साथ एक ही जैसा व्यवहार करना समता का सही अर्थ नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को सुखोपभोग की कामना रहती है; परन्तु प्रत्येक मनुष्य की सुखोपभोग सम्बन्धी विचारधारा एक जैसी नहीं होती। इस कारण समाज में रहते हुए सुखोपभोग के लिए मनुष्य को जिस परिस्थिति की आवश्यकता होती है, वह भी एक जैसी नहीं हो सकती। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार सुख की प्राप्ति का अवसर समाज द्वारा मिलना चाहिए। यदि कोई मटर पसन्द करता हो और दूसरा मेथी पसन्द करता हो, तो उसको अपनी इच्छानुसार वस्तु खरीदने की छूट देना समता के विरुद्ध आचरण करना नहीं होगा। कोई व्यक्ति वकील बनना चाहता है,

कोई डाक्टर तथा कोई व्यक्ति कारीगर बनना चाहता है। यदि समाज इन सब व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार अपने को बनाने का अवसर प्रदान करे, तो इसे विषमता का नाम नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार कृत्रिम स्वरूप के बन्धन एवं नियंत्रणों से यदि जीवन के किन्हीं क्षेत्रों को किन्हीं निश्चित व्यक्तियों अथवा समूहों के लिए सीमित कर दिया जाए तो निश्चित ही यह बात समता की कल्पना के विरुद्ध होगी। समता का अर्थ है स्तर की समानता। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर की शक्ति एवं कौशल को विकसित करने का अवसर समान रूप से मिले तो यह समता होगी। मौलिक अधिकार हर व्यक्ति को समान रूप से मिलने चाहिएं। किसी भी व्यक्ति को उसके धर्म अथवा उसकी जाति के कारण इन अधिकारों से वंचित रखना विषमता होगी। मौलिक अधिकारों में यदि किसी प्रकार की ऊँच-नीच बनाए रखनी पड़े तो यह देख लेना चाहिए कि वह किसी उचित उद्देश्य के लिए है तथा उसमें सार्वजनिक हित होता है। साथ ही यह भी देखना होगा कि वह ऊँच-नीच लोगों को स्वीकृत है या नहीं। जो बातें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक हों वे सब की सब प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। उनके प्राप्त होने के बाद यदि किन्हीं गौण बातों में किसी प्रकार का कोई भेद हो जाए तो उसका उतना विरोध नहीं होगा। किसी भी व्यक्ति को मालपुआ और खीर खाने का अधिकार तब तक नहीं होना चाहिए, जब तक समाज के हर व्यक्ति को रोजमर्रा का दोनों समय का खाना नसीब न हो। किसी भी व्यक्ति को बहुत ऊंचे दर्जे की पढ़ाई-लिखाई का अधिकार तब तक नहीं मिलना चाहिए, जब तक प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यक शिक्षा नहीं मिलती। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो समता का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। समता का अर्थ हुआ कि व्यक्ति मात्र को समाज में रहते हुए आत्मोन्नति के लिए समान अवसर का प्राप्त होना। तथा यदि किसी को यह अवसर कम मिलता हो अथवा किसी को कम अवसर देना हो, तो यह देख लेना चाहिए कि वैसा करना समाज के हित में है या नहीं। यह बात स्वयंसिद्ध होनी चाहिए। शहरियों को शिक्षा की जरूरत है, यह देखकर गाँव वालों की शिक्षा में कमी करना अथवा विश्वविद्यालयीन शिक्षण की आवश्यकता अधिक है, यह देखकर प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले खर्च में कटौती करना समता के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं बैठता। किसी कार्यविशेष के लिए किसी व्यक्तिविशेष को, उसकी योग्यता को देखते हुए, अधिक अनुकूल समझने से समता की हानि नहीं होती। हाँ, उस व्यक्ति का चुनाव उसके गुणों को देखकर किया जाना चाहिये। सम्पत्ति को गुणों पर रीझकर व्यक्ति के पास आना चाहिए, केवल व्यक्ति के वंश अथवा जन्म पर रीझकर नहीं। गुणों के अनुसार व्यक्ति को इनाम दिया जाये तो इससे समता के अर्थ की हानि न होकर उस पर प्रकाश पड़ता है। किसी भी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा वंचित नहीं रखा जाएगा, उसकी उपेक्षा नहीं की जाएगी, यदि यह अवस्था हो तो इससे समता में वृद्धि होती है। यदि कोई ऐसी दिक्कत हो जो हर व्यक्ति के सामने समान रूप से आई हुई हो तो व्यक्ति को उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं होती। समान अवसर देने के बाद यदि किसी को कम और किसी को अधिक लाभ होता हो तो उसका दोष समाज के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकेगा तथा इस

शास्त्र विचार' नामक ग्रंथ में किया गया है। भारतीय तत्त्वज्ञान इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा भिन्न है तथा प्राचीन भारत में राज्यविषयक कल्पना के विकास का इतिहास मनोरंजक है। तथापि उस विकास के सम्बन्ध में किसी अन्य प्रसंग में विचार करने की प्रस्तुत लेखक की मनीषा है। सामान्यतया यों कहा जा सकता है कि सर्वभूत समानता हिन्दू संस्कृति की आत्मा है। अतः राजनीति पर भी इस तत्त्व का प्रभाव पड़ा है। जो कुछ आत्मवश है, वह स्वतन्त्रता है और जो परवश है, वह परतन्त्रता है, यह विचारधारा भारतीय समाज में प्राचीनकाल से चली आ रही है। भारत में समाज की रचना एक विशिष्ट विचारधारा पर आधारित होने के कारण समता की विचारधारा कुछ मात्रा में सीमित हो गई है। तथापि स्वधर्मानुसार व्यवहार करने में स्वतन्त्रता एवं सुख रहता है, इस दृष्टि से समाज में वर्णों की रचना करके अर्थ व्यवस्था बनाई गई है। भारतीय समाज के सैकड़ों वर्षों के इतिहास में हम देखते हैं कि विचारों की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उसे कहने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। परन्तु व्यवहार में धर्म की दृष्टि से एक प्रकार का बन्धन है। भारत के राजनैतिक विचारों में जो व्यवस्था है, वह धर्म पर आधारित है। इस कारण स्वतन्त्रता तथा समता के विचार को यहाँ मौलिक नहीं माना गया, यह कहना अनुचित नहीं होगा। पाश्चात्य राष्ट्रों में जो राजनैतिक तत्त्वज्ञान विकसित हुआ उसमें शुरू से ही स्वतन्त्रता एवं समता को न्यूनाधिक मात्रा में स्थान दिया गया है। ग्रीक देश के राजनैतिक विचारों से लेकर फ्रांस देश की क्रान्ति के समय के राजनैतिक विचारों तक स्वतन्त्रता का अर्थ निरंकुश स्वतन्त्रता नहीं समझा गया। राज्यकर्ताओं अथवा राज्य की सीमा में रहते हुए तथा राज्य के सन्दर्भ में जो स्वतन्त्रता होती है, वही वास्तविक स्वतन्त्रता है। जर्मन राजनैतिक विचारों के अनुसार तो राज्य की आज्ञाओं का पालन करना ही स्वतन्त्रता का मुख्य लक्षण हो गया था। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल बन्धनों का अभाव न होकर व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करने का अधिकार उपर्युक्त विचारसरणी के अनुसार स्वतन्त्रता का लक्षण था। तथापि यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करने का अधिकार दिया जाए तो बड़ी ही विकट समस्या उत्पन्न हो जाएगी। अत सब व्यक्तियों के निर्णय में जो वस्तु समान हो, उसी को समाज की इच्छा मानना चाहिए तथा उस इच्छा का सच्चा प्रतिनिधि राज्य को मानना चाहिए तथा राज्य की इच्छा के अनुसार व्यवहार करना एवं राज्य की आज्ञाओं का पालन करना ही स्वतन्त्रता का लक्षण है, ऐसा उक्त विचारधारा का स्वरूप था। व्यक्ति कोई ऊट-पटांग निर्णय ले सकता है। व्यक्ति की इच्छा असंगत हो सकती है। व्यक्ति के विचार अव्यवस्थित हो सकते हैं। इन सब रोगों का एकमात्र इलाज यही है कि राज्य की इच्छा को श्रेष्ठ समझा जाय और जब इस प्रकार राज्य की इच्छा एक बार निश्चित हो जाती है, तब व्यक्तियों की अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार किए गए निर्णयों की असंगतता एवं अव्यवस्थितता दूर हो जाती है। इसका यह अभिप्राय लिया गया कि व्यक्ति राज्य की इच्छा के अनुसार जैसे-जैसे व्यवहार करेगा तथा राज्य की आज्ञा का पालन करेगा, वैसे-वैसे उसकी स्वतन्त्रता बढ़ती चली जाएगी। राज्य तथा व्यक्ति, समाज तथा व्यक्ति के बीच सम्बन्धों की कल्पना कुछ इस प्रकार की है

कि राज्य अथवा समाज की इच्छानुसार व्यवहार करना ही स्वतन्त्रता का लक्षण है। इसी विचारधारा को स्वीकार करने से अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। मेरे व्यक्तिगत जीवन में जो श्रेष्ठ है, वही राज्य की आज्ञा में निहित है तथा जब मैं राज्य की आज्ञा का पालन करता हूँ तब मैं अपनी ही आज्ञा का पालन किया करता हूँ, ऐसा इस विचारधारा का अर्थ होता है। जैसे-जैसे राज्य के ध्येय और उद्देश्यों का साक्षात्कार मुझे होता जाता है, वैसे-वैसे राज्य के ध्येयों और उद्देश्यों में मुझे अपने ही ध्येय एवं उद्देश्य प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। इस कारण राज्य की इच्छानुसार व्यवहार करना मुझे अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना प्रतीत होने लगता है। राज्य आज्ञा देता है इसका अर्थ यह हुआ कि मैं ही आज्ञा देता हूँ। इस प्रकार की विचारधारा के मूल में राज्य के अन्तर्गत व्यक्तियों की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं का सामुदायिक स्वरूप राज्य की इच्छाओं और आज्ञाओं में समाविष्ट है, यह भाव काम करता है और इसीलिए यह बात प्रमाणित होती है कि राज्य की इच्छा न केवल व्यक्ति की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है वरन् उसी को प्रमुखता प्राप्त है और उसके अनुकूल व्यवहार करने में मेरा व्यक्तिगत कल्याण ही होता हो, ऐसी बात नहीं, वरन् राज्य के हित में ही मेरा अपना भी हित है। और यदि वह हित सिद्ध हुआ तो समझना चाहिए कि मेरा अपना हित सिद्ध हुआ। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' ऐसा समझना चाहिए। यदि एक ही शब्द में कहें तो कहना होगा कि राज्य की आज्ञा के पालन में ही स्वतन्त्रता निहित है। स्वेच्छा से किए गए निर्णयों में स्वतन्त्रता नहीं, अपितु राज्य द्वारा लादे गए निर्णयों में स्वतन्त्रता निहित है, यह इस विचारधारा का निष्कर्ष है।

१६वीं सदी के आरम्भ की यह विचारधारा, जिसका यूरोप पर बड़ा असर रहा है, बहुत देर तक न टिक सकी। इस विचारधारा को स्वीकार कर लें तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्य ही नहीं रह जाएगा। उसकी इच्छाएँ मूल्यहीन हो जाएँगी। उसका निश्चय लँगड़ा पड़ जाएगा। तथा प्रत्येक व्यक्ति के इस स्वभावसिद्ध अनुभव के लिए कि वह भी कुछ है, तथा अन्यों की अपेक्षा अपने में भिन्नता रखता है, कोई अवकाश ही नहीं रह जाएगा। राज्य में व्यक्ति का प्रतिक्षण वास्ता पड़ता है तथा व्यक्ति को यह प्रतीत होता है कि राज्य एक हुक्म देने वाला संगठन है। या तो वह व्यक्ति राज्य की आज्ञा को स्वेच्छा से स्वीकार करे या फिर उसे अपरिहार्य मान कर स्वीकार करे। परन्तु यदि वे आज्ञाएँ उसकी मौलिक धारणा के विरुद्ध हों, तो उसका विरोध करने की तात्त्विक भूमिका अथवा नैतिक अधिकार इस विचारधारा में उसके लिए नहीं रह जाएँगे। व्यक्ति को किसी ऐसे काम के करने में, जो उसे अयोग्य तथा अप्रिय प्रतीत होता हो, स्वतन्त्रता की अनुभूति कैसे हो सकेगी? बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध आने के बाद व्यक्ति को जो कार्य उचित प्रतीत होता है, उसे वह करने न दिया जाए तो भले ही वह कानून के अनुकूल हो तो भी उसे न्याय नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही वहाँ नैतिकता की दृष्टि से अपूर्णता है। व्यक्ति के अपने अनुभवों को अनुचित कह कर उसे अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के अनुसार काम करने को बाध्य करना उसका अपमान करना है तथा इससे व्यक्ति के गुणों का हनन होता है। हर व्यक्ति

तरह से विचारहीन होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वाभाविक विचार शक्ति हर व्यक्ति में रहती है। व्यक्ति का उसके जगज्जीवन में अन्यों के साथ सम्बन्ध आता है तथा उसके मन में पैदा होने वाले विचारों का जन्म उन्हीं सम्बन्धों से होता है। वे विचार सर्वसाधारण समाज के विचारों से मिलते-जुलते हैं। तथापि उनमें प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता भी होती है। आम एक ही है। पर उसे कोई चूस कर खायेगा, कोई चाकू से टुकड़ा करके खायेगा, तथा कोई उसका रस निकालकर खायेगा। इसमें प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता रहती है। बाह्य जगत् के साथ आने वाले सम्बन्धों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को अपने विचार रूपी इमामदस्ते में कूट कर हर व्यक्ति एक प्रकार का रसायन निर्माण करता है। व्यक्तिगत रूप से किए गए विचारों को, व्यक्तिगत रूप से निश्चित की गई बातों को व्यक्ति समाज के सामान्य व्यवहार में अवतरित करता है। जब वह ऐसा करने में समर्थ होगा, तभी कहा जा सकेगा कि उस व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त है।

जहाँ तक हो सके व्यक्ति को समाज एवं राज्य के दृष्टिकोण के साथ अपने विचारों का अधिकाधिक सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिए, इसी में अधिक स्वतन्त्रता है, इस विचारधारा में यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर के श्रेष्ठ तत्वों को ध्यान में रखकर ही राज्य के आदेशों की सृष्टि होती है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि व्यक्ति केवल श्रेष्ठ तत्वों का ही संचय है। प्रत्येक व्यक्ति गुण-दोषमय होता है तथा व्यक्ति की दृष्टि एकरूप न होकर उभयरूप रहती है। अर्थात् उसके विचारों की सृष्टि भले तथा बुरे दोनों प्रकार के अनुभवों से होती है। व्यक्ति का अस्तित्व उन सब वस्तुओं एवं संकल्पों का संकलन है, जो संसार में विद्यमान हैं। अतः व्यक्ति के जीवन के किसी एक अंश को पृथक् करके उस पर विचार करना उचित नहीं। व्यक्ति अपने जीवन में जो भी प्रयास करता है, उनका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है तथा उसमें प्राप्त अनुभव उस व्यक्ति को अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। व्यक्ति के सारे प्रयास इस उद्देश्य से होते हैं कि उसे अपने जीवन में सार्थकता प्रतीत हो। अत राजकीय आदेशों अथवा सामाजिक दृष्टिकोण में प्रत्येक व्यक्ति का पूरा-पूरा दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और इसी कारण उस अंश तक यह कहना पड़ेगा कि जिन बातों का अनुभव व्यक्ति को नहीं प्राप्त हुआ उनके मामले में उसे अन्यों के अनुभवों पर निर्भर रहना होगा। इसका स्वाभाविक फल यह होगा कि 'व्यक्ति स्वतन्त्र है' ऐसा कहना अनुचित हो जाएगा। यह पूर्णतया सत्य नहीं कि समाज के दृष्टिकोण अथवा राज्य के आदेशों में उन्हीं बातों का समावेश होता है जो प्रत्येक व्यक्ति में समान हैं। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' ऐसी वास्तविक परिस्थिति है। ऐसी अवस्था में, जो अनुभव एक व्यक्ति को प्राप्त होता है, वही दूसरे को भी प्राप्त होता है, यह सिद्धान्त सर्वांश में सच नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि भिन्न-भिन्न मनोरचना वाले लोग राजनैतिक क्षेत्र में तथा सामाजिक क्षेत्र में निवास करते हैं। काल की दृष्टि से भी मनोरचना में भिन्नता होती है। आज जो अनुभव होता है वही सदैव अनुभव होता रहेगा, ऐसी बात नहीं है। इतना ही नहीं, जो वस्तु आज जैसी प्रतीत होती है, वह सदा वैसी ही प्रतीत होती रहे, ऐसी भी बात नहीं।

इस प्रकार प्रतिक्षण बदलने वाली मनोरचना की पृष्ठभूमि में मनुष्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं अपरिवर्तनीय मत नहीं बना सकता। आज हर कोई चाहता है कि संसार में शांति रहे तथा भारत की समृद्धि में वृद्धि हो। परन्तु संसार की शान्ति के सम्बन्ध में हर व्यक्ति की धारणाएँ भिन्न हैं एवं भारत की समृद्धि के सम्बन्ध में भी हर व्यक्ति की कल्पना भिन्न-भिन्न है। किसी के मत में उत्पादन की अधिकता ही राष्ट्र की समृद्धि का लक्षण है तो किसी के मत में उत्पन्न वस्तुओं के विभाजन की अधिक समता ही समृद्धि का लक्षण है। समृद्धि एवं शान्ति के सम्बन्ध में कुछ अंश में बहुत-सी बातें समान हैं; तथापि प्रत्येक के अनुभव एवं इच्छाओं में भेद तो रहेगा ही। इन सब अनुभवों एवं इच्छाओं को स्थूल रूप से एकत्र करके उनमें समन्वय की स्थापना का प्रयत्न किया जाय, तो उससे भी हर व्यक्ति का मानसिक सन्तोष हो जायगा ऐसा कहना कठिन है। राजनैतिक क्षेत्र का तो अनुभव यह है कि स्थूल रूप से एक ही दृष्टिकोण वाले लोग जब एक जगह पर जमा होते हैं, तब उनकी भिन्नता और पृथकता और अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है। यहाँ तक कि एक वस्तु को यदि एक व्यक्ति रचनात्मक समझता है तो दूसरा व्यक्ति उसी को विनाशात्मक समझ बैठता है। एक वस्तु यदि एक व्यक्ति को सफलता प्रतीत होती है, तो वही वस्तु दूसरे को असफलता प्रतीत होने लग जाती है। इन बातों को देखते हुए यह कहना कठिन है कि किसी भी एक वस्तु के सम्बन्ध में सम्पूर्ण समाज की एक ही धारणा है। तथापि कुछ धुँधले रूप में यह बात कही जा सकती है कि सारे समाज की इच्छा का स्वरूप क्या है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की धारणा अपने आप में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न ही रहती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की इच्छा को जान नहीं सकता। यदि सबकी इच्छाओं को एक जगह इकट्ठा करके उसकी एक ढेरी बना दी जाए, तो उसमें से प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। अतः राजनैतिक तत्त्वज्ञान का आधार यह मानना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट इच्छा को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्वरूप निश्चित किया जाना चाहिए।

जब हम यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा एवं दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होता है, तो 'सारे समाज की इच्छा' यह वाक्य-प्रयोग एक सीमित अर्थ में ही उचित माना जाना चाहिए। साथ ही राज्य जो कुछ करता है वह, तथा उसकी आज्ञाएँ समाज की ही इच्छा का प्रतिफल है, यह भी एक सीमित अर्थ में ही सही मानना चाहिए। समाज के जीवन में सब कुछ तर्क की दृष्टि से उचित होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथा समाज में जो कुछ घटित है, वह पूर्ण विचारपूर्वक ही घटित होता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जिसे हम 'समाज का मत' कहते हैं, वह वस्तुतः कोई ठोस सचाई नहीं होती। समाज के व्यक्तियों की इच्छाओं में मौजूद एक स्थूल रूप की समानता को वह नाम दे दिया जाता है। अनेक व्यक्तियों से मिलकर बना समाज, अनेक व्यक्तियों के विचारों से उत्पन्न होने वाला सामाजिक व्यवहार भी किन्हीं पूर्वनिश्चित योजनाओं तथा प्रणालियों के अनुसार ही होता हो, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। सामाजिक व्यवहार में कुछ नियमबद्धता दिखाई देती [illegible] यह सही है.

इस नियमबद्धता के जन्मदाता नियम भी किसी के द्वारा बनाये गये होते हैं, यह भी उतना ही सही है। निःसन्देह इन नियमों के निर्माण में बहुतों का हाथ रहता है। समाज के शासकीय प्रतिनिधि राज्य का भी उसमें बहुत बड़ा हाथ होता है। राज्य का अर्थ है अनेक नियम तथा कानून, जो अपने क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों का नियमन एवं नियन्त्रण किया करते हैं। अपने क्षेत्र में राज्य का पूरा प्रभुत्व रहता है तथा वह अपनी सत्ता के बल पर समाज में होने वाले नाना प्रकार के वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवहारों का नियंत्रण करता है। आवश्यकता पड़ने पर राज्य बलप्रयोग द्वारा अपनी आज्ञाओं एवं नियमों का पालन करवाता है तथा उसका दावा होता है कि यह बलप्रयोग समाज के हित की दृष्टि से किया जाता है। ये सामाजिक हित क्षणिक होते हुए भी समाज के तथा राज्य के स्थायी हितों का ही एक भाग होते हैं। तथा इसी कारण राज्य मानता है कि उसका यह बलप्रयोग उचित है। समाज में रहने वाले कुछ व्यक्ति राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग को प्रजा के हित में नहीं मानते। तथा कुछ व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि राज्य के हाथों जो कुछ भी होगा, वह प्रजा के हित के लिए ही होगा तथा राज्य कभी गलती कर ही नहीं सकता। इस दूसरी विचारधारा को मान लिया जाय तो समाज में सच्ची स्वतन्त्रता नामक वस्तु कभी पनप ही नहीं पायेगी। तथा आज जीवन को विफल वस्तु मानने की जो विचारधारा लोगों में घर कर गई है, वह इसी का फल है। यह सही है कि राज्य सब का है। पर यह तभी हो सकता है, जब सब लोग स्वीकार करें कि राज्य उन सब का है तथा सब राज्य के प्रति निष्ठावान् रहें, सब में एकता की भावना हो एवं सब लोग राज्य की आज्ञाओं को शिरसावन्द्य मानें। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि राज्य की आज्ञाओं का पालन यदि विचार-हीनता एवं अज्ञानपूर्वक किया जाये तो वह एक निःसार वस्तु हो जाती है। राज्य द्वारा दी गई आज्ञा के भीतर जो तत्व छिपा है, उसको ठीक-ठीक समझ कर उसका पालन करना ही सच्चा आज्ञापालन है। योगवासिष्ठ में लिखा है कि—'स्वभावात् न तु भयात् य: पश्यति स पश्यति।' दण्ड के डर से किया जाने वाला आज्ञापालन निकृष्ट कोटि का आज्ञापालन होता है तथा उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत जो आज्ञापालन समझ-बूझ के साथ किया जाता है, वही सच्चा और टिकाऊ होता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि राज्यविषयक निष्ठा के लिए कुछ शर्तें हैं। वह निरपेक्ष नहीं है। सब कहीं लोगों की निष्ठा को प्रामाणिक मानकर काम करना राज्य के लिए विपत्ति का मूल हो सकता है। १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह विचार-धारा सर्वसम्मत हो चली थी। राज्य सबका है तथा सबके हित के लिए है, वह सबको उचित न्याय प्रदान करता है, यह मानना इस दृष्टि से उचित है। यदि व्यक्तिमात्र को अपने व्यावहारिक जीवन में इस सचाई का अनुभव हो तो फिर राज्य के बारे में शिकायत की कोई बात ही नहीं रह जाती। पर लोगों का अनुभव ऐसा नहीं है। उनका अनुभव बतलाता है कि राज्य तो सब लोगों का है, पर शक्ति किसी विशेष वर्ग के हाथ में है, और उसका लाभ कुछ ही इने-गिने लोगों को होता है। 'खलक़खुदा का, मुल्क बादशाह का तथा शासन कम्पनी सरकार का।' यही सचाई हमें सब कहीं दिखाई देती है। अतः काल्पनिक न्यायप्रिय एवं निर्दोष राज्य का विवेचन करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष

अनुभव में आने वाले राज्य का ही विवेचन हमें करना चाहिए। राज्य करने वाले सत्ताधीश सर्वसाधारण नागरिकों जैसे ही होते हैं। वे सब मनुष्य ही होते हैं। अतः उन सब प्रलोभनों का वे शिकार बनते हैं, जो सामान्य लोगों को अपने चंगुल में ले लेते हैं। इसी कारण उन सत्ताधीशों के सारे आदेशों को कसौटी पर ठीक तरह से कस कर देखना चाहिए तथा उनके प्रकट एवं गुप्त उद्देश्यों की परख की जानी चाहिए। समाज के अनुभवों से उनका मिलान करने के बाद ही उन्हें मंजूरी दी जानी चाहिए। सत्ताधीशों के अनुभव का क्षेत्र सीमित होता है। तथा बहुत बार तो उनके आस-पास मँडराने वाले स्तुतिपाठकों के सम्बन्धों से ही उसकी सृष्टि होती है। अतएव सत्ताधीशों के आचरण को निर्दोष एवं सर्वथा योग्य मानने से व्यक्ति एवं समाज की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है। जिस वस्तु में अपने मन का विश्वास न हो, उसे केवल राज्य के कहने पर मान लेना अपने व्यक्तित्व, अस्मिता तथा स्वाभिमान को तिलांजलि देना है। आज संसार में हमें जो स्वतन्त्रता दीखती है, उसका कारण राज्य की आज्ञाओं को बगैर किसी ननुनच के स्वीकार करना नहीं; वरन् विद्यमान राज्यसत्ता के विरुद्ध अपनी आवाज को बुलंद करना है तथा अपनी सदसद्विवेक बुद्धि को राज्य के कानून से अधिक पवित्र एवं अधिक शक्तिशाली मानना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उसकी महत्ता तथा शक्ति उसके पृथकत्व में तथा उसकी वैयक्तिक विशेषता में निवास करती है। उसके अनुभव की भाँति ही उसकी इच्छा एवं सम्मति भी वैयक्तिक ही होती है। इस कारण यदि वह इन वस्तुओं में दूसरों का गुलाम हो जाय तो उसे स्वतन्त्र कहना निरर्थक हो जायेगा। शारीरिक गुलामी की अपेक्षा मानसिक गुलामी अधिक भयानक होती है। अतः वास्तविक स्वतंत्रता का आधार मानसिक स्वतन्त्रता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

मनुष्य का राज्य के अन्दर रहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि राज्य के साथ उसकी तदात्मता स्थापित हो गई है। उस अवस्था में तो वैयक्तिक तथा सामाजिक किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता पर विचार विमर्श करना व्यर्थ हो जायेगा। राज्य एवं व्यक्ति में यदि एकदम 'अद्वैत' हो जाय तो स्वतन्त्रता के मूल में विद्यमान 'द्वैत' ही विलुप्त हो जायेगा तथा स्वतन्त्रता की कल्पना ही समाप्त हो जायेगी। स्वतन्त्रता का अर्थ ही यह है कि किसी अन्य व्यक्ति, बन्धन तथा सीमा से छुटकारा। जहाँ कोई सीमा नहीं, कोई बन्धन नहीं, कोई आज्ञा देने वाला तथा कोई आज्ञाओं का पालन करने वाला नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता शब्द ही अप्रासङ्गिक हो जाता है। अतः जब भी कभी हम स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग करते हैं, तब वहाँ इस द्वैत की उपस्थिति को मानना ही पड़ता है। समाज के भीतर व्यक्ति की मौजूदगी को देखकर, समाज एवं व्यक्ति के बीच के सम्बन्धों को देखकर हम विचार करते हैं कि व्यक्ति कितनी मात्रा में स्वतंत्र तथा कितनी मात्रा में बन्धन युक्त है। इसी प्रकार एक नागरिक के नाते व्यक्ति के समाज में रहने के कारण हम राज्य के बन्धनों तथा सीमाओं पर विचार किया करते हैं। व्यक्ति समाज में रहता है तथा उसका जीवन अनेक वर्गों तथा जातियों से सम्बन्धित रहता है। इन सभी सम्बन्धों तथा व्यवहारों से युक्त अवस्था में उसे अपने जीवन को सुखी

तथा मर्यादापरिपूर्ण बनाना होता है। अपने परिवार वालों से, मित्रों से, अनेक सोसायटियों के सभासदों से तथा व्यापारी संस्थाओं से उसका सम्बन्ध आता है। तथापि कुछ सम्बन्ध ऐसे होते हैं, जिनकी सृष्टि उसने स्वयं की होती है तथा कुछ सम्बन्ध ऐसे होते हैं, जो उसके जन्मने के साथ ही जन्म लेते हैं तथा मृत्यु तक बने रहते हैं। माता-पिता, बहन, भाई आदि सम्बन्ध उसके जन्मने के साथ ही जुड़ जाते हैं। पत्नी तथा अन्य अनेक व्यावहारिक सम्बन्ध उसके अपने बनाये हुए होते हैं, जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार तोड़ भी सकता है। पत्नी को तलाक दे सकता है; नौकरी छोड़ सकता है; परन्तु वह माता-पिता को बदल नहीं सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह अपने बनाये सम्बन्धों को तो तोड़ सकता है, किन्तु जिन सम्बन्धों ने उसे बनाया है, उसे वह नहीं तोड़ सकता। धर्म वह बदल सकता है, किन्तु जिस राज्य में वह पैदा हुआ है, उसकी नागरिकता को वह आसानी से नहीं बदल सकता। जन्म द्वारा प्राप्त अथवा जन्म के समय विद्यमान नागरिक के कानून द्वारा प्राप्त नागरिकता का वह परित्याग नहीं कर सकता। उस राज्य को छोड़कर बाहर चले जाने पर भी उसकी नागरिकता छाया की भाँति उसके साथ साथ फिरती रहती है। अतः राज्य का नागरिक होने तथा उस नागरिकता का परित्याग करने में सर्वथा असमर्थ होने के कारण राज्य के आदेशों व आज्ञाओं का बंधन उस पर जन्म ही से रहता है। नागरिकताहीन (Stateless) व्यक्ति किसी भी अधिकार-व्यवस्था पर अपना अधिकार नहीं जता सकता। निष्प्राण शरीर की-सी उसकी अवस्था हो जाती है। गत महायुद्ध के बाद विकृत राजनीति के कारण ऐसे व्यक्ति अनेक जगह पाये जाते हैं। हमें यहाँ उन व्यक्तियों का विचार करना है, जिन्हें नागरिकता प्राप्त है। राज्य नागरिकों को आज्ञा देता है, इसका अर्थ यह है कि वह आज्ञा या तो कोई व्यक्ति देता है या कोई समूह देता है तथा उन आज्ञाओं का पालन करना अनिवार्य होता है। अतः व्यक्ति को कितनी मात्रा में स्वतन्त्रता हो तथा उस स्वतंत्रता का स्वरूप क्या हो, इस बात पर विचार करना सार्थक सिद्ध होता है। श्रुति तथा स्मृतियों की आज्ञा का पालन न करने से कोई किसी को जेल में नहीं डालता। पुरुष को एक ही स्त्री से विवाह करने का विधान धर्म ने भले ही किया हो तथापि उसका पालन करना अनिवार्य वस्तु नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में राज्य कानून बना दे तो फिर वही अनिवार्य वस्तु हो जाती है तथा जो व्यक्ति उसका पालन नहीं करेगा, उससे राज्य अपनी शक्ति से पालन करायेगा। यदि कोई व्यक्ति किसी संस्था का सभासद हो तो उसका यह नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस संस्था की आज्ञाओं का पालन करे। परन्तु उन आज्ञाओं का पालन न करने वाले व्यक्ति का अधिक से अधिक यदि कुछ बिगड़ेगा तो यही कि उसे सभासदत्व से हाथ धोना पड़ जायेगा; इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु यदि कोई राज्य की आज्ञाओं का पालन न करे तो उसे दंडित होना पड़ेगा। जिस प्रकार कोई व्यक्ति संस्था से त्यागपत्र देकर अलग हो सकता है, उस प्रकार वह राज्य की नागरिकता से त्यागपत्र नहीं दे सकता। उस अवस्था में उसके सामने दो ही विकल्प रहते हैं, या तो राज्य की आज्ञाओं का पालन करे, या फिर कैद की सजा भुगते। यदि राज्य की आज्ञाओं का पालन अनिवार्य हो, तो फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उसकी स्वतंत्रता कहाँ रही? राज्यव्यवस्था की नींव है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा राज्य के कानून का पालन। यह

उसका मूल आधारतत्व है। परन्तु यदि कानून व्यक्ति के सुखों का हनन करने वाला हो तो व्यक्ति क्या करे? तब उसके लिए एक ही मार्ग है, उसे जो प्रिय है, वह सही हो या गलत, उसके अनुसार आचरण करे तथा राज्य जो सजा दे उसे चुपचाप सहन करले। इस स्थिति में उसे यह प्रतीत होगा कि राज्य की आज्ञाओं को न मानने में ही उसकी मानसिक स्वतंत्रता निहित है। राज्य की आज्ञाओं के पालन में स्वतंत्रता की अनुभूति तभी होती है, जब उसे यह अनुभव हो कि कानून के पालन से उसके अपने वैयक्तिक विकास पर अथवा अपनी नैतिक भावना पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती। इस प्रकार की अनुभूति जिस परिस्थिति में उत्पन्न होती है, उस परिस्थिति की विद्यमानता ही स्वतंत्रता है, ऐसा कहना होगा। अतएव नागरिक जब स्वतन्त्रता की उम्मीद करता है, तब उपरिनिर्दिष्ट परिस्थिति का समाज में रहना अनिवार्य हो जाता है। सुखप्राप्ति एवं अपनी ध्येयपूर्ति के लिये नागरिक जीवन के मार्ग पर चलते समय राज्य के आदेशों के कारण उसके मार्ग में बाधाएँ नहीं आनी चाहियें, किसी किस्म का खतरा नहीं पैदा होना चाहिये। तभी हम कह सकते हैं कि वहाँ स्वतन्त्रता मौजूद है। यह परिस्थिति स्थायी नहीं होती। तथा उसमें सोलहों आने स्वतंत्रता की गारंटी भी नहीं होती। यह परिस्थिति सर्वव्यापी भी नहीं होती। राज्य आपको भाषण-स्वतंत्रता का आश्वासन दे सकता है, पर वह आपके लिये श्रोताओं को नहीं जुटा सकता। एक जगह इकट्ठा होने की स्वतंत्रता वह आपको दे सकता है, पर लोगों को इकट्ठा करने का इन्तजाम वह नहीं कर सकता। एक निश्चित उम्र होने पर स्त्री-पुरुषों के विवाह के मार्ग में कानूनन कोई रुकावट वह नहीं डालेगा। वह इस बात की छूट दे सकता है कि कोई भी स्त्री या पुरुष किसी भी पुरुष या स्त्री से विवाह करे। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह आपको ऐसी स्त्री या पुरुष पत्नी या पति के रूप में प्राप्त करा दे, जिस पर आपको बहुत अधिक स्नेह है। धार्मिक कारणों अथवा अन्य किन्हीं कारणों से उत्पन्न सब बाधाओं को राज्य दूर कर सकेगा, पर सामाजिक मामलों में वह किसी पर दबाव नहीं डाल सकता। नौकर किसे रखना है, यह राज्य नहीं बतायेगा; पर नौकर रखने के बाद वह छुट्टियों, वेतन, बीमा आदि के मामलों में दबाव अवश्य डालेगा।

स्वतंत्रता की कल्पना स्थूल होने पर भी अनेक विवरणों से उसका स्वरूप स्पष्ट होता है। मनुष्य का जीवन विविध प्रकार का होता है एवं उसके आचरण का क्षेत्र भी विविध प्रकार का होता है। यदि हम मानें कि व्यक्ति को उन क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्राप्त है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने की पूरी छूट हासिल है। यदि वह छूट न रहे तो कहना होगा कि व्यक्ति को स्वतंत्रता हासिल नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ यही है कि किसी को अपनी इच्छानुसार काम करने से रोका न जाय। परन्तु हर कहीं व्यक्ति को अपनी मर्जी के अनुसार काम करने की पूरी छूट दे देना अन्य व्यक्तियों की एवं समाज की स्वतंत्रता की दृष्टि से ठीक नहीं है। अतः किस क्षेत्र में कितनी छूट दी जाय, इसका विचार करते समय व्यक्ति के अधिकारों एवं उसके समाज तथा राज्य से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का विचार करना

भी परम आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति को स्वतत्रता चाहिए तथा राज्य को सुव्यवस्था चाहिये। व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों का ब्यौरेवार विवेचन करना आसान काम नही है। राज्य के किस नियम से व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण होता है, यह व्यक्ति ही बता सकता है। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति कब राज्य के नियमो की उपेक्षा कर बैठेगा, यह कोई नही बता सकता। राज्य की आज्ञाओ का पालन करना ही स्वतंत्रता है, यह व्याख्या ठीक नहीं है। अठारहवी सदी की इस विचारधारा को आज की दुनिया मे कोई मंजूर नही करेगा। अत. व्यक्ति के जीवन मे कानून भग करने के प्रसंगों का आना कोई अनहोनी बात नही है। यदि हम मानें कि किन्ही खास मौकों पर व्यक्ति को कानून भंग करने का नैतिक अधिकार प्राप्त है, तो हमें बताना होगा कि वे खास मौके कौनसे हैं। सामान्यतया, व्यक्ति को समाज में रहते हुए अपने गुणो का विकास करने की सब प्रकार की अनुकूलता प्राप्त हो, तो कहा जा सकता है कि नागरिको को पूरी स्वतन्त्रता है। इस प्रकार का वातावरण निर्माण करना समाज का काम है, राज्य का नही। यदि हम चाहते है कि व्यक्ति को अपने जीवन मे विफलता की प्रतीति न हो, घुटन की प्रतीति न हो, तो हमे सामाजिक एव राजकीय जीवन मे किन्ही ऐसे मूल्यों को स्वीकार करना होगा, जो नित्य तथा शाश्वत स्वरूप के हों तथा हमे उन मूल्यो को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिए सविधान मे किन्ही मौलिक अधिकारो का स्पष्ट उल्लेख करना होगा तथा सामाजिक प्रचलनों एव परम्पराओ को इतना शक्तिशाली बनाना होगा कि राज्यकर्त्ताओ को उनके विरुद्ध आचरण करने का साहस ही न हो। सविधान मे तो नागरिकों को पूर्ण स्वतत्रता प्रदान की गई हो, पर नागरिकों के अनुभव मे उसका लेश भी न हो, तो उसे कौन स्वतन्त्रता कहेगा? सस्थाओं का उद्देश्य कितना भी ऊँचा क्यो न हो, जब तक वे लोगो के अनुभव के विषय नही बन पाते, तब तक उनका होना न होना बराबर है। समाज का वातावरण इस बात का विश्वास दिलाने वाला होना चाहिए कि जब तक हम सही रास्ते पर चल रहे हैं, तब तक राज्य की व्यवस्था अथवा कानून हमारी राह में रोड़े नही अटकायेगा। इसके अभाव में स्वतन्त्रता एक औपचारिक वस्तु बनकर रह जायेगी, वास्तविक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नही रहेगा। हमें इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ हमें उचित प्रतीत होता है, वह हम कर सकते हैं तथा जब तक हमारा आचरण उचित सीमाओं का अतिक्रमण नही करता, तब तक हमे कोई अपने मार्ग से विचलित नही कर सकता। यदि हम कोई नया काम करना चाहें तो उसे करने का अवसर हमे मिलना चाहिए। यदि हम अन्यो से सर्वथा भिन्न जीवन व्यतीत करें, भिन्न विचार रखें, तो वैसा करने की हिम्मत हम मे होनी चाहिए तथा हमे इस बात का विश्वास होना चाहिये कि वैसा करते समय समाज हमें किसी प्रकार का कष्ट नही पहुँचायेगा। तभी स्वतन्त्रता का कुछ अर्थ होगा। हम कौनसा व्यवसाय करें, अपने जीवन की रूपरेखा क्या बनायें इत्यादि बातो को निश्चित करने की स्वतन्त्रता हमे होनी चाहिये तथा इन्हे निश्चित करते समय अथवा निश्चय के अनुसार आचरण करते समय समाज द्वारा किसी प्रकार की रुकावट नही होनी चाहिए। इसके साथ हमें इस बात का भी खयाल रखना होगा कि जो स्वतन्त्रता हम चाहते हैं तथा जो हमारे जीवन के लिये आवश्यक प्रतीत होती

है, वह अनियन्त्रित नहीं है तथा वह स्वतंत्रता राज्य के कानूनों के अनुकूल होनी चाहिये। राज्य के कानूनों द्वारा उक्त स्वतंत्रता के लिये पूरा-पूरा आश्वासन दिया जाना चाहिए। व्यक्ति के सामाजिक जीवन में एक ऐसा भी स्थान होता है, जहाँ राज्य या कानून प्रवेश नहीं कर सकता। वहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता अनियन्त्रित रहती है; किन्तु समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मूल्यों का नियंत्रण वहाँ भी बना रहता है।

जैसा कि अभी हमने कहा स्वतंत्रता मे राज्य के कानूनों तथा समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मूल्यों दोनो का अन्तर्भाव होता है। स्वतंत्रता सत्ताधारी व्यक्तियों के अत्याचारों से व्यक्ति की रक्षा करने का एक साधन है। अब तक का अनुभव हमें बताता है कि जिसके हाथ में शक्ति रहती है, वह उसका दुरुपयोग किये बिना नहीं रहता। केवल निरंकुश राजतंत्र में ही ऐसा होता हो, सो बात नहीं है। प्रजातंत्र में भी बहुसंख्यक पक्ष अल्पसंख्यक पक्ष पर अत्याचार कर सकता है। अधिकार की प्राप्ति से एक प्रकार का मद आ जाता है तथा उन अधिकारों का दुरुपयोग होने लगता है। अधिकार चाहे किसी व्यक्ति के हाथ मे हों या किसी दल के हाथ में, सभी कहीं उनका दुरुपयोग हो सकता है। अतः उन अधिकारों पर नियंत्रण रखने के लिये तथा उनके उपयोग को उचित रूप में होने देने के लिये राज्य में रहने वाले व्यक्तियों को स्वतंत्रता का होना जरूरी हो जाता है। केवल प्रजातंत्र की स्थापना से ही सब की स्वतंत्रता अबाधित हो जाती हो, ऐसी बात नहीं। प्रजातंत्र में भी हमे ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिनमे अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों के द्वारा अत्याचार किये जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका में वंश शुद्धि के नाम पर किया जाने वाला अन्याय भी इसी का उदाहरण है। राज्य मे रहने वाले राजकीय अल्पसंख्यकों पर भी अन्याय होता रहता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि केवल व्यक्ति को स्वतंत्रता देने से ही काम नहीं चलता। व्यक्ति की भाँति राज्य मे रहने वाले वंश, धर्म, व्यवसाय आदि के कारण निर्मित समुदायों को भी अपनी उन्नति करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। यही नहीं, आज बहुत से ऐसे भी देश हैं, जिन पर अन्य देशों का शासन है और वे परतन्त्रता मे हैं। वह परतन्त्रता चाहे उपनिवेशों के रूप में हो या संरक्षण व्यवस्था के रूप मे हो परन्तु चूँकि वे अन्य देशों के अधीन हैं; अतः वे परतन्त्र हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। अतः स्वतंत्रता पर विचार करते समय केवल इतना ही नहीं देखना चाहिये कि वह कानून के मुताबिक है या नहीं, बल्कि यह भी देखना चाहिये कि शासन करने वाले कौन हैं तथा उनके राज्य का स्वरूप क्या है।

यह माना कि प्रजातन्त्र में बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय होता है, तथापि हमें मानना पड़ेगा कि अन्य सभी शासन-प्रणालियों के मुकाबले प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली मे व्यक्ति को तथा अल्पसंख्यक समुदायों को सबसे अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है। जहाँ प्रजातन्त्र नहीं है, वहाँ स्वतंत्रता कुछ-एक लोगो के या वर्गविशेष के हाथ मे ही रहती है। इतिहास के अनुभवों के आधार पर हमे मानना पड़ेगा कि व्यक्ति तथा अल्पसंख्यक समुदायों के हितों की रक्षा के लिए प्रजातन्त्र अभीष्ट ही नहीं; प्रत्युत आवश्यक भी है। तो भी भारत में मानते हैं कि प्रजातन्त्र मिथ्या वस्तु है तथा चुनाव एक अवाञ्छनीय

लोग यह कहते हैं कि प्रजातन्त्र अभीष्ट तो है, किन्तु उसकी कुछ एक पद्धतियाँ जो आज प्रचलित हैं, ठीक नहीं हैं। उनमें मनुष्य के सद्गुणों का विकास नहीं होता; बल्कि वे स्वार्थी हो जाते हैं। अन्य कुछ लोग मानते हैं कि प्रजातन्त्र की प्रणाली द्वारा उचित सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं हो पाती। प्रजातन्त्र द्वारा किन्हीं इने-गिने लोगों के हाथ में ढेर सारी सम्पत्ति चली जाती है तथा शेष जनसमुदाय गरीब ही बना रहता है। अतः जनसाधारण के हित की दृष्टि से प्रजातन्त्र अनुपयुक्त सिद्ध होता है। आजकल तो भारतीय विद्वानों में प्रजातन्त्र का उपहास करने का एक फैशन ही चल पड़ा है। प्रजातन्त्र न हो तो उसके स्थान पर कोई अन्य तन्त्र जैसे अधिनायक तंत्र या नौकरशाही जैसी कोई वस्तु आ जाएगी। इस बात की ओर लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। प्रजातन्त्र न रहे तो व्यक्ति की महत्ता खत्म हो जाएगी। शासक लोग व्यक्ति के अनुभवों का खयाल नहीं रखेंगे। आर्थिक दृष्टि से भले ही थोड़ा-बहुत संतोष प्राप्त हो, पर मानसिक प्रसन्नता नहीं प्राप्त हो सकेगी। प्रजातन्त्र में ठीक इसके विपरीत होता है। प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा द्वारा दी गई सत्ता से युक्त सरकार तथा प्रजा के हित के लिये किया जाने वाला राजकाज। कहा जा सकता है कि इसमें कुछ न कुछ वास्तविकता अवश्य होती है। लोग मतदान द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनते हैं तथा उस दल की सरकार बनती है, जिसका बहुमत होता है। यह प्रजातांत्रिक सरकार होती है। इस पद्धति से स्थापित सरकार द्वारा जो कानून बनते तथा आदेश दिये जाते हैं, वे सबके लिए समान होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रजातन्त्र की स्थापना के कारण अथवा कानून के सबके लिए समान होने के कारण नागरिक बहुत सुखी रहते हैं। व्यक्ति तभी अपने को सुखी अनुभव करता है, जब वह देखता है, उसकी पूछताछ करने वाला कोई मौजूद है, उसकी सम्मति अथवा कथन का सम्मान किया जाता है, होनेवाले राजकीय कार्य-कलापों में उसका भी कहीं कोई स्थान है तथा योग्यता के होने पर उसे किसी भी अधिकार पद पर काम करने से वंचित नहीं किया जायेगा। प्रजातन्त्र में सार्वजनिक मतदान का अधिकार होने के कारण व्यक्तियों को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है। निर्वाचन के दिनों प्रत्येक नागरिक को एक प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है; उसकी कीमत बढ़ जाती है। मनुष्य को विवाह के समय प्रतिष्ठा होती है— "लक्ष्मीनारायणस्वरूपिणे वराय" कहकर उसे सम्मानित किया जाता है। लगभग ऐसी ही प्रतिष्ठा का अवसर मतदाता नागरिक को चुनाव के दिनों में प्राप्त हुआ करता है। पाँच वर्ष तक उसे कोई पूछेगा नहीं। पर ज्यों ही चुनाव के दिन आये कि देखिये, वे लोग जिन्होंने उसकी ओर फूटी आँख से भी नहीं देखा होगा, उसके दरवाजे पर चले आते हैं। उम्मीदवार तथा दल के प्रचारकर्त्ता लोग उसके पास आने लगते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय नागरिक का महत्त्व बढ़ जाता है तथा उसे अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक इच्छाओं को व्यक्त करने का अवसर मिल जाता है। तब वह अनुभव करता है कि वह राज्य का स्वामी है। मतदान का अधिकार न रहे तो यह सब नहीं हो पाता। अतः कहना होगा कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये, उसके विकास के लिए तथा उसके सुख के लिये उसके हाथ में मतदान के अधिकार का होना नितान्त आवश्यक है। जिन दिनों भारत में सामान्य जनता को मतदान का

अधिकार नहीं था, उन दिनों उसे कोई भी नहीं पूछता था। राजनैतिक नाटक मंडलियाँ शहरों की सीमा के बाहर अपना नाटक दिखाती ही नहीं थी। जब से इन राजनैतिक चुनावों का श्रीगणेश हुआ है, तब से राजनैतिक कार्यकर्त्ता तथा उम्मीदवार लोग गाँवों में भी जाने लगे हैं। कोई स्कूल खोलने की बात कहता है, कोई सड़कें बनवाने की बात कहता है, तथा कोई लगान वसूली से छूट दिलाने की बात कहता है। इसी किस्म की बातें शहरों में भी कही जाने लगी हैं। अन्त्यज लोगों के मुहल्लों में जाकर बड़े बड़े तिलकधारी ब्राह्मण, अथवा बड़े-बड़े क्षत्रियों के घराने में जन्म लेने वाले व्यक्ति भी झाड़ू लगाने लग गये हैं तथा हरिजनों की बस्तियों की सफाई करने लग गये हैं। बर्किल का कहना है, चुनाव के दिनों में समाज में जितनी समता स्थापित होती है, उतनी अन्य किसी भी परिस्थिति में नहीं होती। प्रजातन्त्र में हजार खराबियाँ हो सकती हैं; पर मतदान का अधिकार उन सब खराबियों को दूर करने का सबसे बड़ा रामबाण उपाय है। उसके कारण बड़े-बड़े लोभी सत्ताधारियों को भी सही रास्ते पर लाया जा सकता है। सरकार का सामान्य जनता के कष्टों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए यह सबसे बड़ा साधन है। मत देने के मानी हैं, राज्य कौन करे, इस बात का निश्चय करना। यह कुछ मानों में स्वयंवर जैसी वस्तु है। इस से व्यक्ति को उस व्यक्ति अथवा दल को चुनने का अवसर प्राप्त होता है, जो उसे सुखी कर सके तथा उसकी अपनी दृष्टि में ठीक से राजकाज चला सके। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ बदलती रहती हैं। अतः किसी एक दल को सदा के लिए सत्तारूढ़ बनाना ठीक नहीं होता। इसी कारण प्रजातन्त्र में किसी दल अथवा व्यक्ति के सत्तारूढ़ बने रहने की एक अवधि निश्चित रहती है। प्रजातन्त्र का सबसे महत्व का हिस्सा यह है कि लोगों के अनुभव तथा इच्छाओं के अनुरूप राज्य का काम-काज चलाना हो तो कभी भी किसी व्यक्ति अथवा दल को सदा के लिए निरंकुश सत्ता नहीं दी जानी चाहिए। यदि किसी दल को सदा के लिये सत्ता दे दी जाय तो उसका फल यह होता है कि जनहित के स्थान पर उस दल के हाथों केवल स्वजनहित ही होता है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। प्रजातन्त्र की दूसरी महत्व की बात यह है कि सत्ताधारी दल को अथवा सरकार को उत्तरदायी होना चाहिये। यदि सत्ताधारी दल अथवा सरकार उत्तरदायी न हो तो राज्य का काम-काज सामान्य जनता के लिए नहीं होता; बल्कि जनता सत्ताधारियों के हाथ की कठपुतली बन जाती है। उस अवस्था में शासक-वर्ग प्रजा के सुख का साधन नहीं बनता; बल्कि प्रजा शासक-वर्ग के सुख का साधन बन जाती है। प्रजातन्त्र का अनुभव तथा लोगों द्वारा स्वतंत्रता के लिए किया गया प्रयत्न हमें बताता है कि सामान्य जनता के हाथ में कुछ ऐसे अधिकार अवश्य होने चाहियें जो मौजूदा सरकार अथवा शासक-वर्ग की इच्छा पर निर्भर न हों। वास्तविक प्रजातन्त्र वही है, जहाँ सरकार के सिर पर हमेशा पदच्युत होने की नंगी तलवार लटकती रहे। तभी सरकार प्रजा की भलाई के लिए कुछ कर सकेगी। साथ ही सरकार को यह अनुभव होते रहना चाहिए कि यदि वह प्रजा की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी काम करेगी या उसके स्वातन्त्र्य का अपहरण करेगी, तो वह देर तक शासन की गद्दी पर नहीं टिक सकेगी। इस कारण ये मौलिक अधिकार किसी की-

उदारता या सहिष्णुता पर निर्भर नहीं होने चाहियें। उन्हें स्वयंभू होना चाहिये। नागरिकता के साथ ये अधिकार भी प्राप्त होने चाहियें। ऐसा न होना चाहिए कि जब मर्जी में आये तब वे प्राप्त हों, तथा जब मर्जी में आये तब वे चले जायें।

जिन मूलभूत अधिकारों पर व्यक्ति की तथा अल्पसंख्यकों की स्वतन्त्रता निर्भर करती है, उनका कभी उल्लंघन नहीं होना चाहिए। यदि कोई उनका उल्लंघन कर बैठे, तो उसका इलाज करने की व्यवस्था संविधान में मौजूद रहनी चाहिए। अन्यथा ये अधिकार केवल एक विडम्बना बनकर रह जाएँगे। इस दृष्टि से विचार करने पर सवाल यह पैदा होता है कि इस व्यवस्था का स्वरूप क्या हो। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से लड पडे अथवा किसी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का अन्याय हो जाए, तो उसके निराकरण के लिए व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है। पर यहाँ हम जिन बातों पर विचार कर रहे हैं, उनका सम्बन्ध व्यक्तियों के आपस के लड़ाई-झगड़े से नहीं है बल्कि उनका सम्बन्ध व्यक्ति एवं राज्य के बीच उठ खड़े होने वाले झगडों से है तथा हम चाहते हैं कि ऐसे अवसर पर कोई ऐसा इन्तजाम जरूर होना चाहिए, जिससे किसी के प्रति अन्याय न हो सके। इसके लिए चाहे साधारण न्यायालय की शरण लेनी पड़े या किसी विशेष न्यायालय की शरण लेनी पड़े। इस दृष्टि से यह प्रश्न अधिक महत्त्व का है कि न्यायाधीश किसे बनाया जाय तथा बनाने वाला कौन हो। जिन्हें हमने शासन की बागडोर सौंपी है, वे लोग अन्त तक निष्पक्ष एवं निःस्पृह रह सकेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। अतः निष्पक्ष न्यायदान अच्छे राज्य की आत्मा है। यदि न्यायदान निष्पक्ष न हो तो समझ लेना चाहिए कि अराजकता का वातावरण शीघ्र ही उपस्थित होने वाला है। यदि आप चाहते हैं कि समाज में स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, तो समाज के नियमों का सबके लिए समान होना अनिवार्य है। उसमें किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं होना चाहिए तथा प्रत्येक नागरिक को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उन नियमों में कभी किसी किस्म का हेर-फेर नहीं होगा। राज्य में कानून के अनुसार काम करने वाली शासन व्यवस्था आधुनिक राज्यों में बहुत बड़े पैमाने पर होती है तथा उसे बहुत अधिक काम करने पड़ते हैं। तो भी शासन के सभी क्षेत्रों में निष्पक्षता से काम लिया जाना चाहिए। अन्यथा स्वतन्त्रता के कुछ मानी नहीं रह जाएँगे। अतः न्यायदान का कार्य उचित रूप में तथा निष्पक्ष रूप में होता है, इस बात का विश्वास राज्य के हर व्यक्ति को होना चाहिए। इसलिए न्यायदान का काम तथा कानून का अर्थ लगाने का काम स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष व्यक्तियों के हाथ से किया जाना चाहिए। राज्य के छोटे-बड़े सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति मौजूदा सरकार के हाथों होती है। अतः इस दृष्टि से उनकी नियुक्ति का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। एक व्यक्ति तथा दूसरे व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और राज्य के बीच पैदा होने वाले दोनों प्रकार के मामलों में न्याय से काम लिया जाना चाहिए। यदि राज्य बिना कारण किसी व्यक्ति को नजरबन्द कर दे, उसके खिलाफ राजद्रोह का अभियोग चलाये, या उसकी गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा दे, तो इन सब मामलों में किसी निःस्पृह न्यायाधीश को न्याय देने का काम करना चाहिए। यदि न्यायाधीश को ऐसा लगे कि उसकी नौकरी सरकार की मर्जी पर

अवलम्बित है, तो उसके लिए निःस्पृह भाव से न्याय देना असम्भव हो जाएगा। अतः न्याय देते समय न्यायाधीश को पूरा विश्वास होना चाहिए कि जब कभी वह अपनी सदसद्विवेकबुद्धि से काम लेकर न्याय देने बैठे, तब उसकी पदोन्नति पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पहुँचेगा, न कोई गड़बड़ होगी और न ही किसी प्रकार का घात-पात होगा। फैसला यदि सरकार की मर्जी के खिलाफ भी होता हो, तो भी न्यायाधीश पर उसका कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। अतः एक बार न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति हो जाने के बाद तब तक न्यायाधीश के काम में सरकार को दखल नहीं देना चाहिए, जब तक उसकी उम्र सेवानिवृत्त होने की न हो जाए। संक्षेप में जब तक उसका आचरण ठीक रहे, तब तक उसे अपने पद से हटाया नहीं जाना चाहिए। अगर उसका आचरण ठीक न रहे, वह चरित्रभ्रष्ट अथवा शारीरिक दृष्टि से असमर्थ हो जाए, तो अवश्य उसे सेवा से निवृत्त कर देना चाहिए। अमेरिका में न्यायाधीशों का भी चुनाव होता है। अतः वहाँ फिर से चुने जाने की इच्छा से जो न्याय दिया जाता है, उसके पीछे लोकप्रियता का दृष्टिकोण काम करता है; निःस्पृहता का नहीं। जैसे यह अनुचित है, वैसे ही उनकी नियुक्ति का मौजूदा सरकार की मर्जी पर आश्रित रहना भी अनुचित है। बड़ों की इच्छा अथवा लोकमत को ध्यान में रखकर फैसला करना सर्वथा अवाञ्छनीय एवं हानिकारक है। अतः एक बार नियुक्ति हो चुकने के बाद तब तक न्यायाधीश को अपने पद पर बने रहने देना चाहिए, जब तक उसका आचरण ठीक है। उसमें सरकार के हस्तक्षेप की गुन्जाइश नहीं रहनी चाहिए। परन्तु यह कहना भी कठिन है कि उल्लिखित व्यवस्था के रहते व्यक्ति निःस्पृह तथा निष्पक्ष रहेगा ही। व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध न होता हुआ भी वाक्य कभी-कभी सर्वथा निरर्थक रहता है। अतः जो व्यक्ति न्यायाधीश बनने जा रहा है, उसकी मूलवृत्ति में निःस्पृहता तथा निष्पक्षता होनी चाहिए तथा सही-सही फैसला करना उसे अपना आद्य कर्तव्य समझना चाहिए। फैसला करते समय न तो उसे बड़ों की मर्जी का खयाल करना चाहिए और न ही लोकमत की इच्छा-अनिच्छा का। साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी भी राजकीय मतामत को ध्यान में रखकर वह फैसला न दे। यदि कोई न्यायाधीश न्यायदान के समय इस बात का ध्यान रखने लगे कि उसके न्यायदान से किस राजनैतिक दल की क्या हालत हो जाएगी—कौन दल फले फूलेगा और कौन दल मुरझा जाएगा, तो उसके फैसले न्यायानुकूल नहीं कहे जा सकेंगे। यदि न्यायाधीश यह सोचकर काम करे कि सेवा से निवृत्त होने के बाद उसे राज्यपाल का पद मिलेगा या नहीं, तो उसका दिया फैसला न्यायोचित कैसे कहा जा सकेगा? बहुत बार देखा गया है कि न्यायाधीश लोग सत्ताधारी दल की इच्छाओं का खयाल रखकर फैसला करते हैं तथा वे सत्ताधारी सरकार के पुरस्कार के पात्र बन जाते हैं। अतः सेवा-निवृत्ति के बाद, न्यायाधीशों को ऐसे बड़े पदों पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। इससे निष्पक्ष न्याय के मार्ग में बाधा उपस्थित हो सकती है।

यदि हम चाहते हैं कि निष्पक्ष न्यायदान के मार्ग में बाधा न उपस्थित हो, तो हमें चाहिए कि सत्ताधारी सरकार के हाथ में ऐसा कोई अधिकार न सौंपें, जिससे वह न्यायाधीशों की पदवृद्धि आदि के मामलों में हस्तक्षेप कर सके। इसी प्रकार

सर्वगामी होने के कारण आधुनिक राज्य की कार्यपालिका के जीवन ने प्रायः सभी क्षेत्रों को अपने में समेट लिया है। आधुनिक राज्य केवल सरदार का ही काम नहीं करता, वरन् वह व्यक्ति एवं समाज दोनों के संवर्द्धन का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त नागरिकों के शिक्षण, योगक्षेम एवं स्वास्थ्य की सारी जिम्मेदारी राज्य ने स्वतन्त्र किया संविधान द्वारा अपने ऊपर ली हुई है तथा इन सब बातों को नियमित एवं नियन्त्रित करने के हेतु से बड़े परिमाण में राज्य विधान सभाओं के द्वारा कानून बनाया करता है। अधिक बारीकियों में जाकर कानून बनाना विधान सभा के लिए सम्भव नहीं होता। उतना समय उसके पास नहीं होता। तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि बारीकियों में जाकर विचार करने की विशेष योग्यता विधान सभा के हर सभासद में होती है। इसलिए आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि पहले सामान्य तत्त्वों को प्रथित करने वाला मुख्य कानून बना लिया जाता है तथा उसके बाद उन स्वीकृत तत्त्वों के अनुसार बारीकियों में जाकर नियम बनाने का अधिकार कार्यपालिका को दे दिया जाता है। और तब कार्यपालिका अर्थात् राजकीय काम-काज करने वाले विभिन्न विभाग प्रमुख नियमों का निर्माण करते हैं। नियम बन जाने पर उन्हें क्रियान्वित करने का अधिकार उन लोगों को दे दिया जाता है, जिनकी इस कार्य के लिए नियुक्ति होती है। और बहुत बार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जिसे नियमों के क्रियान्वयन का अधिकार सौंपा जाता है, उसके हाथों बनाये गए नियम मुख्य कानून के अनुसार हैं या नहीं। अनुभव बताता है कि इन नियमों के क्रियान्वयन के समय अनेक बार व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है। व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण होता है। और तब न्यायालय को देखना पड़ता है कि वास्तव में व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण हुआ है या नहीं, तथा बनाये गए नियमों के अनुरूप आचरण हो रहा है या नहीं। साधारणतया नियमों को क्रियान्वित करने वाले अधिकारियों अथवा दासों को वकीलों से अथवा कानून के यथावत् पालन के विषय से अधिक स्नेह नहीं होता। नियम बनाने वाले ही जब उन्हें क्रियान्वित करने लगते हैं, तब यह कहना कठिन हो जाता है कि वे लोग निष्पक्ष होकर आचरण करेंगे ही। राजकीय काम-काज की आवश्यकतानुसार अनेक छोटे छोटे केन्द्र बनाये जाते हैं तथा सब कहीं निरन्तर नागरिकों के जीवन के सम्बन्ध में फैसले किये जाते हैं। जाहिर है कि इन फैसलों को नियमों के अनुरूप ही होना चाहिए। अतः कोई न कोई ऐसा सरक्षक उपाय अवश्य किया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण न हो सके। अर्थात् काम-काज की प्रक्रिया (प्रोसीजर) बिल्कुल निश्चित होनी चाहिए। सम्बन्धित नागरिक को अपना पक्ष उपस्थित करने का पूरा अधिकार दिया जाना चाहिए। जहाँ जरूरी हो, वहाँ उसे वकील देने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ नियमों के अनुसार फैसला न हुआ हो, वहाँ अपील करने का अधिकार व्यक्ति को होना चाहिए। कार्यकारी अधिकारी झटपट फैसला करना चाहते हैं। उनकी यह इच्छा प्रशंसनीय है; पर इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि इससे किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों का बलिदान न हो जाए। किन्हीं-किन्हीं कानूनों के अनुसार कुछ बातों के विरुद्ध नागरिकों का अन्य अदालतों में फरियाद करने का अधिकार नहीं है। सार्वजनिक कार्यों के लिए भूमि तथा

अन्य सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेने का अधिकार सरकार को प्राप्त है। परन्तु जिन्हें सरकार सार्वजनिक कार्य का नाम देती है, वे कार्य सार्वजनिक नहीं हैं, यह किसी अदालत के सामने सिद्ध करने का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं। सरकार का किसी कार्य को सार्वजनिक कह देना ही पर्याप्त है। उसके बाद उस मामले में कोई फेरफार नहीं किया जा सकता। नागरिक को यह कहने का अधिकार अवश्य है कि उसको जो मुआवजा दिया गया है, वह बहुत कम है। एक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं। तथापि नागरिक को अपने कथन को सिद्ध करने का कुछ न कुछ अधिकार होना चाहिए। यदि निर्धारित नियमों एवं न्यायदान की मूलभूत प्रक्रिया के विरुद्ध कोई पदाधिकारी आचरण करे, तो अदालत में अपील करने का अधिकार लोगों को अवश्य दिया जाना चाहिए। आजकल बहुत से राज्यों में प्रशासनसम्बन्धी कानून (Administrative Law) होता है और उसमें काम की प्रक्रिया निश्चित की जाती है। इससे नागरिक स्वतन्त्रता पर आने वाली विपत्ति बहुत कुछ दूर हो जाती है। उचित तो यह है कि मुख्य अदालतों के अधिकारों में विभिन्न शासकीय केन्द्रों में किए जाने वाले निर्णयों से किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आनी चाहिए। आय-कर के सम्बन्ध में एक ट्रिब्यूनल नियुक्त किया गया, यातायात के साधन के बारे में एक अन्य मंडल नियुक्त किया गया। इस प्रकार की व्यवस्था राजकीय काम-काज की दृष्टि से सुविधाजनक है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि इन मंडलों के हाथों यदि न्यायदान के मौलिक सिद्धान्तों के मार्ग में रुकावट आने लगे, तो उसके सम्बन्ध में सामान्य अदालत से फरियाद करने की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। राजकीय काम-काज का क्षेत्र भी इतना अधिक तांत्रिक हो गया है कि न्यायदान की दृष्टि से सामान्य न्यायाधीश को सब बातों का पूरा-पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अतः ऐसे मामलों में, जहाँ उस विषय के विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, फैसला करने का काम विशेषज्ञों के मंडल ही को सौंपा जाना चाहिए। यदि उन विशेषज्ञों का निर्णय न्यायसम्बन्धी सामान्य कल्पनाओं एवं सिद्धान्तों के अनुकूल न हो, तो सामान्य अदालतों में फरियाद करने का अधिकार अवश्य होना चाहिए। आजकल अनेक स्वतन्त्र मंडल राजकीय काम-काज के क्षेत्र में काम करते हैं और उनके कारण काम-काज सम्बन्धी अनेक निर्णय बहुत शीघ्र किए जा सकते हैं। तथापि इन मंडलों द्वारा न्याय का प्रबन्ध करने का अर्थ हुआ कार्यपालिका के हाथ में ही न्यायपालिका का काम सौंप देना। कार्यपालिका के हाथ में इस प्रकार निरंकुश अधिकारों का सौंप देना व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से ठीक नहीं। अतः राज्य अर्थात् कार्यपालिका अथवा सरकार कोई अन्याय या अपकृत्य कर बैठे, तो उसके विरुद्ध फरियाद करने का अधिकार व्यक्ति को अवश्य होना चाहिए; नहीं तो स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। अन्याय चाहे राज्य के किसी पदाधिकारी ने किया हो अथवा राज्य द्वारा नियुक्त किसी मंडल ने किया हो, उसके विरुद्ध फरियाद करने की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। राज्य का काम-काज अन्ततोगत्वा व्यक्ति द्वारा ही किया जाता है। अतः राज्य के किसी भी नौकर के हाथों अन्याय क्यों न हुआ हो, उसका उत्तरदायित्व राज्य ही पर होता है। अतः राज्य के विरुद्ध फरियाद करने का अधिकार अवश्य होना चाहिए। अपने मालिक की नौकरी करते समय नौकर के हाथों हुई हर भूल का

हम ऊपर कह आए है कि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कार्यपालिका एव न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक् रहना चाहिए। उतने से स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा हो सकेगी, यह कहना कठिन है। स्वतन्त्रतासम्बन्धी जो कानून बनेंगे, उन्ही का अर्थ न्यायाधीश लगायेगा तथा कार्यपालिका अर्थात् सरकार उन्ही कानूनो को कार्यान्वित करेगी। इसका अर्थ यह हुआ, या तो राज्य के संविधान मे स्वतन्त्रताविषयक कानून मौजूद होने चाहिएँ या फिर राजकीय परम्परा एव प्रथाओ को अधिक प्रभावशाली होना चाहिए तथा ऐसी परिस्थिति होनी चाहिए जिसमे न्यायालय एव राज्य दोनो उन परम्पराओ एव प्रथाओ को आचरण मे लाते हो। सविधान मे स्वतन्त्रताविषयक सरक्षण की योजना आधुनिक राज्यो के सभी सविधानो मे दृष्टिगत होती है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के पश्चात् नागरिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है तथा प्रत्येक विधान एव सविधान मे उसका उल्लेख किया जाने लगा है। कानून दो प्रकार के होते हैं—एक सविधानात्मक कानून तथा दूसरा सामान्य कानून। सविधानात्मक कानून द्वारा राज्य का स्वरूप, रचना, उद्देश्य तथा आदर्श निर्धारित किए जाते हैं तथा सामान्य कानून के द्वारा नित्य के व्यवहारो का नियमन किया जाता है। सविधानात्मक कानून में बार-बार परिवर्तन नही किया जा सकता। सविधान का महत्व एव पावित्र्य अपनी एक विशेपता रखते हैं। सविधान मे परिवर्तन करने के लिए कुछ विशेष उपायो से काम लिया जाता है। उसकी सारी व्यवस्था ही भिन्न होती है तथा इसकी व्यवस्था संविधान मे ही की जाती है। सामान्य कानून के बनाने, बदलने तथा खत्म करने की प्रक्रिया बहुत ही सरल होती है। इगलैंड मे सविधानात्मक कानून बना हुआ नही है। वहाँ अनेक कानूनो के द्वारा राज्य की रचना से सम्बन्धित व्यवस्था की गई है। सविधानात्मक कानून के न रहने के कारण वहाँ किसी भी कानून को बदलने की एक ही प्रक्रिया है। जिस प्रक्रिया से आय-कर एव यातायात के साधनो मे परिवर्तन तत्सम्बन्धी कानूनो मे किया जाता है, उसी प्रक्रिया से राजा रहे या न रहे, House of Lords रहे या न रहे इत्यादि विषयो पर भी विचार किया जा सकता है। एक ही लेखनी से सारे कार्य किए जा सकते है। परन्तु जहाँ सविधानात्मक कानून है, वहाँ परिवर्तन करने की एक विशेष प्रक्रिया होती है। अमेरिका मे सविधान मे परिवर्तन करना हो तो कांग्रेस की दोनो सभाओ अर्थात् सेनेट एव House of the Representatives मे उक्त सशोधन के पास होने से काम नही चलता। उसके लिए घटक राज्यो की विधान सभाओ द्वारा भी उक्त सशोधन का पास होना आवश्यक होता है। भारतीय सविधान के अनुसार लोकसभा मे कुल सख्या के बहुमत से एवं उपस्थित सभासदो के दो-तिहाई सभासदों द्वारा अनुमति प्राप्त होने पर ही कोई सशोधन मजूर हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि सविधान के अन्दर नागरिक स्वतन्त्रता एव मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था कर दी जाए, तो नि सन्देह स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक होती है और सविधानात्मक कानूनो मे इन स्वतन्त्रताओं का उल्लेख होने के कारण अदालतें उनकी अवहेलना नहीं कर सकती। इसी प्रकार कार्यपालिका अथवा सरकार को भी इन मामलो मे, इच्छा हो या न हो, अपनी स्वीकृति प्रदान करनी ही पड़ती है। इसको बदलना आसान नहीं

होता। सामान्य कानूनों को बदलना आसान होता है। इस दृष्टि से संविधानात्मक कानूनों में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया जाना उचित एवं स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से वांछनीय है। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के लिए एक स्वतन्त्र अध्याय अथवा प्रकरण है, जिसमें भाषण, संगठन इत्यादि स्वतन्त्रताओं का तथा उसकी सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख है। आधुनिक राज्यों के सभी संवैधानिक कानूनों में न्यूनाधिक मात्रा में मौलिक अधिकारों का उल्लेख रहता है। संवैधानिक कानूनों में सब प्रकार की व्यवस्था कर देने से नागरिकों की स्वतन्त्रता की निश्चित रूप से रक्षा हो सकेगी, यह नहीं कहा जा सकता; तो भी इतना तो सही है कि सुशिक्षित नागरिकों के सामने मौलिक अधिकारों का विचार अवश्य बना रहता है। मौलिक अधिकारों का उपयोग दैनंदिन जीवन में हुआ करता है तथा एक दृष्टि से वे अधिकार नागरिकों के जीवन का एक स्वाभाविक अंश बन जाते हैं। एक जगह इकट्ठा होना, किसी विषय पर चर्चा करना, सभाएँ करना, भाषण देना, अपने विचारों को लेखनी के द्वारा लोगों के सामने पेश करना, राज्यों में कहीं भी घूमने-फिरने की खुली छूट, अपनी रुचि के अनुसार रोजगार करना इत्यादि बातें नागरिकों के लिए प्रायन्न स्वाभाविक हो गई हैं। भाषण करने वाला मूर्खों की तरह बोलता हो, सभा में गड़बड़ होती हो, अथवा काम-धन्धे में नाना प्रकार की अवांछनीय बातें होती हों और इन सब बातों को नागरिक देख रहा हो, तो भी उसे कभी यह अनुभव नहीं होगा कि इन अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाए जाएँ। संविधान द्वारा केवल समाज के जीवन का ही नियमन नहीं होता; बल्कि व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन का भी अनजाने नियमन होता रहता है। इसी कारण नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था अभीष्ट वस्तु है। इसका अर्थ यह नहीं कि संविधान में लिखित होने भर से व्यक्ति के अनुभवों में वह अवतीर्ण हो जाती है। बहुत बार समाज में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जनता विवेक से कोसों दूर चली जाती है तथा संविधानगत स्वतन्त्रता क्षणिक सिद्ध होती है। इसी प्रकार संकटकालीन परिस्थिति की घोषणा करके अथवा उसका दावा करके मौजूदा सरकार थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो संविधान में उल्लिखित स्वतन्त्रता को कमज़ोर और अर्थहीन बना सकती है। अतः स्वतन्त्रता की सच्ची रक्षा नागरिकों के निश्चय पर जितनी अवलम्बित रहती है, उतनी अन्य किसी व्यवस्था पर नहीं। लोगों का निश्चय जितना अधिक मजबूत होगा, संविधानगत स्वतन्त्रता भी लोगों को उतनी ही अधिक उपलब्ध होगी। निरोधक प्रतिबन्ध के कानून से गिरफ्तार करने की परिस्थिति है या नहीं, यह सब कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किया जाता है। उस सम्बन्ध में अदालत को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। अदालत केवल इतना ही देख सकती है कि एक निश्चित समय के भीतर गिरफ्तार किए हुए व्यक्ति को, उसकी गिरफ्तारी के कारण बता दिए हैं या नहीं तथा यह गिरफ्तारी नियमानुसार हुई है या नहीं। यदि इस प्रकार की घटनाएँ बार-बार होने लगें और जनता उन्हें चुप-चाप सहती रहे, तो यह कहना कि वहाँ लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त है, उचित नहीं होगा। अतः सच्ची स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए जनता का जाग्रत होना

बहुत आवश्यक है। तभी स्वतन्त्रता का सुख लोगों को मिल सकता है। स्वतन्त्रता की कीमत है अखण्ड जागृति।

जिस प्रकार स्वतन्त्रता की मजबूती के लिए लोगों का जाग्रत होना आवश्यक है, उसी प्रकार उनका विवेकशील होना भी आवश्यक है। यदि समाज या लोकमत विचारवान् एवं विवेकशील होगा तो न्यायाधीश के लिए न्याय करना आसान हो जाएगा। न्यायदान जनता की स्वतन्त्रता के लिए तथा उनके अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। न्यायाधीश भी समाज का एक अंग है। समाज में उठता-बैठता है। उसके भी मित्र होते हैं, जिनके साथ वह भी चर्चा किया करता है। समाज में क्या बोला और क्या लिखा जाता है, इस सब की जानकारी उसे रहती है। समाज की नीतिसम्बन्धी कल्पनाओं का उसके मन पर भी संस्कार पड़ा रहता है। समाज में वर्गों के अस्तित्व के कारण वर्गविषयक भावना से वह भी सर्वथा अलिप्त नहीं रह पाता। जाने या अनजाने, समाज के जीवन में काम करने वाले किन्हीं अस्पष्ट भावों का प्रभाव उसके मन पर भी होता रहता है तथा उसके फैसलों पर इन सब बातों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही रहता है। तो भी इन प्रभावों की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। क्योंकि न्यायाधीश को अपने पद की प्रतिष्ठा की रक्षा का भी उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ता है। इसी प्रकार अनुभव एवं अध्ययन के द्वारा उसके आचरण या स्वभाव में एक प्रकार का सन्तुलन आ जाता है। सामान्य जनता विवेक से जितनी ही दूर होगी, उतना ही उसमें विचारशीलता का अभाव रहेगा। ऐसा देखने में आया है कि जब किसी मुकद्दमे के बारे में लोगों में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो जाता है तथा जहाँ पंचों द्वारा अपनी सम्मति प्रकट करनी होती है, वहाँ विशुद्ध एवं निष्पक्ष न्याय के काम में पंचों की ओर से बहुत अधिक सहायता नहीं हो पाती। ये पंच लोग सामान्य जन होते हैं तथा पंच होने के कारण समाज की धारणा एवं दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही वे लोग अपना निर्णय देते हैं। ऐसी स्थिति में इच्छा होने पर भी न्यायाधीश के लिए न्याय करना सम्भव नहीं हो पाता। इसका एकदम ताजा उदाहरण बम्बई का नानावटी केस है। पंचों द्वारा दिया गया निर्णय पूरी तरह विकृत तथा विपर्यस्त था, यह जाहिर है। अतः यदि हम चाहते हैं कि समाज में न्याय एवं स्वतंत्रता की उत्तम रीति से प्रतिष्ठा हो, तो हमें लोकमत को विचारवान् एवं विवेकशील बनाना होगा। स्वतंत्रता को मजबूत बनाये रखने के लिए समाज में ऐसा वातावरण होना चाहिए, जिसमें अपकृत्य अथवा अपराध करने वाले व्यक्ति को सजा जरूर दी जाए। यदि सरकार अथवा सरकार का कोई अधिकारी अपने अधिकार का दुरुपयोग करे तथा उसके हाथों कोई अपराध या अनुचित कार्य हो जाए, तो तत्काल उसके विरुद्ध कोई आवश्यक कार्रवाई ही अवश्य की जाएगी, ऐसा जनता में विश्वास होना चाहिए। बहुत बार समाज का वातावरण क्षुब्ध हो जाता है तथा संकटकालीन परिस्थिति का नाम देकर सरकार कुछ कदम उठाती है और बहुत बार अधिकारों का वहाँ दुरुपयोग होता है तथा असभ्य कृत्य किए जाते हैं। उन कार्यों के विरुद्ध आवश्यक कार्रवाही करने के लिए संकटकालीन परिस्थिति के समाप्त होने के बाद कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। अंधाधुन्ध गोली चलाई गई हो, सैंकड़ों आदमियों को

जान से हाथ धोना पड़ा हो तो इन मामलों में सरकारी जाँच की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि किसी ने कोई अनुचित कार्य किया हो तो उसे सजा मिलनी चाहिए। यह ठीक है कि संकट का मुकाबला करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ती है। यदि ऐसा करने का अधिकार पुलिस को न दिया जाए तो शान्ति एवं सुव्यवस्था खतरे में पड़ जाती है। लोक समूह के क्षुब्ध होने का अर्थ है अविचार एवं अविवेकपूर्ण कार्यों का श्रीगणेश। जब जनता बिगड़ खड़ी होती है तो उसको काबू में लाना बड़ा ही मुश्किल हो जाता है। लोगों के प्रिय नेता भी जनता के क्षोभ को शान्त नहीं कर पाते। ऐसी बातें भारत में ही नहीं होतीं बल्कि दुनियाँ के सभी देशों में ऐसा ही होता है। इस कारण प्रत्येक गोलीकांड की अदालती जाँच करवाने का आग्रह जहाँ अविवेकयुक्त है वहाँ राजनीतिक दृष्टि से अदूरदर्शिता का सूचक एवं अराजकता का सहायक भी है। अतः आवश्यक मात्रा में एवं आवश्यक समय के लिए गोली चलाना तथा अन्य कड़ी कार्यवाही करना आवश्यक समझा जाना चाहिए। राज्य सत्ता का यह एक आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। परन्तु जहाँ आवश्यकता से अधिक मात्रा में तथा अधिक काल तक गोली चलाई गई हो अथवा अनावश्यक मात्रा में कड़ी कार्यवाही की गई हो वहाँ उनकी जाँच जरूर हो जानी चाहिए तथा उसके लिए उत्तरदायी पदाधिकारियों को अवश्य सजा मिलनी चाहिए। ऐसा करना समाज की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए बहुत जरूरी है। सन् '३० में शोलापुर के अन्दर फौजी कानून जारी किया गया। वहाँ सैनिकों ने या अन्य अधिकारियों ने जो कुछ किया वह सब आवश्यक था ऐसा नहीं कहा जा सकता। सामान्यतया फौजी कानून के लागू हो जाने पर जो कुछ किया जाता है उसके विषय में सम्बन्धित अधिकारियों के विरुद्ध दीवानी या फौजदारी मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। परिस्थिति कितनी संकटपूर्ण है इस विषय में सम्बन्धित अधिकारियों की सम्मति को ही प्रमाण माना जाता है और एक दृष्टि से यह उचित भी है। तो भी जहाँ स्पष्ट रूप से निर्दयता से काम लिया गया हो वहाँ वैसा करने वालों के विरुद्ध किसी प्रकार की कोई आवश्यक कार्यवाही न करना भी अनुचित है। सन् १९१९ में पंजाब में फौजी शासन शुरू हुआ और खुल्लमखुल्ला अनावश्यक मात्रा में गोली चलाई गई तथा लोगों से निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया गया। तो भी उस मामले की जाँच तक नहीं की गई। यह ठीक है कि पुलिस को अथवा फौज को राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक प्रबन्ध करने के लिए कहा जाए और उनके सिर पर जाँच तथा सजा की तलवार भी टंगी रहे यह उचित नहीं कहा जा सकता। तो भी पुलिस अथवा फौज पर कुछ एक प्रतिबन्धों का न लगाया जाना नागरिक स्वतंत्रता की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है।

यह मानना ठीक नहीं कि नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा राज्य की रक्षा इन दोनों के बीच कोई विरोध है इसी प्रकार यह भी ठीक नहीं कि व्यक्ति एवं समाज के हितों में भी कोई ऐसा विरोध है जिसको कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। राज्य अथवा शासन की प्रणाली एक प्रकार से तेल की बूँद का-सा स्वभाव रखती है। जिस प्रकार तेल की बूँद को पानी पर डालने से वह फैलती है उसी प्रकार यह प्रणाली भी फैलती है। तो भी शासनसत्ता का मूल स्वभाव निष्पक्ष रहने का है। वह अपने ... तटस्थ

रहती है। उसका स्वरूप उसको काम मे लाने वाले की इच्छा के अनुसार बनता है। लौ दोनों काम कर सकती है; उजाला भी कर सकती है और आग भी लगा सकती है। जिस व्यक्ति के हाथ मे यह लौ है उसकी जो इच्छा होगी उसके अनुसार ही यह काम करेगी। ऐसी स्थिति मे राज्य के नागरिको के अधिकार अथवा उनकी स्वतंत्रता को उस काल मे विद्यमान सरकार की इच्छा पर निरंकुश रूप से छोड़ देना भला नही है। वैसा होने से नागरिको की स्वतन्त्रता राज्यसत्ता की इच्छा एवं सुविधा पर अवलम्बित रहेगी। इस विपत्ति को टालने के लिए आधुनिक राजनैतिक विचारो के अनुसार कुछ मौलिक अधिकार तथा कुछ नियन्त्रण राज्य सत्ता पर संविधान मे डाले जाते हैं। केवल संविधान के अन्दर राज्यसत्ता पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा मौलिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था कर देने से स्वतन्त्रता की रक्षा नही हो पाती। हर कोई मौलिक अधिकारो के महत्त्व को स्वीकार करता है। परम्परा से इन मौलिक अधिकारो की प्राणप्रतिष्ठा होती है और चूँकि वे जनता के मन मे जड़ जमा लेते हैं इसलिए राज्यसत्ता खुल्लमखुल्ला उनका अतिक्रमण नही कर सकती। अतिक्रमण न करना या अप्रत्यक्ष रूप से अतिक्रमण करना एक बात है। परन्तु यदि जनता अपने अधिकारो के बारे मे सतर्क रहे तथा राज्यसत्ता की प्रत्येक हरकत को बारीकी से देखे, उसकी जाँच-पड़ताल करती रहे तो निश्चित ही यह स्वतन्त्रता अबाधित रहती है। जिस खेत की रखवाली ठीक तरीके से की जाती है उसकी पैदावार भी ठीक रहती है। स्वतन्त्रता होने के कारण समाज मे नाना प्रकार की विचारधारा उत्पन्न होती है और बहुत बार एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उपयोग दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राह मे रोड़ा बनकर खड़ा हो जाता है। सामान्यतया व्यक्ति को अपनी खुद की स्वतन्त्रता के बारे मे अधिक चिन्ता रहती है। उन्हे ऐसा लगता है कि जो कुछ वे करते हैं और समझते हैं वही ठीक है और जो भी बात उनकी स्वतन्त्रता मे रुकावट बनकर आती है वह उन्हे स्वतन्त्रता का दुरुपयोग प्रतीत होता है। शान्त मन से तथा विवेकपूर्वक विचार करके काम करने वाले लोग बहुत थोड़े होते हैं। जो सन्तुलित मनोवृत्ति न्यायाधीश की होती है वह सर्वसामान्य जनता मे नही दीख पड़ती। अतः यह ठीक है कि संविधान मे उल्लेख करने से मौलिक अधिकारो एव स्वतन्त्रता की रक्षा मे बहुत अधिक सहायता प्राप्त होती है। तथापि जनता का सजग रहना आवश्यक है। साथ ही जनता को सन्तुलन एव विवेक से युक्त भी होना चाहिए। जनता कभी-कभी विक्षुब्ध हो जाती है और पूर्वग्रहो का शिकार बनकर अविवेक से काम लेती है। वैसा होने से अनेक व्यक्तियो के प्रति अन्याय होता है और उनकी स्वतन्त्रता निरर्थक हो जाती है। केवल सामान्य जनता ही विक्षुब्ध होती हो ऐसी बात नही, कभी-कभी सरकार भी विक्षुब्ध हो उठती है। उसका भी सन्तुलन नही रहता और वह भी विवेक खो बैठती है। जिस प्रकार शास्त्रार्थ मे लगे हुए व्यक्ति पराजित हो जाने पर 'दोष कोपेन पूरयेत्' इस न्याय के अनुसार आचरण करते हैं उसी प्रकार सरकार भी करती है। लोकतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था मे सत्ताधीश लोग सार और असार का विचार करके काम करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु जहा उनके अपने हितो का सवाल उठ खड़ा होता है वहा वे युक्तिवाद को एक ओर हटाकर विरोधियों की स्वतन्त्रता एव मौलिक अधिकारो पर हमला करने का कोई तरीका निकाल लेते हैं।

सकटकालीन परिस्थिति न हो तो भी वे लोग सकटकालीन परिस्थिति की घोषणा कर देते हैं। और यदि वास्तविक सकटकालीन परिस्थिति हो तो उस काल में काम में लाने के लिए सविधान में दिए गए अधिकारों का उपयोग उस परिस्थिति के टल जाने पर भी करते चले जाते हैं। विरोधी पक्ष की अतिरेकयुक्त आलोचना से अप्रसन्न होकर सामान्य विरोध को अराजकीय विरोध मान कर कानून में दिए गए सारे अधिकार राजसत्ता अपने काम में ले आती है एवं विरोध को पूरी तरह खत्म कर डालने का प्रयत्न करती है। अतः स्वतन्त्रता की वास्तविक रक्षा और वृद्धि के लिए जहाँ एक ओर जनता को विवेकयुक्त होना चाहिए वहाँ सरकार का भी विवेकयुक्त होना बहुत जरूरी है। विरोधी पक्ष की विचारधारा भले ही अप्रिय हो तो भी उसका सम्मान करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरों की सम्मति के बारे में समाज के भीतर सहिष्णुता का वातावरण होना चाहिए। विचारों में संतुलन तथा व्यवहार में सहिष्णुता मनुष्य को जन्म से प्राप्त नहीं होती उन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अनुभवों एवं अभ्यास से काम लेना पड़ता है। जिस प्रकार स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लोगों को सदा जाग्रत रहना पड़ता है और यदि सामान्य जनता जाग्रत न रहे तो स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है ठीक उसी प्रकार विचारों में सतुलन एवं व्यवहार में सहिष्णुता की बहुत सख्त जरूरत है। नहीं तो स्वतन्त्रता मुट्ठी भर व्यक्तियों के एक विशिष्ट वर्ग की बपौती बन जाती है और सामान्य जनता को उससे वंचित रह जाना पड़ता है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभव न करे तब तक स्वतन्त्रता पूर्ण तथा अर्थपूर्ण नहीं हो सकती। समाज एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य है। कुछ मामलों में वह निरंतर गतिशील रहता है तथा कुछ मामलों में सर्वथा स्तब्ध, स्थिर एवं गतिशून्य हो जाता है। समाज के इस स्वरूप को ध्यान में रखने से यह प्रतीत होगा कि स्वतन्त्रता की कल्पना एवं स्वरूप समय के साथ-साथ बदलता रहता है। किन्तु उसका अन्त:पिंड सदा एक ही बना रहता है। अतः एक ही अन्त:पिंड वाले एवं समय के साथ बदलने वाले स्वतन्त्रता के स्वरूप पर बार-बार विचार करना पड़ता है। जिस प्रकार सच्चे ब्राह्मण का संध्या एवं गायत्री का जप अनिवार्य है ठीक उसी प्रकार एक सच्चे नागरिक के लिए स्वतन्त्रता रूपी मन्त्र का जाप अनिवार्य है। नागरिक सतर्क रहें जागरूक रहें तो उसकी स्वतन्त्रता अबाधित रहेगी। दुनिया के बाजार में उठने-बैठने वाले व्यक्तियों को सावधान रहना चाहिए तभी वे दुर्गति से अपने को बचा सकते हैं।

स्वातन्त्र्य का सही माने में संरक्षण तभी सम्भव है जब उस पर होने वाले हमले के खिलाफ निर्भीक होकर बोलने एवं उसके लिए आवश्यक कदम उठाने की बुद्धि नागरिक लोगों में मौजूद रहे। अन्याय के प्रति रोष एक स्वाभाविक वस्तु बन जानी चाहिए। आज्ञा-पालन जितना समाज की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक होता है उतना ही आज्ञा का उल्लंघन भी होता है। अन्याय को चुपचाप सहन कर जाना, स्वतन्त्रता पर होने वाले आक्रमण के प्रति उदासीन बने रहना समाज की स्वतन्त्रता के दीर्घ जीवन के लिए खतरनाक है। नागरिकों में अन्याय के प्रति विद्रोह की वृत्ति कैसे उत्पन्न हो अथवा वह कैसे उत्पन्न होती है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक

है। पुनः इने-गिने लोगों में यह वृत्ति काम करे तो काम नहीं चल सकता। क्योंकि इन मुट्ठी भर लोगों को उपेक्षा, प्रलोभन तथा अत्याचार द्वारा नियन्त्रण कर रखना सत्ताधारियों के लिए बहुत आसान हो जाता है। यही नहीं, जब सामान्य जनगण उदासीन एवं निष्क्रिय हो तब अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने वाले मुट्ठी भर लोगों को पागल तथा व्यवहारशून्य भी समझा जाता है। अतः अन्याय का विरोध करने की वृत्ति तथा स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए त्याग करने की वृत्ति समाज के प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए। यह न हो तो स्वतन्त्रता की रक्षा तथा समाज की नैतिक उन्नति सम्भव नहीं। अतः शासन के कार्य में नागरिकों का जितना अधिक सहयोग पाएगा उतनी ही लोगों में यह वृत्ति अधिक उत्पन्न होगी। राज्य की शक्ति यदि केन्द्रित रहे तो उसका सामान्य जनता से बहुत कम सम्बन्ध आएगा। उस अवस्था में बहुत थोड़े लोगों के अनुभवों के आधार पर बड़ी-बड़ी नीतियों का निर्धारण होगा तथा थोड़े से लोगों की सम्मति को ही सार्वजनिक सम्मति मानकर काम लिया जाएगा। जूता कहाँ चुभता है यह बात जूता पहनने वाला ही बता सकेगा, उसे बनाने वाला दुकानदार नहीं। जिनके जीवन पर राजनैतिक अथवा शासकीय निर्णयों का प्रभाव पड़ता है, उन्हीं के अनुभवों को महत्व दिया जाना चाहिए। यदि देश में अच्छे राज्य की स्थापना करना है तो उसके लिए शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना नितान्त आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण से समाज के अधिकाधिक व्यक्ति शासन के सान्निध्य में आते हैं और उनका सहयोग प्राप्त होता है। शक्ति एवं स्वतन्त्रता के इकट्ठा होने से संघर्ष दूर हो जाते हैं। नागरिक एवं शासक दोनों पक्षों की सुविधा की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। शासन की प्रक्रिया से सम्पर्क स्थापित होने के कारण स्वतन्त्रता का कहीं अपहरण होने लगे तो लोगों को उसका ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है तथा लोगों में जागरूक रहने की वृत्ति अपने आप उत्पन्न हो जाती है। नागरिकों को अनुभव होता है कि अब उनकी सलाह से काम किया जाने लगा है। अतः अपने ही निर्णयों का पालन करने का नैतिक उत्तरदायित्व लोगों में पैदा हो जाता है। इतिहास का अनुभव हमें बताता है कि सुराज्य कितने भी महत्व की वस्तु क्यों न हो स्वराज्य के साथ उसकी कोई तुलना नहीं। जो चीज लोगों पर जबर्दस्ती थोपी जाए वह कितनी भी औचित्यपूर्ण क्यों न हो लोगों को प्रिय नहीं प्रतीत हो सकती। वे लोग उसके प्रति उदासीन ही बने रहेंगे। परन्तु जो बात लोगों से पूछकर उनकी सलाह से तथा उनकी इच्छाओं को समझकर की जाती है उससे जनता में उत्साह छा जाता है। स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य के भीतर जिन श्रेष्ठ गुणों की उत्पत्ति होती है वे गुण किसी दूसरे की आज्ञा से अथवा आग्रह से नहीं उत्पन्न हो पाते। प्रत्येक व्यक्ति को प्रवृत्ति एवं प्रेरणा के अनुसार सर्वथा निरंकुश रूप से काम करने देना भी ठीक नहीं होता। समाज में जीवन के किन्हीं क्षेत्रों में तथा किन्हीं विषयों में एकता एवं समानता का रहना भी आवश्यक होता है। साथ ही व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की तथा अपने विचारों को समाज के सामने प्रस्तुत करने की छूट है इस बात की जानकारी के रहने से स्वतन्त्रता की रक्षा करने की बुद्धि एवं प्रवृत्ति उसमें उत्पन्न होती है तथा विकसित होती है।

समाज तथा व्यक्ति के दृष्टिकोण तथा आवश्यकताओं में विचारपूर्वक समझौता अथवा समन्वय होना आवश्यक है। यह समझकर कि वह अपने आप हो जाएगा उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं। इस उपेक्षा के कारण बहुत-सी अच्छी बातों की भी उपेक्षा हो जाया करती है। बहुत बार ऊपर से सुख और शान्ति की दिखाई देने वाली परिस्थिति भी बहुत विस्फोटक एवं विघटनात्मक सिद्ध होती है अतः व्यक्ति, समाज, दल इत्यादि विषयक किन्हीं सिद्धान्तों को स्थिर करने से पहले उन्हें अपने मन में ठीक से विचार करके स्थिर कर लेना चाहिए। सामान्यतः उनका वर्गीकरण कर लेना चाहिए और जो सिद्धान्त स्थिर हो चुके हों उन्हें आवश्यकतानुसार कानून का रूप दे देना चाहिए तथा कभी उन्हें सामाजिक संकल्प एवं प्रथाओं पर छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु की व्यवस्थित सूची बनाकर उनके विवरण को स्थिर कर देना प्रगतिशील समाज में प्रायः सम्भव नहीं होता। तथापि अनेकों ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक, नागरिक तथा राजकीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में विचार किया है। समाज में व्यक्ति को कपड़े पहनने चाहिएँ, कपड़े पहने बगैर नंगी हालत में सार्वजनिक स्थानों पर आना अनुचित है। यह सार्वजनिक व्यवहार का क्षेत्र राज्य एवं समाज का है। कपड़े पहनना चाहिए, यह राज्य का आदेश मानना चाहिए परन्तु अमुक तरह का तथा अमुक रंग का कपड़ा ही पहना जाए, ऐसा आग्रह राज्य नहीं करेगा। उस सम्बन्ध में व्यक्ति को अपनी मर्जी के मुताबिक आचरण करने की पूरी छुट्टी रहती है। सामाजिक प्रथाएँ इन मामलों में भी व्यक्तियों की इच्छाओं पर अंकुश लगाती हैं। किन बातों पर विचार किया जाय, क्या खाया जाए, ये व्यक्ति के क्षेत्र में आने वाली बातें हैं। क्या पढ़ा जाय, किस प्रकार का ज्ञानार्जन किया जाय यह भी सामान्यतया व्यक्ति के क्षेत्र में आने वाली बातें हैं। तथापि समाज एवं राज्य अश्लीलता एवं अराजकता का विचार करके इन बातों पर कुछ अंकुश अवश्य रख सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति एवं समाज के बीच किसी व्यवस्था का होना आवश्यक है उसी प्रकार कुछ व्यवस्था नागरिक एवं राज्य के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। उसी प्रकार स्वतन्त्रता की वृद्धि की दृष्टि से भी शक्ति का विकेन्द्रीकरण अभीष्ट एवं आवश्यक मान लेने के बाद अब प्रश्न उठता है कि विकेन्द्रीकरण का रूप क्या हो। कौनसे काम और कौनसे विषय मुख्य शासन सत्ता के हाथ में हों तथा कौनसे विषय स्थानिक शासन-सत्ता को दिए जाएँ। यदि राज्य-व्यवस्था संयुक्त हो तो केन्द्रीय सत्ता के हाथ में कौन से काम हों तथा घटक राज्य के हाथ में कौनसे काम हों, इस सम्बन्ध में भी निश्चित सिद्धान्तों का होना आवश्यक है। भारतीय संविधान में जो काम का विभाजन किया गया है वह इस देश के पहले के अनुभवों पर तथा अन्य संयुक्त राज्यों के अनुभवों पर आधारित है। संयुक्त राज्य की दृष्टि से जो आवश्यक कार्य हैं वे केन्द्रीय सरकार के हाथ में आने चाहिएँ, यह साफ जाहिर है। देश का संरक्षण सारे देश का कार्य है; अतः इस संरक्षण की व्यवस्था का भार केन्द्रीय सरकार पर होना उचित है। महाराष्ट्र राज्य की वैदेशिक नीति तथा बंगाल की वैदेशिक नीति भिन्न नहीं हो सकती क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भारत एक राज्य है तथा उसके घटक राज्यों का निर्माण भारत राज्य के राज-काज की सुविधा की दृष्टि से किया गया है; वे कोई स्वतन्त्र

राज्य नहीं है। अलमारी में अनेक पट्टे होते हैं, उनमें से किसी एक पट्टे को निकाल कर अलहदा नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राज्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है किन्तु उन्हें एक-दूसरे से अलहदा नहीं किया जा सकता। देश में मुद्रा एक ही होनी चाहिए। व्यापारिक नीति भी एक ही होनी चाहिए। यातायात की व्यवस्था में भी एकसूत्रता होनी चाहिए। अतः इन सब विषयों का केन्द्रीय सरकार के हाथ में आना उचित एवं आवश्यक सिद्ध होता है। इसी प्रकार जो काम छोटे जो क्षेत्र स्थानिक स्वरूप के हैं; जिनका सम्बन्ध स्थानिक आवश्यकताओं के साथ अधिक है, वे काम स्वभावतः स्थानिक सरकार के हाथ में अथवा संयुक्त राज्य के सन्दर्भ में कहना हो तो घटक राज्यों के हाथ में होने चाहिएँ। पूना शहर की सड़कें सीमेंट की हों या तारकोल की, इस बात का विचार पूना की नगरपालिका को ही करना चाहिए। इस का विचार महाराष्ट्र राज्य की मुख्य सत्ता करने लगे तो यह उचित नहीं होगा। इसी प्रकार जंगलों को किस रूप में सुरक्षित रखा जाए अथवा उनमें वृद्धि की जाए, शिक्षा की व्यवस्था (नीति नहीं) कैसी हो यह भी घटक राज्य को ही तय करना चाहिए। छोटी-मोटी बातों को लेकर ग्राम-वासियों को हर बार बम्बई जाना पड़े तो काम-काज ठीक से नहीं हो सकेगा तथा लोगों को सन्तोष नहीं होगा। एक बात जाहिर है कि सामाजिक एवं राजकीय क्षेत्रों के व्यक्ति एवं समाज के एवं राज्य के आपसी सम्बन्धों में, जितना अधिक समन्वय स्थापित किया जाय, उतना अच्छा।

व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध, नागरिक एवं राज्य के सम्बन्ध क्या हों, यह तय करते समय अधिक से अधिक मात्रा में व्यक्तियों की इच्छा का ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार उस निर्णय का अपना भी स्थान है, ऐसा व्यक्ति को प्रतीत होना चाहिए तथा जब किसी निर्णय से जबर्दस्त पैमाने पर असन्तोष निर्माण होता है, उस समय उस निर्णय को जबर्दस्ती लादना राज्य की स्थिरता एवं स्थापना की दृष्टि से अनभीष्ट सिद्ध होता है। लोगों के मत को भाँप लेना तथा उनकी इच्छाओं का अधिक से अधिक सम्मान करना आधुनिक राजनैतिक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से राज्य का मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है। लोगों की इच्छाओं को जान लेना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कोई आसान बात नहीं है। किन बातों से लोगों को सन्तोष मिलेगा, इसे निश्चित रूप से समझ लेना मुश्किल बात है। परन्तु उसका जानना बहुत जरूरी है। क्योंकि राज्य जो निर्णय लेता है, वह अन्त में कानून का रूप धारण कर लेता है। अतः वह नागरिकों के लिए बन्धनकारक हो जाता है। तथा राज्य की आज्ञा एवं कानून का पालन करना ही राज्य संस्था का सबसे बड़ा आधार-स्तम्भ होता है। नागरिक लोग कानून को मंजूर करते हैं, इसीलिए राज्य काम कर सकता है। वैसा न हो तो वह राज्य राज्य नहीं रह जाता बल्कि अराजकता उत्पन्न हो जाती है। कोई किसी की खोज खबर नहीं लेता। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की-सी अवस्था एवं अव्यवस्था मच जाती है। इस दृष्टि से राज्य के कानून के पीछे अधिकाधिक मात्रा में लोगों का अनुभव प्रभावी होना चाहिए यह साफ जाहिर है। अधिकाधिक सन्तोष की निर्मिति अधिकाधिक विचार विनिमय करने से होती है। सलाह मशविरे से सन्तोष की उत्पत्ति होती है ऐसा कहना अनुचित न होगा। जब नागरिकों को यह अनुभव होता है कि उनके साथ सलाह

मशवरा किया गया है, तो वे निर्णयों का पालन अधिक मन लगाकर करते हैं। वैयक्तिक व्यवहार में भी हम यही देखते हैं। जब व्यक्ति को लगता है कि लोग उससे सलाह लेते हैं, तब वह उन बातों मे अधिक अच्छा सहयोग प्रदान करता है तथा अधिक संतोष अनुभव करता है। जब हम किसी से विचार-विनिमय करते हैं, तो उसे लगता है कि मेरा भी कुछ महत्त्व है, मैं कोई अनुपयोगी अथवा क्षुद्र व्यक्ति नहीं हूँ, समाज के जीवन में मेरा भी कोई स्थान है। इस अनुभूति से उसका मन प्रसन्न होता है तथा उसका दृष्टिकोण अधिक सृजनशील हो जाता है। जब वह देखता है कि राज्य उसकी आवश्यकताओं का खयाल रखता है, तब उसकी राज्य के प्रति निष्ठा द्विगुणित हो जाती है। हम जब किसी से कुछ पूछते हैं, तब वह विचारोन्मुख होता है। और एक बार विचार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तो फिर क्या सम्भव है, क्या असम्भव एवं क्या उचित है, क्या अनुचित है, इन सब बातों पर वह विचार शुरू कर देता है। इससे किसी भी सवाल पर वह अधिक सन्तुलनपूर्वक एवं अधिक विवेकपूर्वक अपना विचार व्यक्त करने में समर्थ हो जाता है। यदि किसी बात पर उससे विचार-विमर्श न किया जाए तथा उस पर कुछ बातें लाद दी जाएँ तो स्वभावतः उसकी मानसिक प्रतिक्रिया विरोधी स्वरूप की हो जाएगी। राज्य द्वारा प्रमुख-प्रमुख विषयों पर नागरिकों से विचार-विमर्श किये जाने के कारण नागरिक अधिक विवेकशील बनते हैं तथा अपने अधिकारों के सम्बन्ध में अधिक जागरूकता से काम लेते हैं। उनके इस प्रकार जागरूक हो जाने से अधिक सही माने में वे लोग स्वतन्त्रता के संरक्षक बनते हैं। अगर राज्य उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करे तो वे उसका विरोध करेंगे। और यदि राज्य उनके विरोध एवं निंदा की परवाह न करके कुछ करेगा तो उससे राज्य की स्थिरता खतरे मे पड़ जायेगी। जो सरकार प्रजा के प्रतिनिधियों की बनी होती है, उसे इस बात की पूरी जानकारी होती है। जहाँ प्रजातन्त्री शासन व्यवस्था है, या जहाँ किसी न किसी रूप में लोकमत का सम्मान किया जाता है, वहाँ मौजूदा सरकार लोकमताश्रित होती है, अतः वहाँ वह लोकमत का एकदम तिरस्कार नहीं कर सकती। लोकमत भले ही जागरित क्यों न हो, मौजूदा सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए प्राणपण से काम करने वाले लोगों की संख्या बहुत ही कम होती है। तथापि यह भी मानना होगा कि ये थोड़े से लोग भी अपने आदर्श आचरण एवं सही निष्ठा के कारण सम्पूर्ण जनमत को अच्छी तरह से भड़का सकते हैं। ये मुट्ठी भर लोग ही स्वतन्त्रता के सच्चे संरक्षक होते हैं। संसार के स्वतन्त्रता के इतिहास में हम देखते हैं कि इन्हीं मुट्ठी भर व्यक्तियों ने अपनी निर्भीकवृत्ति से एवं निश्चय शक्ति से बहुत बड़े-बड़े कामों का श्रीगणेश किया है तथा ये दोनों वृत्तियाँ आगे चलकर किन्हीं इने-गिने व्यक्तियों की ही वस्तु न रह कर अधिक व्यापक बन जाती हैं तथा अन्याय के प्रति रोष की भावना उस समाज का लक्षण बन जाता है एवं तभी समाज में स्वतन्त्रता पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाती है।

सामान्यतया होता यह है कि समाज में अधिकांश व्यक्ति प्रचलित वस्तुओं के प्रति अधिक आसक्ति प्रदर्शित करते हैं। और यदि वह बहुत प्रिय न हो तो अधिक से अधिक यही होता है कि वे उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं। समाज मे जो कुछ चल

रहा है, यह सरल एवं अनिवार्य है, ऐसा सोचकर वे प्रमादग्रस्त तथा पराश्रित हो जाते हैं। बहुत थोड़े व्यक्ति प्रयत्नशील होते हैं तथा जो अपनी शक्ति की सीमा से बाहर की बातें हैं, उन्हें बदलने की कोशिश करते हैं। कुछ लोग सफल भी हो जाते हैं। कुछ लोग समाज की कुत्सित वृत्ति के शिकार बनते हैं। तथापि समाज में बड़े बड़े इतिहास में मोड़ को बदलने वाली बातें इन्हीं थोड़े से निःस्वार्थी व्यक्तियों के प्रयत्न ही से उद्गम होती है। समाज के आदर्शों का पालन करने की यह तपश्चर्या सर्वसामान्य लोगों के हाथ से नहीं होती। सतत जागृत रहने का काम भी सब नागरिकों के हाथ से नहीं होता। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में यह जागृति का काम प्रतिनिधियों के हाथों किया जाता है। जो व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिए, वह राजकीय संस्था के मार्फत किया जाता है। एक दृष्टि से समाज यह कार्यपालिका को सौंप देता है तथा सार्व-सामान्य लोग अपने प्रतिनिधि चुनकर अपने ऊपर का भार प्रतिनिधियों के कन्धों पर डाल देते हैं। जिस प्रकार पुरोहित द्वारा किया गया धर्म-कर्म सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जाता, इसी प्रकार केवल प्रतिनिधियों का चुनाव कर देने भर से नागरिक की इतिकर्तव्यता पूरी हो गई, ऐसा नहीं मानना चाहिए। चुनाव से लोकमत का अनुमान होता है, यह सही है। नागरिक समझता है कि उसकी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान उसके प्रतिनिधि को है ही अतः उसकी शिकायतों की ठीक-ठीक सुनवाई हो सकेगी। नागरिकों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का भार प्रतिनिधि ने अपने कन्धों पर ले लिया है, ऐसा विश्वास उन्हें हो जाता है। पर केवल प्रतिनिधियों को चुनने से उनका कर्तव्य पूरा हो गया, ऐसा यदि नागरिक समझें तो वह ठीक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिनिधि सदैव योग्य, निःस्पृह एवं कर्तव्यदक्ष होगा। प्रजातन्त्र का मतलब है 'पक्षबाजी'। तथा ऐसी पक्षबाजी की राजनीति में कब राजा का रंक एवं रंक का राजा हो जाय, इसका भरोसा नहीं होता। सभी प्रतिनिधि ऐसे नहीं होते, जो अपने हितों के बारे में उदासीन रहें। बहुत बार तो वे अपने हितों को ही मतदाताओं का हित मानकर चलते हैं तथा इस प्रकार वे खुल्लम खुल्ला अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं। भारत के लिए प्रजातन्त्र एकदम नई चीज है, अतः सारा भार प्रतिनिधियों के कन्धों पर डालकर निश्चित हो जाना ठीक नहीं। उससे स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकेगी। सारा भार सन्तों के सिर मढ़ देने से काम नहीं चलेगा। भक्तों को भी कुछ भार अपने ऊपर लेना चाहिए। साथ ही प्रजातन्त्रात्मक राज्य का काम-काज किस प्रकार चलता है, इसका विचार करते समय यह कहना भी ठीक न होगा कि संसद (पार्लियामेंट) अकेली ही स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकेगी। योग्य प्रतिनिधि चुने गये, पार्लियामेंट ने भी अच्छा कानून पास कर दिया। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकेगा कि कार्यपालिका पार्लियामेंट के उद्देश्य की पूर्ति पूरी तरह से कर ही सकेगी। आजकल के राज्य के बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र को देखते हुए सरकार क्या करती है, किस तरह करती है तथा कब करती है इस बात की ओर नागरिकों को अधिक ध्यान देना चाहिए। चुनाव पाँच बरस बाद एक बार होगा। पार्लियामेंट जो कानून पास करेगी वह छठे छमाहे कभी एक बार। परन्तु नागरिकों के जीवन में प्रतिक्षण तथा प्रतिदिन जो सम्बन्ध आता है, वह सरकार ही का आता है। अतः ऐसी कुछ व्यवस्था होनी चाहिए जिससे शासन व्यवस्था की दृष्टि से सरकार पर

सतत निरीक्षण बना रहे तथा उसे नागरिकों के जीवन पर एवं स्वतंत्रता पर हमला करने का मौका न मिले। यह व्यवस्था शासन के निचले स्तर के केन्द्र से लेकर उस विभाग के मुख्य केन्द्र तक रहनी चाहिये। कानून की अच्छाई बुराई, उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता यह नागरिकों के जीवनों पर पड़ने वाले उनके प्रभाव के आधार पर स्थिर की जानी चाहिये। आम ऊपर से पीला तथा पका हुआ लगता हो पर खाने पर भीतर से खट्टा निकले तो उसका उपयोग कुछ भी नहीं। ठीक इसी प्रकार कानून की भी बात है। देखने में कानून कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसका प्रभाव जिन लोगों के जीवन पर होगा, उनकी दृष्टि से यदि वह ठीक न हो, तो उसका क्या लाभ? अतः उचित यही होगा कि जिन लोगों पर कानून का साक्षात् प्रभाव पड़ने वाला है, उनसे पूछकर तथा उनकी सलाह से उसका निर्माण होना चाहिये। इस दृष्टि से, जैसा हम पहले कह आये हैं, सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिये। दिल्ली में बैठकर मायुर्वे की राजनीति का विचार संभव नहीं होगा। साधारणतया कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का काम मुख्य तथा केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में होना चाहिये तथापि छोटी-मोटी बातों में, जिनका प्रभाव बहुत ही सीमित प्रदेश तथा सीमित जनसमूह पर पड़ता हो, स्थानीय लोगों की सलाह अवश्य ली जानी चाहिये। लोगों पर उत्तरदायित्व डालने से वे उत्तरदायित्व को महसूस करने लगते हैं। उत्तरदायित्व के महसूस होने पर लोग उसको ठीक-ठीक निभाने की दृष्टि से विचार करने लगते हैं। और इस प्रकार विचार करना प्रारम्भ करने पर उनमें चातुर्य उत्पन्न होने लगता है। कार्यकुशलता उदित होती है। सामुदायिक स्वरूप का उत्तरदायित्व होने के कारण सामुदायिक एवं सामान्य आवश्यकताओं का विचार लोग अधिक करने लगते हैं तथा इस बात का भी अहसास होने लगता है कि सामान्य एवं सामुदायिक आवश्यकताएँ क्या हैं? सामुदायिक आवश्यकताओं का अहसास हो तथा उन्हें पूरी करने के लिये हाथ में कुछ अधिकार भी हों, तो लोगों को उत्साह प्रतीत होता है तथा उनके प्रयत्नों पर तेज चढ़ने लगता है। ऐसे प्रयत्नों की सफलता से उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता होती है तथा उनकी सामुदायिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। ऊपर से कुछ चीज लाद दी गई, बगैर मेहनत के कुछ सुविधाएँ हासिल हो गईं, तो उसमें आनन्द के होने पर भी व्यक्ति के नैतिक जीवन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। आज सारे देश में विकास के क्षेत्र दिखाई देते हैं। अनेक गाँवों में रास्ते, कुएँ, स्कूल, पुलिस चौकियाँ तथा आधुनिक खेती की जानकारी कराने के केन्द्र आज उपलब्ध हो गये हैं, पर ये सारी चीजें सरकार की मार्फत तथा सरकार द्वारा प्रणीत व्यवस्था के कारण हुई हैं। लोगों में आत्मोन्नति की वृद्धि तथा विकास की तीव्र इच्छा अभी बहुत बड़े पैमाने पर दिखाई नहीं देती। गाँवों का विकास हो रहा है पर गाँव वालों का विकास नहीं हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि गाँव वालों का विकास हो। इसका यह अभिप्राय नहीं कि गाँव वालों का विकास कुछ महत्व नहीं रखता। गाँव वाले सुधर जायँ, तो गाँव भी सुधर जाते हैं तथा उस सुधार का स्रोत अखंड बना रहता है। अतः इस दृष्टि से जो कुछ भी किया जाय वह उन्हीं लोगों के हाथों से होना चाहिये, जिनके लिये सब किया जा रहा

रहा है, वह प्रटल एवं अनिवार्य है, ऐसा सोचकर वे प्रवाहित तथा पराजित हो जाते हैं। बहुत थोड़े व्यक्ति प्रयत्नशील होते हैं तथा जो अपनी शक्ति की सीमा से बाहर की बातें हैं, उन्हें बदलने की कोशिश करते है। कुछ लोग सफल भी हो जाते हैं। कुछ लोग समाज की कुत्सित वृत्ति के शिकार बनते हैं। तथापि संसार के बड़े-बड़े इतिहास के ग्रोघ को बदलने वाली बातें इन्हीं थोड़े से निश्चयी व्यक्तियों के मोमुग्र ही से उद्गत होती है। समाज के आदर्शों का पालन करने की यह तपश्चर्या सर्वसामान्य लोगो के हाथ में नही होती। सतत जाग्रत रहने का काम भी सब नागरिकों के हाथ में नही होता। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यो में यह जागृति का काम प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता है। जो व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिए, वह राजकीय संस्था के मार्फत किया जाता है। एक दृष्टि से समाज यह कार्यपालिका को सौंप देता है तथा सार्वसामान्य लोग अपने प्रतिनिधि चुनकर अपने ऊपर का भार प्रतिनिधियों के कंधों पर डाल देते हैं। जिस प्रकार पुरोहित द्वारा किया गया धर्म-कर्म सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जाता, इसी प्रकार केवल प्रतिनिधियों का चुनाव कर देने भर से नागरिक की इतिकर्तव्यता पूरी हो गई, ऐसा नहीं मानना चाहिए। चुनाव से लोकमत का अनुमान होता है, यह सही है। नागरिक समझता है कि उसकी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान उसके प्रतिनिधि को है ही अत: उसकी शिकायतों की ठीक-ठीक सुनवाई हो सकेगी। नागरिकों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का भार प्रतिनिधि ने अपने कन्धों पर ले लिया है, ऐसा विश्वास उन्हें हो जाता है। पर केवल प्रतिनिधियों को चुनने से उनका कर्तव्य पूरा हो गया, ऐसा यदि नागरिक समझे तो वह ठीक नही। यह नही कहा जा सकता कि प्रतिनिधि सदैव योग्य, निःस्पृह एवं कर्तव्यदक्ष होगा। प्रजातन्त्र का मतलब है 'घडेबाजी'। तथा ऐसी घडेबाजी की राजनीति में कब राजा का रंक एवं रंक का राजा हो जाय, इसका भरोसा नहीं होता। सभी प्रतिनिधि ऐसे नहीं होते, जो अपने हितों के बारे में उदासीन रहें। बहुत बार तो वे अपने हितों को ही मतदाताओं का हित मानकर चलते है तथा इस प्रकार वे खुल्लम खुल्ला अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं। भारत के लिए प्रजातन्त्र एकदम नई चीज है, अतः सारा भार प्रतिनिधियों के कन्धों पर डालकर निश्चित हो जाना ठीक नहीं। उससे स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकेगी। सारा भार सन्तों के सिर मढ देने से काम नहीं चलेगा। भक्तों को भी कुछ भार अपने ऊपर लेना चाहिए। साथ ही प्रजातन्त्रात्मक राज्य का काम-काज किस प्रकार चलता है, इसका विचार करते समय यह कहना भी ठीक न होगा कि संसद् (पार्लियामेंट) अकेली ही स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकेगी। योग्य प्रतिनिधि चुने गये, पार्लियामेंट ने भी अच्छा कानून पास कर दिया। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकेगा कि कार्यपालिका पार्लियामेंट के उद्देश्य की पूर्ति पूरी तरह से कर ही सकेगी। आजकल के राज्य के बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र को देखते हुए सरकार क्या करती है, किस तरह करती है तथा कब करती है इस बात की ओर नागरिकों को अधिक ध्यान देना चाहिए। चुनाव पाँच बरस बाद एक बार होगा। पार्लियामेंट जो कानून पास करेगी वह छठे छमाहे कभी एक बार। परन्तु नागरिकों के जीवन से प्रतिक्षण तथा प्रतिदिन जो सम्बन्ध आता है, वह सरकार ही का आता है। अत: ऐसी कुछ व्यवस्था होनी चाहिए जिससे शासन व्यवस्था की दृष्टि से सरकार पर

सतत निरीक्षण बना रहे तथा उसे नागरिकों के जीवन पर एवं स्वतंत्रता पर हमला करने का मौका न मिले। यह व्यवस्था शासन के निचले स्तर के केन्द्र से लेकर उस विभाग के मुख्य केन्द्र तक रहनी चाहिये। कानून की अच्छाई बुराई, उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता यह नागरिकों के जीवनों पर पड़ने वाले उनके प्रभाव के आधार पर स्थिर की जानी चाहिये। आम ऊपर से पीला तथा पका हुआ लगता हो पर खाने पर भीतर से खट्टा निकले तो उसका उपयोग कुछ भी नहीं। ठीक इसी प्रकार कानून की भी बात है। देखने में कानून कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसका प्रभाव जिन लोगों के जीवन पर होगा, उनकी दृष्टि से यदि वह ठीक न हो, तो उसका क्या लाभ? अतः उचित यही होगा कि जिन लोगों पर कानून का साक्षात् प्रभाव पड़ने वाला है, उनसे पूछकर तथा उनकी सलाह से उसका निर्माण होना चाहिये। इस दृष्टि से, जैसा हम पहले कह आये हैं, सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिये। दिल्ली में बैठकर आबुई की राजनीति का विचार संभव नहीं होगा। साधारणतया कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का काम मुख्य तथा केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में होना चाहिये तथापि छोटी-मोटी बातों में, जिनका प्रभाव बहुत ही सीमित प्रदेश तथा सीमित जनसमूह पर पड़ता हो, स्थानीय लोगों की सलाह अवश्य ली जानी चाहिये। लोगों पर उत्तरदायित्व डालने से वे उत्तरदायित्व को महसूस करने लगते हैं। उत्तरदायित्व के महसूस होने पर लोग उसको ठीक-ठीक निभाने की दृष्टि से विचार करने लगते हैं। और इस प्रकार विचार करना प्रारम्भ करने पर उनमें चातुर्य उत्पन्न होने लगता है। कार्यकुशलता उदित होती है। सामुदायिक स्वरूप का उत्तरदायित्व होने के कारण सामुदायिक एवं सामान्य आवश्यकताओं का विचार लोग अधिक करने लगते हैं तथा इस बात का भी अहसास होने लगता है कि सामान्य एवं सामुदायिक आवश्यकताएँ क्या हैं? सामुदायिक आवश्यकताओं का अहसास हो तथा उन्हें पूरी करने के लिये हाथ में कुछ अधिकार भी हों, तो लोगों को उत्साह प्रतीत होता है तथा उनके प्रयत्नों पर तेज चढ़ने लगता है। एवं प्रयत्नों की सफलता से उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता होती है तथा उनकी सामुदायिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। ऊपर से कुछ चीज लाद दी गई, बगैर मेहनत के कुछ सुविधाएँ हासिल हो गईं, तो उसमें आनन्द के होने पर भी व्यक्ति के नैतिक जीवन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। आज सारे देश में विकास के क्षेत्र दिखाई देते हैं। अनेक गांवों में रास्ते, कुएँ, स्कूल, पुलिस चौकियाँ तथा आधुनिक खेती की जानकारी कराने के केन्द्र आज उपलब्ध हो गये हैं, पर ये सारी चीजें सरकार की मार्फत तथा सरकार द्वारा प्रणीत व्यवस्था के कारण हुई हैं। लोगों में आत्मोन्नति की वृद्धि तथा विकास की तीव्र इच्छा अभी बहुत बड़े पैमाने पर दिखाई नहीं देती। गांवों का विकास हो रहा है पर गांव वालों का विकास नहीं हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि गांव वालों का विकास हो। इसका यह अभिप्राय नहीं कि गांव वालों का विकास कुछ महत्व नहीं रखता। गांव वाले सुधर जायें, तो गांव भी सुधर जाते हैं तथा उस सुधार का स्रोत अखंड बना रहता है। अतः इस दृष्टि से जो कुछ भी किया जाय वह उन्हीं लोगों के हाथों से होना चाहिये, जिनके लिये सब किया जा रहा

है। लोग सरकारी काम काज मे रुचि ले तथा उन्हे उसमें आनन्द अनुभव होने लगे, तो समझिये सरकार सही अर्थों मे सरकार है। सामान्यतया हम देखते हैं, नियम, नमूने, पत्रक तथा परिशिष्ट आदि मे ही सरकार के कामकाज की परिसमाप्ति हो जाती है। फल की अपेक्षा कार्यपद्धति पर ही समय एव पैसे का व्यय होता है। व्याकरण शुद्धता की ओर अधिक ध्यान देने से जिस प्रकार अर्थसौरभ एव पद-लालित्य की क्षति होती है तथा काव्य मे रूक्षता एव एकरसता आती है, वैसा ही कुछ तब होता है, जब सत्ता अधिकाधिक केन्द्रित हो जाती है। केन्द्र मे भीषण चहल-पहल तथा दूरस्थ क्षेत्रो मे पूर्णतया नि शब्दता। केन्द्र मे कफवायु तथा परिधि मे अर्धांगवायु—ऐसा चित्र दृष्टिगोचर करता है। (ऐपिलेप्सी इन सेन्टर एण्ड पैरेलेसिस ऐट दि सरकमफरेन्स)।

राजकीय कार्यव्यवहार मे केन्द्रीकरण नही होना चाहिये। केन्द्रीकरण से भले ही ऊपरी दृष्टि से व्यवस्था क्यो न दृष्टिगत हो, पर वास्तव मे अव्यवस्था ही रहती है। सब क्षेत्रो की आवश्यकताओ मे समानता के न होते हुए भी राजकीय कार्य-व्यवहार सब कही समान होता है तथा उसका मुख्य उद्देश्य—अर्थात् लोक सन्तोष—पूरा नही हो पाता। राजकीय कार्यव्यवहार कितना भी कार्यक्षम क्यो न हो, उसकी सफलता की एकमात्र कसौटी लोगो का सतोष ही है। काम ठीक चल रहा हो, पर लोग नाराज हो तो इससे राज्य की प्रतिष्ठा नही बढती। काम नियमानुकूल भले ही हो, वह मनोनुकूल नही हो पाता। लोग राजकीय काम-काज मे हाथ बटायें और दिलचस्पी लें तो सामाजिक शान्ति एव सतोष की स्थापना अधिक होती है। सामाजिक सतोष तब होता है, जब लोग समझें कि काम उनके हाथो से हुआ है। दक्षिण के मन्दिरो में भक्त को खुद पूजा नही करने दिया जाता। वह पुरोहित को पैसे देता है, तथा पुरोहित उसकी ओर से पूजा करता है। इससे भक्त को उतना सतोष नही होता, जितना उसे अपने हाथ से पूजा करने पर होता। इसी प्रकार राजकीय काम-काज भी केन्द्रित हो जाय तथा केवल नौकरशाही के हाथो होने लगे, तो लोग नाराज हो जाते है और सब कही एक जैसे काम-काज के होते हुए भी लोग सतुष्ट एव प्रसन्न नही होते। अत लोगो का राजकीय काम-काज के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिये। इससे सहयोग बढता है। 'जिस काम को गाँव कर सकता है उसे राव नहीं कर सकता, इस उक्ति का आशय ध्यान मे रखना चाहिये। इस दृष्टि से स्थानीय मामलो मे—स्थानीय स्वराज्य विषयक कामकाज मे—किंवा गाँवो से सम्बन्धित शासन के मामलों मे लोगो का अधिक से अधिक हाथ होना चाहिये। जितनी समानता अनिवार्य हो, उतनी रहने दी जानी चाहिये तथा अन्य सारा काम-काज स्थानीय इकाइयो को सुपुर्द कर दिया जाना चाहिये। वह इकाई चाहे कोई गाँव हो, या गाँवो का कोई समूह हो। सर्वसाधारण नीति के अनुरूप एव कार्य क्षमता की दृष्टि से बनाये गये नियमो के अनुरूप राजकीय काम-काज करने की स्थानीय लोगो को पूरी छूट होनी चाहिये। इस व्यवस्था मे विभिन्न स्थानो पर प्राप्त होने वाला अनुभव सम्पूर्ण राज्य के लिये उपयोगी साबित होता है। एक निश्चित सीमा मे रहकर परीक्षा करने की छूट हो तो अनेक स्थानीय स्वरूप के परीक्षण होगे तथा उनमे से कुछ ऐसे अनमोल अनुभव प्राप्त

होंगे, जो व्यापक राज्य की दृष्टि के बहुत महत्व के सिद्ध होंगे। जहाँ परिस्थिति समान हो, वहाँ समान रूप के कानून एवं नियम लागू हों तो कोई आपत्ति नहीं। पर 'सब घोड़े बारा टक्के' यह न्याय ठीक नहीं। रोग एक ही हो, तो भी सब रोगियों का इलाज एक ही दवा से करना शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध प्रक्रिया नहीं है। 'युक्तियुक्त रसायनम्' यह न्याय जिस प्रकार वैद्यों के लिये ठीक है, उसी प्रकार राजकीय व्यवहार के लिये भी ठीक है। व्यवहार में तारतम्य का रहना बहुत जरूरी है। एकांगी कल्पना राजनीति में अनुचित साबित होती है तथा कभी-कभी घातक भी साबित होती है। भाषा के आधार पर प्रान्तों की रचना ठीक है तथापि सब कहीं एक ही प्रकार से उसे लागू करना योग्य नहीं होता। इतिहास, परम्परा तथा अन्य सामाजिक कारणों का उचित रूप से विचार करके ही किसी भी सिद्धान्त को काम में लाना चाहिये। लोगों को अपनी मर्जी के मुताबिक स्थानीय राजकाज चलाने का मौका देने से, तथा उनपर उसका उत्तरदायित्व डाल देने से लोगों को इस बात का अहसास होता है कि उन्हें अपने सवालों को अपने आप ही हल करना चाहिये तथा उत्तम रीति से हल करना चाहिये। तथा इस प्रकार अनुभव प्राप्त करते हुए वे कुशल होते जाते हैं, पक्व होते जाते हैं तथा इससे उनका नागरिकत्व श्रेष्ठ होता जाता है। उनमें विचार करने की क्षमता बढ़ती है। राज्य का सार्वजनिक जीवन उन्नत हो जाता है। केवल अधिकार के जोर पर काम-काज चलाना अथवा कानून को अमल में लाना, कुछ देर के लिये, अधिक सुगम प्रतीत हो सकता है, पर वास्तविक कार्यक्षमता इस मामले में नहीं दिखाई देगी। जो वस्तु अपनी इच्छा एवं खुशी से स्वीकार नहीं की जाती, वह देर तक टिक नहीं सकती तथा कब उसके विरुद्ध विद्रोह भड़क उठे, नहीं कहा जा सकता। सरकार कानून बनाती है इसके मानी यह हुए कि उसे कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु इतने से यह नहीं कहा जा सकता कि वह कानून एकदम उचित ही है। कानून की नैतिक प्रतिष्ठा नागरिकों के संतोष एवं स्वीकृति पर अवलंबित है। अतः सामान्यतः जनमत का विचार करके, लोगों की भावना एवं विचारधारा को ध्यान में रखकर यदि ऐसा कानून बनाया जाय, जो उक्त बातों के विरुद्ध न जाता हो तो निश्चय से उसे नैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी तथा उसे अमल में लाने में जनता को किसी प्रकार का विषाद नहीं होगा। वह उसका पालन योग्य रीति से करेगी। जब जनता यह जानती है कि यह काम-काज अपना ही है, हमी ने यह नियम बनाये हैं तब वह प्रसन्न रहती है।

आधुनिक समाज अब पहले की भाँति नहीं रह गया है। पहले वह जिस अर्थव्यवस्था पर आधारित था, वह अब रह नहीं गई है। समाज के व्यवहार एवं व्यवसाय इतने बढ़ गये हैं कि पुरानी परम्परा तथा पुराने मूल्य अब अनुपयोगी साबित होने लग गये हैं। पुरानी बाराबन्दी (अर्थात् अंगरखा) अब कोई नहीं पहनता है। जैसे हर साल कपड़ों का फैशन बदलता है, उसी तरह सामाजिक विचारधारा भी बदलती है। नई-नई निष्ठाएँ, नई-नई अस्मिताएँ तथा धारणाएँ निर्माण होती जाती हैं। अब कोई भी राष्ट्र अकेला नहीं रह गया है। किसी भी राष्ट्र में घटित घटना की प्रतिध्वनि गोल गुम्बज की गूँज की भाँति सारे संसार में सुनाई देती है।

दुनिया के किसी भी कोने मे कोई घटना क्यों न घटे, उसका प्रभाव दुनिया के पिछड़े हुए हिस्से पर भी अवश्य पड़ेगा। युद्ध छिड़ जाय तो अब युद्ध-भूमि का विस्तार केवल प्रत्यक्ष युद्ध मे पड़े हुए राज्य के प्रादेशिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर उस युद्ध का प्रभाव सारे ससार पर पड़ता है। युद्ध छिड़ा कोरिया मे और पूना मे चीजों के दाम बढ गये। यह अनुभव अब सार्वत्रिक हो गया है। राजनीतिक क्षेत्र की भाँति सामाजिक विचार एव व्यवहार क्षेत्र मे भी जो बात एक स्थान पर होती है, उसकी प्रतिध्वनि सब कही सुनाई देती है। इस दृष्टि से विचार करने पर, जिस प्रकार स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए प्रादेशिक दृष्टि से विकेन्द्रीकरण अभीष्ट प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह काम की दृष्टि से भी अभीष्ट है। समाज में अब वकील, व्यापारी, वैद्य तथा उद्योगी काम की दृष्टि से आधुनिक समाज मे आधुनिक राज्य मे सगठित होते जा रहे हैं। वकीलो का मण्डल, वैद्यो का मण्डल, व्यापारी संघ आदि सारे सगठन कार्य-विषयक दृष्टि से बने हुए हैं। उनमे प्रादेशिक भाव का महत्त्व मुख्य नही है। अब सवाल यह पैदा होता है कि उनका उन-उन कार्यक्षेत्रो मे नियमन करने की व्यवस्था होनी चाहिए या नही। उन व्यवसायो को अपनाने वाले लोग ही अपनी आवश्यकताओं को समझ सकते है। चूंकि वे अपने अनुभव के आधार पर बात करते है, अत उन लोगो को भी कुछ-एक प्रतिबन्धों के साथ अपने व्यवसाय का नियमन करने का अधिकार देना उचित प्रतीत होता है। आज अनेक राज्यों मे यह व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। सारे भारत के वकीली पेशे के लोगो का एक सगठन बनने जा रहा है। कुछ सामान्य स्वरूप के प्रतिबन्ध राज्य निश्चित कर देगा तथा उसके अनुरूप ही उस पेशे की व्यवस्था तथा तत्सम्बन्धी अनुशासन की व्यवस्था उस पेशे के सगठन को ही करनी होगी। ऐसा ही विभिन्न प्रकार के पेशो के सम्बन्ध मे भी होगा। जो पेशो के क्षेत्र की बात है वही उद्योग-धधो के क्षेत्र की भी बात है। होना अभीष्ट भी है। मजदूर तथा मालिको के सम्बन्धो को निश्चित तथा नियमित करने वाले कानून सर्वसामान्य रूप मे सरकार बना देगी। तथापि विभिन्न व्यवसायों के मुख्य तत्त्वो को ध्यान मे रखकर मुख्य कानूनो के अनुसार अनेक नियम बनाने पड़ेंगे। क्योंकि उन-उन धधो की परिस्थिति को ध्यान मे रखकर ही वैसा करना उचित होगा। इस रीति मे यदि राज्य का काम-काज चले, तो केवल आवश्यक मात्रा मे ही समानता रखकर शेष सभी क्षेत्रो मे पूरी छूट देने से लोगो को स्वतंत्रता का अनुभव अधिक होगा तथा लोगो के कर्तृत्व को अधिक अवसर प्राप्त होगा। इसमे सन्देह नही कि उनकी वृत्ति अधिक विधायक स्वरूप की होगी। स्वतत्रता तथा उत्तरदायित्व दोनों जहाँ एकत्र होते है वही प्रयत्न हाथ जोड़कर खड़े होते हैं, यह अनुभव है।

अब तक के विवेचन मे हमने बताया कि कानून एव नियमों का पालन बल-प्रयोग द्वारा न होकर सतोषपूर्वक होना चाहिए। कानून अथवा नियम केवल इसीलिए ठीक नहीं माने जा सकते कि उन्हें बनाने वाले वही व्यक्ति हैं, जिन्हें उनके बनाने का अधिकार मिला हुआ है। यो हम कानून की दृष्टि से देखें तो किसी सुलतान एवं स्वेच्छाचारी शासक को मनमाने कानून बनाने का अधिकार है। पर केवल इसलिए उसके द्वारा बनाए गए कानून को न्यायोचित नहीं कहा जा सकता कि उसे उनके

बनाने का अधिकार प्राप्त है। कानून की वांछनीयता अथवा औचित्य का निश्चय लोकमत एवं लोक-आकांक्षा को ध्यान में रखकर किया जाता है। अधिकारयुक्त व्यक्ति अथवा संगठन द्वारा जारी किया गया आदेश ही कानून कहलाता है, ऐसा कहना संकुचित दृष्टि का द्योतक तो है ही परन्तु इस विचारधारा में नैतिकता एवं वैधत्व भी नहीं है। (कान्स्टीट्यूशनल) कानून लोक-व्यवहार के नियमन के लिए होते हैं। अतः लोगों की इच्छाओं एवं भावनाओं को अधिक महत्त्व प्रदान करना चाहिए। 'ग्राम रामेश्वरी एवं अन्य सोमेश्वरी, ऐसी बात यदि कानून द्वारा होने लगे तो कानून बेकार हो जाता है तथा कानून का मुख्य प्रयोजन—लोक व्यवहार का नियमन—सिद्ध नहीं होता। जितनी मात्रा में वह समाज की विचारधारा तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप होगा, उतनी ही मात्रा में उसे लोग अन्तःकरणपूर्वक स्वीकार करेंगे। पसन्द आने के कारण किसी बात को मंजूर करने में तथा केवल दण्ड के भय से किसी बात को मंजूर करने में बहुत बड़ा मौलिक भेद है। लोगों की इच्छाओं को ठीक से समझ कर कानून बनाना चाहिए। क्योंकि कानून का कानूनपना, उसकी वैधता तथा उसकी नैतिक प्रतिष्ठा लोगों की अन्तःकरणपूर्वक दी गई मंजूरी पर ही अवलम्बित है। लोगों की इच्छाओं को जानने का उपाय यह है कि जिस प्रणाली से कानून बना करता है, उस प्रणाली की प्रत्येक अवस्था में सरकार को लोगों की इच्छा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में सरकार को लोगों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। लोगों को जो बातें मौलिक प्रतीत होती हैं, नैतिक जीवन के लिए अपरिहार्य प्रतीत होती हैं, यदि कानून की व्यवस्था उनके विरुद्ध जाती हो, तो लोग उन्हें मंजूर नहीं करेंगे, उनका विरोध करेंगे तथा समय पड़ने पर वे क्रांति द्वारा प्रचलित शासन को उखाड़कर फेंक देंगे। यह हो सकता है कि लोगों की मौलिक श्रद्धा अथवा नैतिक भावना गलत हो या पागलपन की हो, संकुचित हो। परन्तु उनकी मौजूदगी से इन्कार नहीं किया जा सकता। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि उपयोगिता की दृष्टि से गोवध अनुचित नहीं है तथापि चूँकि लोग गौ को माँ के समान आदर एवं श्रद्धा की वस्तु समझते हैं, अतः आप उसके विरुद्ध कानून नहीं बना सकते। यदि आप कोई ऐसा कानून बना डालें, जो लोगों की इस श्रद्धा को ठेस पहुँचाने वाला हो, तो निःसन्देह लोकमत विक्षुब्ध हो उठेगा। यह सही है कि लोगों की श्रद्धा एवं मान्यता एकदम निरपेक्ष नहीं है। समयानुसार वह भी बदलती है। तो भी जब तक वह श्रद्धा एवं मान्यता चालू सिक्के का काम करती है, तब तक उनका भी मूल्य है तथा यदि समाज के व्यवहार में उन्हें माना न गया तो स्वभावतः असन्तोष पैदा होगा। रुक नहीं सकेगा। अतः इन मौलिक श्रद्धाओं के बारे में शासक को बहुत ही सावधानी से काम लेना चाहिए। हर कहीं कानून का उल्लंघन होने लगे, हर छोटी-मोटी चीजों पर सत्याग्रह होने लगे, तो अराजकता फैल जाएगी, सरकार भङ्ग हो जाएगी इत्यादि बातों के उपदेश से जनता अपनी मौलिक श्रद्धा को तिलांजलि देने के लिए राजी नहीं होगी। प्रत्येक युग में ऐसे दो चार व्यक्ति अवश्य होते हैं जो अराजकता को पसन्द करेंगे किन्तु सरकार द्वारा किए जाने वाले कृत्यों को सहन नहीं करेंगे। ये लोग सरकार के विरुद्ध विद्रोह की बात करते हैं तथा निर्भीक होकर अनन्य श्रद्धा से सरकार

के विरुद्ध प्रचार करते हैं। समय पाने पर इन्हीं लोगों का दृष्टिकोण आम जनता का दृष्टिकोण बन जाता है। संसार के इतिहास में जितने भी बड़े बड़े समाज सुधार के आन्दोलन हुए हैं, उनका जन्म इन्हीं थोड़े से व्यक्तियों के मानस-सरोवर में हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह साफ जाहिर हो जाता है कि राज्य का कानून सभी सही मानों में अमल में लाया जा सकता है, जब जनता की सहमति एवं स्वीकृति उसे प्राप्त हो। कानून एवं जनता का विवाह राक्षसी विवाह न होकर प्रेम-विवाह होना चाहिए। इस कथन में काव्य भी है, वस्तुस्थिति भी। कानून केवल आज्ञा नहीं है, वह एक आमन्त्रण है। उस कानून में तथा उसकी व्यवस्था में जनता को अपने अनुभव का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए। आशा की किरण दिखाई देनी चाहिए। तथा जनता का व्यापक एवं रचनात्मक स्वरूप का सहयोग प्राप्त करने तथा उसका पालन करवाने के लिए कानून बनने से पूर्व अधिकाधिक संख्या में लोगों के साथ उस पर विचार-विनिमय किया जाना चाहिए। और आधुनिक राज्य का अनुभव यह है कि यदि कानून लोगों की मर्जी के खिलाफ चला जाय तो उसे कभी स्थिरता या प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकती। इससे समाज की शांति नष्ट हो जाती है तथा इस बात का नियम नहीं रह जाता कि कब जनता संघर्ष के लिए उतारू हो जाए। कानून बनाने वालों को इस बात की जानकारी अवश्य होनी चाहिए कि जनता को कानूनी अधिकार हासिल हैं तथा जो भी कानून बने उसमें जनता के ये अधिकार जरूरी दीखने चाहिएँ। नागरिक को यह प्रतीत होना चाहिए कि कानून उचित तथा सब दृष्टियों से अभीष्ट है। यदि यह प्रतीत नहीं होगा तो जाहिर है कि उस कानून को मानने के लिए प्रेरणा देने वाली कोई वस्तु-स्थिति नहीं रह जाएगी। ऐसी स्थिति में कानून का पालन करना अपने को नापसन्द पति के साथ वैवाहिक जीवन व्यतीत करने की सी अवस्था हो जाएगी। मन में घुटन पैदा होगी। बुद्धि निष्प्रभ हो जाएगी। व्यक्ति का विकास रुक जाएगा। विफलता तथा विमनस्कता शनैः-शनैः उसके जीवन में प्रवेश करने लगेगी। फल यह होता है कि जीवन एकदम कुण्ठित हो जाता है। समाज की दृष्टि से समाज का नैतिक सामर्थ्य घट जाता है तथा कानून को स्वीकार करने का सीधा अर्थ हो जाता है अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धो बैठना। यह सही है कि लोग इस स्थिति में भी ऊपरी तौर से कानून को मानेंगे और उसका पालन भी करेंगे। पर कुछ-न-कुछ लोग ऐसे जरूर निकलेंगे जो उस कानून का विरोध करेंगे तथा अपने नैतिक बल से इस समाज-जीवन रूपी वृक्ष को जडमूल से हिला डालेंगे। अत अधिक-से-अधिक मात्रा में अधिक-से-अधिक लोगों के विचारों को ध्यान में रखते हुए, उनके अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए, कानून की रचना की जानी चाहिए। आधुनिक राज्यों में, खास करके प्रजातान्त्रिक राज्यों में, राज्य सत्ता केवल अपनी सत्ता के बल पर अनिश्चित काल तक अपना शासन नहीं चला सकती। जितनी मात्रा में राज्य-सत्ता जनता को इस बात का विश्वास दिला सकेगी कि उसका शासन अच्छा है तथा जनता के लिए हितकर है, उतनी मात्रा में ही वह अपनी सत्ता को टिका कर रख सकेगी। लोगों का विश्वास हासिल करने के मानी उनकी ऊपरी सहमति हासिल करना नहीं है। उनके अन्तः-

करण को इस बात का विश्वास होना चाहिए। अन्ततः, राज्य तो नागरिकों का है और एक नागरिक भले ही क्षुद्र क्यों न दिखाई दे, वास्तव में वह क्षुद्र नहीं है। उसकी मानसिक शक्ति में से समाज की नैतिक शक्ति उत्पन्न होती है। उसके विचारों में से समाज के नैतिक मूल्यों का निर्माण होता है और राज्य अन्ततोगत्वा इन्हीं नैतिक मूल्यों पर टिका होता है। जो मन को सही नहीं प्रतीत होगा, उसे मन स्वीकार नहीं करेगा। तथा अन्त में उसकी श्रद्धा उसे सारी दुनिया के विरुद्ध निर्भय हो खड़े होने के लिए प्रोत्साहित करेगी। यदि आप चाहते हैं कि लोग राज्य के प्रति निष्ठावान् रहें, तथा कानून का पालन करें, तो उसके लिए आपको उनकी सहमति से ही काम करना होगा। कहना होगा, जनता की सहमति एवं स्वीकृति समाज धारणा का श्रेष्ठ जीवन-तत्त्व है। कोई भी राज्य-सत्ता इसकी उपेक्षा करेगी तो वह स्वयं भी उपेक्षित हो जाएगी।

उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को कोई बात उसकी बुद्धि को न जँचे, तो सर्वथा उच्छृंखल रूप से व्यवहार करने का अधिकार है, तो इससे समाज में अराजकता फैल जाएगी तथा समाज की स्थिरता नष्ट हो जायेगी तथा समाज में आए दिन संघर्ष मचने लग जायेगा। इसी प्रकार यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र एवं स्वेच्छाचारी होने लग जाय तो समाज धारणा का मूल तत्त्व—अर्थात् व्यक्तियों का परस्पर मिल-जुल कर काम करना तथा जो सार्वजनिक हित की बात है उसे मानना—ही नष्ट हो जाएगा। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इस अनुभव की भाषा पर सामुदायिक हित रूपी व्याकरण का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए। व्यक्ति भेद के रहते हुए भी उन व्यक्तियों के बीच जो साधर्म्य है, संयम तथा सौजन्य आदि, उसे तो समाज में प्रतिष्ठित होना चाहिए। समाज की प्रगति के लिए शांति एवं सुव्यवस्था की नितान्त आवश्यकता है। व्यक्तियों में अनेक बातें समान रहती हैं। अनुभव लगभग सबका समान ही रहता है, तथापि सिक्के की भाँति उसमें असमानता भी रहती है। एकता रहती भी है, नहीं भी रहती। एक व्यक्ति का अनुभव शत प्रतिशत मात्रा में दूसरे व्यक्ति के अनुभव से नहीं मिलता। अतः एक व्यक्ति की इच्छा को पूरी तरह से सभी व्यक्तियों की इच्छा नहीं कहा जा सकता। गोफ बुनते समय भिन्न-भिन्न तागे अपना भेद दूर करके गोफ में एकत्र हो जाते हैं। अपना पृथग्भाव दूर करके गोफ नामक वस्तु में स्वत्व को भूल जाते हैं। तथापि संपूर्ण सायुज्यता वहाँ भी नहीं रहती। एक-एक तागा वहाँ रहता है। दूसरी उपमा गुड़दानी की लीजिये। उसके गुड़ में हर दाना मिला रहता है। तथापि प्रत्येक दाने का अस्तित्व अनुभूत होता है। यही स्थिति व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों के बारे में भी होती है। वहाँ ऐकात्म्य भी है पार्थक्य भी है। अतः व्यक्ति अपनी सारी स्वतंत्रता समाज रूपी सामष्टिक अस्तित्व में विलीन नहीं करना चाहता। जीवन के किसी क्षेत्र को व्यक्ति अपने लिए अलग से रख लेना चाहता है। उसमें वह अन्य किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता। राज्य की आज्ञाओं को वह अपने क्षेत्र की सीमाओं में प्रवेश करने नहीं देता। उसे अपने उस क्षेत्र में अन्य किसी का अधिकार प्रिय नहीं होता। उस क्षेत्र में उसकी अपनी कुछ नैतिक भावनाएँ

होती हैं; कुछ मूल्य होते हैं और वह उनके साथ तन्मयता प्राप्त करता है। यहाँ उसका व्यक्तित्व एवं वे व्यक्तिगत मूल्य एक दूसरे के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते है। इस हालत में, यदि उस पर कुछ ऐसी बातें लाद दी जायँ, जो उसे जँचती नहीं है, तो वह समझता है कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो रहा है। उसे लगता है कि कोई उससे गुलामों जैसा काम ले रहा है। इससे उसके जीवन में अस्तव्यस्तता आ जाती है। यह सोचकर कि वह किसी के हाथ का खिलौना बनाया जा रहा है, भौचक्का हो जाता है। जब वह देखता है कि जो कुछ वह बनना चाहता है, बन नहीं पाता, तब उसे लगता है कि कानून एवं सिस्टम की जबर्दस्ती है, तथा उसके द्वारा उसके व्यक्तित्व पर हमला किया जा रहा है। उसे लगता है कि उसकी कल्पना का विश्व सिमट गया है। यदि आप चाहते हैं कि व्यक्ति का जीवन उसकी दृष्टि में अधिक सार्थक एवं परिपूर्ण हो तो राज्य के कानून आपको उसकी अधिकाधिक इच्छा के एवं सहमति के अनुरूप बनाने पड़ेंगे तथा उनमें 'आदेश' का स्वरूप न्यूनातिन्यून रखना होगा। तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होगा एवं उसकी रचनात्मक वृत्ति भी वृद्धिगत होगी। व्यक्तिमात्र को अपनी सदसद्विवेक बुद्धि को जँचने वाली बात को कहने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। भोजन में जो स्थान नमक का है, वही स्थान व्यक्ति के जीवन में स्वतन्त्रता का होना चाहिए। उसकी सदसद्विवेक बुद्धि का मार्ग-दर्शन करने वाली सामाजिक परम्पराएँ एवं संस्थाएँ हो सकती हैं। तथापि यह बात जाहिर है कि वह मार्ग-प्रदर्शन उसे कभी-कभी अपूर्ण प्रतीत होता है। सामाजिक परम्परा, संस्था तथा देश के कानून अनुभव पर आधारित हों तो उनसे उसका मार्ग-दर्शन अधिक मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि यदि कभी उसे वह अपूर्ण प्रतीत हो तो उसे अपनी सदसद्विवेक बुद्धि को जैसा जँचे वैसा व्यवहार करने की छूट रहनी चाहिए। तथापि यह छूट या स्वतंत्रता निःसीम नहीं होती। उस पर समाज के मौलिक हित की सीमाएँ रहती हैं। व्यक्ति को इन सीमाओं का औचित्य स्वीकार करना चाहिए। व्यक्ति समाज में जन्म लेता है तथा जन्मते ही उसे हजारों वर्षों के अनुभव एवं ज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता है। समाज के अनंत उपकार व्यक्ति पर उसके जन्म से ही हो जाते हैं। अत उसे समाज की मौलिक बातों के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के सन्दर्भ ही में घूमता फिरता है। अराजकता को स्थान न देते हुए अपने ध्येय की पूर्ति एवं अपने मूल्यों का परिपोषण करने की वृत्ति व्यक्ति में सामान्यतया रहनी चाहिए। तथापि ऐसे अवसरों का आना असंभव नहीं, जब व्यक्ति के लिए समाज की परंपरा के अनुसार काम करना अथवा राज्य की आज्ञाओं का मानना—उसकी मौलिक श्रद्धा के अनुरूप न होने के कारण—संभव नहीं होता। और तब उसका कर्त्तव्य एवं श्रेष्ठ धर्म हो जाता है, अपनी सदसद्विवेक बुद्धि को जो जँचे उसके अनुसार व्यवहार करना। यह जानकर भी कि अन्याय हो रहा है, जो लोग चुप बैठे रहते हैं, उदासीन प्रेक्षक बने रहते हैं, वे भले ही अधिक व्यावहारिक समझे जायँ पर उन्हें मन ही मन ऐसा लगता है कि उनसे कहीं कोई अपराध हो रहा है। जो लोग खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं, यह सही है कि उन्हें उस विरोध का

प्रायश्चित्त करना पड़ता है तथापि उन्हें एक प्रकार का आत्मिक संतोष अवश्य प्राप्त होता है। जो लोग उदासीन रहते हैं, वे कुछ काल पश्चात् अन्याय के स्तुति के पाठक बनते हैं, यह भी संसार का अनुभव है; अतः स्वतंत्रता का अर्थ अपनी श्रद्धा के प्रति निष्ठावान् रहना तथा उसकी रक्षा के लिए धैर्यपूर्वक विरोध करना है। तथा इस प्रकार का धैर्य जिस समाज में नहीं है वहाँ सच्ची स्वतंत्रता नहीं रह सकती। तथा इस प्रकार का धैर्य जिस व्यक्ति में नहीं वह अपने तईं ईमानदार भी नहीं रह सकता।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी श्रद्धा के अनुसार व्यवहार करने देना उसके व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित होने देना है। इससे वह सृजनशील बनता है तथा उसकी रचनात्मक वृत्ति का संपोषण होता है। तथापि यह परिस्थिति समाज एवं राज्य की स्थिरता के लिए खतरनाक है इस आक्षेप से इन्कार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति-स्वतंत्रता के स्वरूप को इतना व्यापक बना देने से व्यक्ति को प्रचलित सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है, ऐसा मानना तर्कशुद्ध एवं अनिवार्य हो जाएगा। विचारशील व्यक्ति के सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे व्यक्ति स्वातन्त्र्य चाहिए या व्यवस्था, सत्य का आग्रह चाहिए या सुविधा? तथा इस प्रश्न का उत्तर देना किसी के लिए भी आसान नहीं रह जाता। व्यवस्था का यदि यह अर्थ किया जाय कि जो कुछ हो रहा है, उसे चुपचाप सहते जाना तो यह स्थिति समाज की प्रगति की दृष्टि से इष्ट नहीं है। व्यवस्था के नाम पर व्यक्ति की आशाओं पर तथा स्वतन्त्रता पर पानी फेर देना कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। राज्य का विरोध यदि कोई व्यक्ति करता है तो वह एकदम गलत है ऐसा समझना भी ठीक नहीं। शान्ति एवं व्यवस्था के नाम पर विरोधकों को कुचल डालने से सरकार की शक्ति का प्रदर्शन तो होता है पर उसमें अक्लमंदी खोजने पर भी नहीं मिलेगी। मुत्सद्दीगिरी (राजनीति-पाण्डित्य) खत्म हुई कि गुंडेगिरी (मुक्केबाजी) शुरू हो जाती है। ऐसा ही अनुभव सब कहीं दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार हर तरह सारासार का विचार न करके क्रान्ति-क्रान्ति चिल्लाते रहना तथा सत्याग्रह एवं मोर्चों का आलाप अलापना तथा भूख हड़ताल करके न जँचने वाली बात को मंजूर कराना यही आज की राजनीति हो गई है। सत्ताधारियों को सत्ता प्रदर्शन के लिए सत्ता नहीं प्रदान की जाती, बल्कि सत्ता को साधन बनाकर राज्य के समस्त नागरिकों के जीवन को सुखी बनाने की व्यवस्था करने के लिए दी जाती है और यदि उसका उपयोग लोगों के कल्याण के लिए न हो तो सत्ताधारियों के कृत्य द्वेषपूर्ण एवं लोक-कल्याण विरोधी होंगे। लोगों को जो वस्तु चाहिए, उससे उन्हें जबर्दस्ती वंचित रखा जाता हो तो जनता को या तो उस सत्ता का विरोध करने के लिए संगठित हो जाना चाहिए या फिर अपनी मौलिक स्वतंत्रता को तिलांजलि दे देनी चाहिये। आज हमें संसार की जो प्रगति दिखाई देती है, उसका श्रेय प्रत्येक युग में श्रेष्ठ धैर्यशाली व्यक्तियों ने अपने समय की सत्ता का जो विरोध किया तथा जो कार्य किया, उसको है। ये लोग तत्काल यशस्वी (सफल) हो जाते हों, सो बात नहीं है। अपयश (असफलता) का फल उन्हें फाँसी के तख्ते पर झूल कर भोगना पड़ता है। जेल की चहारदीवारी के पीछे बंद रहकर सत्य का मूल्य चुकाना पड़ता है।

स्वाभाविक है। जो लोग शराब पीते थे, उन्हे स्वभावत: लगा कि यह उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा रहा है। शराब के दूकानदारो को अपना रोजगार छिन जाने के कारण सरकार पर बुरी तरह गुस्सा आया। शराबबन्दी के कारण शराब के अड्डे के आस पास का शोरगुल कम हो जाने तथा गुण्डागर्दी के रुक जाने से सामान्य नागरिकों को भला प्रतीत हुआ। कहने का मतलब यह कि हर किसी का अनुभव एक जैसा नहीं होता तथा वह 'पेटेंट मेडीसिन' की भाँति मोल लिया हुआ नही होता। हर किसी का अनुभव उसकी अपनी मिल्कियत होती है। अत: राज्य के किसी आचरण से किसी को सुख होता है या दु:ख, यह प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं तय करना होता है। जो अनुभव एक व्यक्ति को प्राप्त हुआ, वही सब का अनुभव है, ऐसा सिद्धान्त बना बैठना ठीक नही। प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव को आँखो के सामने रख कर काम करना जरूरी तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से प्रगतिशील राज्य का लक्षण समझना चाहिए। अत. हर किसी को खुले तौर पर अपने अनुभव को कह सुनाने की पूरी छूट होनी चाहिए। भाषण स्वतन्त्रता, मुद्रण स्वतन्त्रता तथा संगठन स्वतन्त्रता आदि बातें तथा अधिकार मानसिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से बहुत जरूरी साबित होती हैं। कहना होगा कि इस प्रकार मानसिक स्वतन्त्रता का स्वरूप तीन प्रकार का है। मानसिक स्वतन्त्रता की पूर्णता के लिए, मन में जो कुछ है उसे कहने का अधिकार; जो हम चाहते हैं उसे छापने का अधिकार तथा जो कुछ हमारे मन मे है, उसके संबंध में औरो से मिलकर विचार विमर्श करने तथा उसे असली जामा पहनाने का अधिकार अत्यन्त आवश्यक है। कहना होगा, इन अधिकारों के अभाव मे स्वतन्त्रता अधूरी है। उसका अस्तित्व शून्यप्राय है। यदि मनुष्य को अपने मन की बातें प्रकट करने का अधिकार न रहे, तो जीभ रहते हुए भी वह गूँगा है। हाथ पैर के रहते हुए भी वह निकम्मा है। समाजव्यवस्था तथा राज्य के कामकाज की निगाह मे वह उपेक्षित है। जिस प्रकार ढोरों के बाजार में बेचे तथा मोल लिए जाने वाले ढोरो की जो अवस्था होती है, वह उसकी भी हो जाती है। यदि तीनो प्रकार की मानसिक स्वतन्त्रता न रहे; सगठन की स्वतन्त्रता न रहे तो यह भी नही कहा जा सकता कि उसे समाज की ओर से सुरक्षा प्राप्त हो सकेगी। व्यक्ति के नैतिक जीवन तथा मानसिक विकास के लिए मानसिक स्वतन्त्रता का होना बहुत जरूरी है। भले ही जो बात उसके मन मे है, वह गलत हो, पर उसे कहने, लोगो को बतलाने तथा संगठन बनाकर उसे असली जामा पहनाने का अधिकार उसको अवश्य मिलना चाहिए। उसका यह आचरण अनुचित हो, प्रचलित सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध हो, तो उस पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार समाज एव राज्य को है, यह कह कर व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण कर लेना ठीक नहीं। उसके अधिकारो को स्वीकार करना ही चाहिए। अधिकारों के उपयोग की सीमा समाज को राज्य के माध्यम से निश्चित करनी चाहिए। उसके मूल अधिकारो से उसे वंचित करने का अर्थ हुआ वह स्वतन्त्र न होकर गुलाम है। भाषण की स्वतन्त्रता के अपहरण का अर्थ यह हुआ कि समाज मे जो कुछ चल रहा है, उस की आलोचना न होने देना। जो ऊट-पटांग बातें, स्वार्थियों का पेट भरने वाली तथा अन्धश्रद्धा की बातें समाज मे चल रही हैं, उन्हें बदस्तूर कायम रखना। जहाँ भाषण

की स्वतन्त्रता नही वहाँ सत्ताधारी लोग अपने दृष्टिकोण को ही समूचे समाज का दृष्टिकोण समझने लगते हैं, अपने हितों को ही वे सामाजिक हित समझते हैं तथा अपनी राय को ही वे समूची जनता की राय समझने लगते हैं। उन्हे लगता है कि वे स्वयं ही समाज हैं तथा उनका मत ही जनमत है। क्योंकि जनता पर भाषण की बन्दी है, अतः विरोध सुनाई नही देता, और चूँकि विरोध नही सुनाई देता अतः उन की धारणा हो जाती है कि उनका समूचा क्रिया-कलाप जनता को पूरी तरह मंजूर है। क्योंकि लोग बोलते नही हैं अतः उनका 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' मान लिया जाता है। फल यह होता है कि वह कानून, जिसे जनमत का प्रतिबिम्ब होना चाहिए; जिस में समूची जनता की आवश्यकताओं का विचार किया जाना चाहिए; मुट्ठी भर सत्ताधारियों की इच्छा बनकर रह जाता है। उन्ही की इच्छाओं का निर्देशक बन जाता है। संसार की क्रान्तियो का इतिहास साक्षी है कि तानाशाही एवं धकपशाही की मात्रा इसी वातावरण मे हुआ करती है।

विचार की स्वतन्त्रता, भाषण की स्वतन्त्रता तथा संगठन की स्वतन्त्रता यों देखने को जुदा-जुदा नजर आती है, पर हैं वे एक ही। मान लीजिए मुझे बोलने की पूरी स्वतन्त्रता है, पर मैं किसी से बात नही कर सकता—इसके मानी हुए कि मुझे वस्तुतः बोलने की स्वतन्त्रता ही नही है। अतः यदि भाषण की स्वतंत्रता को खरा साबित होना है, तो उसके लिए संगठन की अर्थात् एकत्रित होकर विचार-विनिमय करने की स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। एक जगह जमा हो जाइए, परन्तु बोलिएगा नही, इसके मानी हुए कि आपको संगठन की कोई स्वतंत्रता नही है। जो लोग एक जगह जमा होते हैं वे किसी उद्देश्य से वैसा करते हैं। उस उद्देश्य के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय या चर्चा करना है तो एक जगह आने वालों को बोलने की तथा बहस करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। अन्यथा लोगों का एकत्र होना किसी भी किस्म के विचार-विनिमय के अभाव मे ढोरों का बाजार लगने जैसा हो जाएगा। मान लीजिए आप लोग एक जगह आकर जमा हो गए, पर आप लोग एकचित्त नही हुए। इससे आपके शरीर तो इकट्ठे हुए; पर मनों को इकट्ठा होने का मौका नही मिला। अतः भाषण की स्वतंत्रता तथा सङ्गठन की स्वतन्त्रता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों मे से किसी एक से इन्कार करना दोनों से ही इन्कार करना हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता से ही इन्कार करना हो जाता है। और जब राज्य-सत्ता इन स्वतन्त्रताओं से इन्कार करती है तो उसका अर्थ यह होता है कि राज्य-सत्ता को किन्हीं खास हित-सम्बन्धों की रक्षा करना है। उन्हें संरक्षण देना है। भाषण की स्वतन्त्रता अथवा सङ्गठन की स्वतन्त्रता अथवा अन्य मौलिक स्वतन्त्रता कोई निरपेक्ष अथवा असीम वस्तु नही है। इन स्वतन्त्रताओं की कौन-कौनसी सीमाएँ हैं, कौनसी होनी चाहिएँ, उनकी मात्रा क्या हो, तथा कब ये सीमाएँ उनकी हों, आदि बातों पर हम यथावकाश विचार करेंगे। पर इन सब सीमाओं का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि समाज की दृष्टि से ये सारी स्वतन्त्रताएँ हर व्यक्ति को उपलब्ध होनी चाहिएँ। ये सीमाएँ प्रचलित सत्ता की दृष्टि से समाज-विरोधक प्रतीत हो या उनकी दृष्टि में समाज की स्थिरता एवं शांति के लिए आव-

स्पष्ट प्रतीत हों तो उतने भर से उनका औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता। विचार करने की तथा भाषण की स्वतन्त्रता समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है। इस आवश्यकता को अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। यदि राज्य समझता है कि उसका एकमात्र उद्देश्य प्रजा का सुख है—जैसा कि प्रत्येक आधुनिक राज्य ने इसे मंजूर किया है—तो उसे ठीक से समझ लेना चाहिए कि प्रजा का सुख किन बातों में है। और यदि वह इस बात को समझना चाहता है तो उसे प्रजा को अपना अन्तःकरण खोल कर प्रकट करने का पूरा अवसर देना चाहिए। प्रजा को—लोगों को क्या चाहिए, इसे समझने के लिए उनके मन की बात को अधिक से अधिक मात्रा में जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। विशेषकर प्रस्तुत विषयों के बारे में, जिन-जिन लोगों का साक्षात् हित-सम्बन्ध थोड़ी-बहुत मात्रा में आता हो, उन-उन की मन की बातों को अधिक विस्तार से सुना जाना चाहिए। अगर आपको मजदूरों के संबंध में कानून बनाना है, तो व्यक्तिशः अथवा संस्थाओं के माध्यम से मालिकों एवं मजदूरों को अपनी बातों को कहने की पूरी छूट होनी चाहिए। आप चाहते हैं कि आठ घण्टों का एक दिन हो, यह कानून बनाया जाए, तो उसके लिए आपको मजदूरों का दृष्टिकोण समझ लेना चाहिए। परन्तु यदि आप इस मामले में केवल उद्योगपतियों एवं उनके मेंबरों की ही बात सुनकर काम चलाने की कोशिश करें तो समाज के केवल एक बाजू की बात सुनकर कानून बनाने की बात हो जाएगी। इससे कानून एकांगी हो जाएगा। अतः मजदूरों की भी राय जरूर लेनी चाहिए। उनकी आवश्यकताओं को भी आँखों के सामने जरूर रखना चाहिए। दस घण्टे काम करके मजदूर थक जाता है, और उसका जीवन रसहीन हो जाता है, निरस हो जाता है। क्योंकि काम से वापस आने तक उसका सारा उत्साह खत्म हो जाता है। मनुष्य के लिए अन्न, वस्त्र आदि बातें जितनी जरूरी होती हैं, उतनी ही जरूरी होती है—विश्रान्ति एवं मनोरंजन। मजदूर कोई मशीन नहीं है, वह मनुष्य है। जिस परिस्थिति में वह काम करता है, उसका उसके जीवन पर क्या असर होता है, यह वही बता सकता है। अतः उसकी राय ली जानी चाहिए। यह ठीक है कि कारखाने का उद्देश्य उत्पादन है। पर यह उत्पादन असामाजिक रूप से नहीं होना चाहिए तथा उसमें से सामाजिक अशांति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि कानून बनाते समय या किसी और काम के करते समय राज्य-सत्ता को उन सब की राय जान लेनी चाहिए, जिनके जीवन पर उसका सीधा असर होता हो तथा सदा इस विचारधारा को अपने सामने रखना चाहिए कि उसके कृत्यों से अधिक-से-अधिक सुख तथा कम-से-कम दुःख की उत्पत्ति हो। तलाक का कानून बनाते समय स्त्रियों की भावनाओं का भी विचार किया जाना चाहिए तथा पुरुषों की भावनाओं का भी विचार किया जाना चाहिए। और इसके लिए दोनों को खुलकर अपने विचारों को प्रकट करने का पूरा अवसर देना चाहिए। इसलिए विचार की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। भाषण की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। इसी प्रकार इकट्ठा होकर अपनी इच्छाओं को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। ऐसा होने से राज्य-सत्ता को अधिक-से-अधिक मात्रा में लोगों के मन की बातों को जानने का अवसर मिलता है। सामान्यतया इन स्वतंत्र-

ताओं के दिए जाने के मामले में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु जब इन स्वतन्त्रताओं का भाष्य किया जाता है, उस वक्त लोगों के मन में शंका घर करने लगती है। बहुत से तो कभी-कभी इनका विरोध भी कर बैठते हैं। सामान्यतया होता यह है कि जो बातें प्रचलित हैं, उनकी स्तुति की जाती है तथा जब तक विद्यमान हित-सम्बन्धों पर हमला नहीं होता, तब तक भाषण तथा सङ्गठन की स्वतन्त्रताओं को पुचकारा जाता है। पर जब राज्य-सत्ता की निन्दा की जाती है, उस पर अन्यायी होने तथा पक्षपाती होने का दोषारोपण किया जाता है, तब इन आलोचकों को उपद्रवी करार दिया जाता है तथा कहा जाता है कि समाज के शांत वातावरण को उनसे खतरा है। और समाज के इस शांत वातावरण का अर्थ वह विचारधारा है, जो इस बात में विश्वास करती है कि समाज में जो कुछ इस समय प्रचलित है, वही सही है। जो प्रचलित है, उसके पीछे समाजपुरुष का सहस्रों वर्षों का अनुभव खरा है, ऐसा मानकर भी नवीन विचारों तथा नवीन अनुभवों को अपने से दूर रखने की इच्छा होने लग जाती है। जब लोग कहते हैं कि आज समाज में जो विषमता या ऊँच-नीच दिखाई देती है, वह केवल जन्म के आधार पर निश्चित की जाती है और इसी कारण वह अन्याय है, तो तत्काल कुछ लोग आगे बढ़कर सरकार को सुझाव देने लगते हैं कि इससे समाज की शांति चौपट हो जाएगी अतः सरकार को चाहिए कि वह इस विचारधारा को कुचल डाले। अगर आप चाहते हैं कि समाज आगे बढ़े, तो आपको व्यक्तियों को नया विचार करने, नये अनुभवों को हासिल करने तथा अपने विचारों को स्पष्टरूप से प्रकट करने का अवसर देना ही होगा। लोग यदि कहना चाहते हैं कि समाज में दिखाई देने वाली आर्थिक विषमता मानवनिर्मित है तथा जिस कानून ने उसे प्रस्थापित किया है या उसे प्रतिष्ठा दी है, उस कानून को बदल डालना चाहिए, तो उन्हें वैसा कहने की पूरी-पूरी छूट दी जानी चाहिए। सम्पत्ति समूचे समाज की सहायता से निर्मित होती है, अतः समाज को उस सम्पत्ति के निर्माण में भागीदार समझा जाना चाहिए। जो विषमता निसर्गनिर्मित नहीं है, मानव के संकल्प एवं कृत्यों से निर्मित हुई है, उसे नष्ट हो जाना चाहिए। ऐसा कहने की छूट यदि आप लोगों को नहीं देंगे, तो वह विषमता सदा के लिए बनी रहेगी तथा लोगों के मन में जो शल्य चुभा हुआ है, वह अधिक असह्य होता चला जाएगा। उस अवस्था मे, राज्य का जो ध्येय है—समाज को सुखी बनाना—वह सिद्ध नहीं हो पाएगा। राज्य को यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यदि कोई कहे कि आर्थिक समता के बिना समाज में अधिकाधिक सुख की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती, तो उसके ऐसा कहने मे रत्ती भर भी राज्यद्रोह या समाजविरोध नहीं है। भाषण की स्वतन्त्रता के ये मानी नहीं कि जो कुछ प्रचलित है, उसकी तारीफ की जाय तथा सत्ताधारियों की स्तुति में स्तोत्र पाठ किया जाए। भाषण की स्वतन्त्रता में—दोषों की ओर संकेत करना, अन्याय का विरोध करने के लिए लोगों को प्रेरित करना, नवीन विचारों को पेश करना, नवीन समाज की रचना की रूपरेखा बतलाना आदि सभी बातों का समावेश होता है। बुद्धिमत्ता अथवा दूरदर्शिता किसी एक व्यक्ति अथवा जाति या जमात की बपौती नहीं है। कोई भी सर्वज्ञता का दम नहीं भर सकता। और यदि कोई ऐसा दम

करे तथा दूसरा व्यक्ति उससे विरुद्ध सोचे, तो उसे विरोधी की बात को सुनना चाहिए। सारा सत्य वेदों एवं उपनिषदों में भरा पड़ा है, ऐसा दावा प्रत्येक युग में अनुपयुक्त साबित होता है। 'जो भारत में नहीं वह कहीं भी नहीं' ऐसा कहने का मतलब यह हुआ कि महाभारतकार के पश्चात् किसी क्षेत्र में विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक युग के सत्य परिस्थिति के साथ-साथ बदलते रहते हैं। आज एक प्रचण्ड प्रवाह वाली गंगा है। समाज भी सब कहीं तथा सब कालों में एक जैसा नहीं रहा। अतः किसी बात को बड़े आदर के साथ प्रतिपादन करने का प्रयत्न उचित नहीं कहा जा सकता। विचारों की स्वतन्त्रता रहे, तो हर बात की ठीक से परख की जा सकती है। अनुभवों के पत्थरों पर हर बात को तोला जाता है। आलोचना रूपी छलनी में से हर बात को छाना जाता है, तथा इस प्रकार उन युगों के सत्य आकार पाते हैं तथा स्थिर होते जाते हैं। प्रमाणवाद के युग में आप्तपुरुष प्रतिपादन (शब्दप्रमाण) एक प्रकार से व्यक्ति की बुद्धिस्वातन्त्र्य पर सन्देह प्रकट करता हुआ। अतः ऐसे विचारों को भी सुनना चाहिए जो सबको पसन्द न हों या ठीक न जँचते हों। जिन सत्यों एवं शास्त्रों को समाज ने शाश्वत एवं सनातन मान लिया है, उनके विरुद्ध भी आलोचना का अधिकार व्यक्तिमात्र को दिया जाना चाहिए। जब इस प्रकार की आलोचना हो, तथा प्रचलित बातों के विरुद्ध आवाज उठाई जाय, तो इसी से हम लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि आज हम जिसे सनातन एवं त्रिकालाबाधित सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं, उसमें भी कहीं कोई अपूर्णता है, अधूरापन है, ऐसी प्रतीति समाज में घर करने लग गई है।

जो विचार समाज को अप्रिय तथा राज्य सत्ता को भयानक प्रतीत होते हैं, यदि उन्हें प्रकट होने का अवसर न दिया गया या उन्हें कुचलने की कोशिश की गई तो निश्चय ही इससे उन बातों को टाला नहीं जा सकेगा जो अटल हैं। समाज सुधारक आगरकर का तीव्र विरोध हुआ। जीवित दशा में ही उनकी शवयात्रा निकाली गई। इन सबसे उनके विचार मरे नहीं वरन् हजारों मुखों से बाहर निकलने लगे। जो लोग 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस विचार में विश्वास रखते थे उन्होंने डटकर विरोध किया। पर स्त्री स्वातन्त्र्य को कोई रोक नहीं सका। उलटे अब समाज की प्रगति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता.' इस मंजिल पर आ पहुँची है। ७५ वर्षों तक अधिक-से-अधिक धड़पशाही से काम लेकर अंग्रेजों ने भारत की स्वतंत्रता को टालने की भरसक कोशिश की, पर उसे टाल न सके। धड़पशाही से विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा देने पर भी क्रान्तिकारकों तथा समाजसुधारकों की उत्पत्ति को रोका नहीं जा सका। जिन लोगों ने समाज की गन्दगी, दोष तथा राजकीय काम-काज में फँसे भ्रष्टाचार एवं राजनीति में आई हुई शीलभ्रष्टता को उखाड़ फेंकने का बीड़ा उठाया है, उन्हें राज्य सत्ता अपनी पूरी ताकत लगा कर भी उनके दृढ़ निश्चय से डिगा नहीं सकती। अधिक अत्याचारों से तो उनकी ताकत और बढ़ती है। लोकप्रियता में वृद्धि होती है। दबाव डालकर किसी की राय को बदला नहीं जा सकता। शारीरिक बल-प्रयोग से किसी के मन को नहीं जीता जा सकता। यदि किसी विचारधारा अथवा आन्दोलन को कुचलने की चेष्टा की जाय, तो उससे उक्त विचार-

धारा एवं आन्दोलन के प्रति लोगों में कुतूहल उत्पन्न हो जाता है। जो लोग उदासीन थे, वे उसमें दिलचस्पी लेने लग जाते हैं। समाज में उन सब नई बातों के बारे में कुतूहल पैदा होता है, जो अब तक समाज की अनुभूति का विषय नहीं बनी थीं। मुँह पर हाथ रख देने से मन को दबाया नहीं जा सकता। सभा पर प्रतिबन्ध लगाने का फल यह होता है कि जिन बातों पर चौराहों में विचार-विनिमय होता, उन पर तहखानों में विचार-विनिमय होने लग जाता है। सभा पर लगाया प्रतिबन्ध षड्यन्त्र को जन्म देता है। राज्य सत्ता या समाज यदि किन्हीं बातों पर प्रतिबन्ध लगा दे, उनकी उपेक्षा करे या उन्हें सुनने से इन्कार कर दे तो उनका परिणाम अधिक भीषण होता है। ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो अधिक भीषण आघात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार का भीषण विस्फोट होता है कि बहरों को भी सुनाई दे जाय। कोई स्नेहलता आत्महत्या करके दहेज के सवाल को अधिक तीव्रता से जनमत के सामने प्रस्तुत कर देती है। कोई खुदीराम पिस्तौल की ऐसी ध्वनि उत्पन्न करता है कि भारतीयों के मन में दबी पड़ी भावनाओं की प्रतिध्वनि सारे विश्व में गूँज उठे। मत प्रदर्शन बंद कर देने से वे बातें समाज की आँखों के सामने आ जाती हैं, जो अब तक किसी उपेक्षित कोने में पड़ी हुई थीं तथा अब तक कभी न सुनाई देने वाली आवाज कान के दरवाजे पर आकर खड़ी हो जाती है। जो विचारधारा अथवा भावना समाज के जन सामान्य के मन में नहीं आई थी, वह उसके मन में आने लगती है। यही नहीं, वह मन को अभिभूत भी कर डालती है। सन् १६२६ से पहले भारत में साम्यवाद के सम्बन्ध में किसी को कोई विशेष जानकारी नहीं थी। परन्तु मेरठ काण्ड के कारण साम्यवादी तत्वज्ञान चर्चा का विषय बन गया। जिस विषय का अध्ययन घर के पिछवाड़े के छोटे से कमरे में किया जाता था, वही अब गलियों और चौराहों में, होटलों तथा हेयर कटिंग सैलूनों में चर्चा का विषय बन गया। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी विचारधारा को कुचला नहीं जा सकता। अनेक बार सत्य को पैरों के तले रौंदने की कोशिश की गई, उसका अपमान किया गया; पर उसे रौंदा नहीं जा सका। वह एक अमर वस्तु है। उसे जितना तोड़ा जाय या खोदा जाय, वह हरियाली की भाँति और बढ़ जाता है। ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया, उसके शरीर का अन्त कर दिया गया, पर उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य सारी दुनिया में फैल गया, अमर हो गया—क्रूस की मदद से। तात्पर्य यह है कि सत्य क्या है, यह शासन सत्ता नहीं निश्चित कर सकती। यदि शासन सत्ता अभिमान अथवा आवेश के वश हो किन्हीं विरोधी विचारों को कुचलने की कोशिश करे, तो आज नहीं तो कल उसकी वह कोशिश निष्फल हो जाएगी। तथा सत्ताधारियों का तथाकथित सत्य उनके अस्तित्व के साथ ही एक इतिहास की वस्तु बन जाएगा। परास्त हो जाएगा। ज्ञात इतिहास में ऐसा तरीका किसी के हाथ नहीं लगा, जिससे विचारधारा एवं भावनाओं को इस तरह कुचला जा सके कि वे फिर अपना सिर न उठा सकें। ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया; सुकरात को जहर दिया गया; अनेकों को देशनिकाला दे दिया गया; पर इतिहास बताता है कि अन्ततोगत्वा सत्य की जीत होकर रही।

भरे तथा दूसरा व्यक्ति उसके विरुद्ध बोले, तो उसे विरोधी की बात को सुनना चाहिए। सारा सत्य वेदो एवं उपनिषदों मे भरा पडा है, ऐसा आग्रह प्रजातंत्र के युग मे अनुपयुक्त साबित होता है। 'जो भारत में नही वह कही भी नही' ऐसा कहने का मतलब यह हुआ कि महाभारतकार के पश्चात् किसी और मे विचार करने की पात्रता ही नही है। प्रत्येक युग के सत्य परिस्थिति के साथ-साथ बदलते रहते हैं। ज्ञान एक अखण्ड प्रवाह वाली गंगा है। समाज भी सब कही तथा सब कालो मे एक जैसा नही रहा। अतः किसी बात को बडे आग्रह के साथ प्रतिपादन करने का प्रयत्न उचित नही कहा जा सकता। विचारो की स्वतन्त्रता रहे, तो हर बात की ठीक से परख की जा सकती है। अनुभवो के पलडो पर हर बात को तोला जाता है। आलोचना रूपी छलनी मे से हर बात को छाना जाता है तथा इस प्रकार उन-उन युगो के सत्य आकार पाते हैं तथा स्थिर होते जाते हैं। प्रजातन्त्र के युग मे आग्रहयुक्त प्रतिपादन (कठमुल्लापन) एक प्रकार से व्यक्ति की कर्तृत्व-शक्ति पर सन्देह प्रकट करना हुआ। अतः ऐसे विचारो को भी सुनना चाहिए जो अपने को पसन्द न हो या ठीक न जंचते हो। जिन सत्यों एवं आदर्शों को समाज ने शाश्वत एवं सनातन मान लिया है, उनके विरुद्ध भी आलोचना का अधिकार व्यक्तिमात्र को दिया जाना चाहिए। जब इस प्रकार की आलोचना हो, तथा प्रचलित बातो के विरुद्ध आवाज उठाई जाय, तो इसी से हम लोगो को यह समझ लेना चाहिए कि आज हम जिसे सनातन एवं त्रिकालाबाधित सत्य के रूप मे स्वीकार करते हैं, उसमे भी कही कोई अपूर्णता है, अधूरापन है, ऐसी प्रतीति समाज मे घर करने लग गई है।

जो विचार समाज को अप्रिय तथा राज्य सत्ता को भयानक प्रतीत होते हैं, यदि उन्हे प्रकट होने का अवसर न दिया गया या उन्हे कुचलने की कोशिश की गई तो निश्चय ही इससे उन बातों को टाला नही जा सकेगा जो अटल है। समाज सुधारक आगरकर का तीव्र विरोध हुआ। जीवित दशा मे ही उनकी शवयात्रा निकाली गई। इन सबसे उनके विचार मरे नही वरन् हजारो मुखो से बाहर निकलने लगे। जो लोग *'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस विचार मे विश्वास रखते थे उन्होने जमकर विरोध* किया। पर स्त्री स्वातन्त्र्य को कोई रोक नही सका। उलटे अब समाज की प्रगति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता.' इस मंजिल पर जा पहुँची है। ७५ वर्षों तक अधिक-से-अधिक दण्डशाही से काम लेकर अंग्रेजो ने भारत की स्वतंत्रता को टालने की भरसक कोशिश की, पर उसे टाल न सके। दण्डशाही से विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा देने पर भी क्रान्तिकारको तथा समाजसुधारको की उत्पत्ति को रोका नही जा सका। जिन लोगो ने समाज की गन्दगी, दोष तथा राजकीय काम-काज मे फंसे भ्रष्टाचार एवं राजनीति मे आई हुई शीलभ्रष्टता को उखाड़ फेंकने का बीड़ा उठाया है, उन्हे राज्य सत्ता अपनी पूरी ताकत लगा कर भी उनके दृढ़ निश्चय से डिगा नही सकती। *अधिक अत्याचारों से तो उनकी ताकत और बढती है।* लोकप्रियता मे वृद्धि होती है। दबाव डालकर किसी की राय को बदला नही जा सकता। शारीरिक बल-प्रयोग से किसी के मन को नही जीता जा सकता। यदि किसी विचारधारा अथवा आन्दोलन को कुचलने की चेष्टा की जाय, तो उसमे उक्त विचार-

धारा एवं आन्दोलन के प्रति लोगों में कुतूहल उत्पन्न हो जाता है। जो लोग उदासीन थे, वे उसमें दिलचस्पी लेने लग जाते हैं। समाज में उन सब नई बातों के बारे में कुतूहल पैदा होता है, जो अब तक समाज की अनुभूति का विषय नहीं बनी थी। मुँह पर हाथ रख देने से मन को दबाया नहीं जा सकता। सभा पर प्रतिबन्ध लगाने का फल यह होता है कि जिन बातों पर चौराहों में विचार-विनिमय होता, उन पर तहखानों में विचार-विनिमय होने लग जाता है। सभा पर लगाया प्रतिबन्ध षड्यन्त्र को जन्म देता है। राज्य सत्ता या समाज यदि किन्हीं बातों पर प्रतिबन्ध लगा दे, उनकी उपेक्षा करे या उन्हें सुनने से इन्कार कर दे तो उसका परिणाम अधिक भीषण होता है। ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो अधिक भीषण आघात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार का भीषण विस्फोट होता है कि बहरों को भी सुनाई दे जाय। कोई स्नेहलता आत्महत्या करके दहेज के सवाल को अधिक तीव्रता से जनमत के सामने प्रस्तुत कर देती है। कोई खुदीराम पिस्तौल की ऐसी ध्वनि उत्पन्न करता है कि भारतीयों के मन में दबी पड़ी भावनाओं की प्रतिध्वनि सारे विश्व में गूँज उठे। मत प्रदर्शन बंद कर देने से वे बातें समाज की आँखों के सामने आ जाती हैं, जो अब तक किसी उपेक्षित कोने में पड़ी हुई थी तथा अब तक कभी न सुनाई देने वाली आवाज़ कान के दरवाज़े पर आकर खड़ी हो जाती है। जो विचारधारा अथवा भावना समाज के जन सामान्य के मन में नहीं आई थी, वह उसके मन में आने लगती है। यही नहीं, वह मन को अभिभूत भी कर डालती है। सन् १९२९ से पहले भारत में साम्यवाद के सम्बन्ध में किसी को कोई विशेष जानकारी नहीं थी। परन्तु मेरठ काण्ड के कारण साम्यवादी तत्वज्ञान चर्चा का विषय बन गया। जिस विषय का अध्ययन घर के पिछवाड़े के छोटे से कमरे में किया जाता था, वही अब गलियों और चौराहों में, होटलों तथा हेयर कटिंग सैलूनों में चर्चा का विषय बन गया। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी विचारधारा को कुचला नहीं जा सकता। अनेक बार सत्य को पैरों के तले रौंदने की कोशिश की गई, उसका अपमान किया गया; पर उसे रौंदा नहीं जा सका। वह एक अमर वस्तु है। उसे जितना तोड़ा जाय या खोदा जाय, वह हरियाली की भाँति और बढ़ जाता है। ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया, उसके शरीर का अन्त कर दिया गया, पर उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य सारी दुनिया में फैल गया, अमर हो गया—क्रूस की मदद से। तात्पर्य यह है कि सत्य क्या है, यह शासन सत्ता नहीं निश्चित कर सकती। यदि शासन सत्ता अभिमान अथवा आवेश के वश हो किन्हीं विरोधी विचारों को कुचलने की कोशिश करे, तो आज नहीं तो कल उसकी वह कोशिश निष्फल हो जाएगी। तथा सत्ताधारियों का तथाकथित सत्य उनके अस्तित्व के साथ ही एक इतिहास की वस्तु बन जाएगा। परास्त हो जाएगा। ज्ञात इतिहास में ऐसा तरीका किसी के हाथ नहीं लगा, जिससे विचारधारा एवं भावनाओं को इस तरह कुचला जा सके कि वे फिर अपना सिर न उठा सकें। ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया; सुकरात को जहर दिया गया; अनेकों को देशनिकाला दे दिया गया; पर इतिहास बताता है कि अन्ततोगत्वा सत्य की जीत होकर रही।

कहने का अभिप्राय यह है कि विचारों की तथा भाषण की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने या कुचल डालने का फल यह होता है कि सत्ताधारियों को अपनी सत्ता से ही हाथ धोना पड़ जाता है। इसी प्रकार प्रचलित विचारधारा भी सनातन स्वरूप की नहीं हो सकती। जो बातें समाज को आज अप्रिय अथवा समाजविरोधी प्रतीत होती हैं, वही कल लोकप्रिय बन जाती हैं तथा एक श्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु मानी जाती हैं। नया विचार पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मन में पैदा होता है। गोमुख से निकलने वाली गोदावरी की नन्हीं-सी धारा बढ़ते-बढ़ते एक विस्तीर्ण जलधारा का रूप धारण करती है। ठीक इसी प्रकार एक व्यक्ति के मन में उत्पन्न हुआ विचार अनेकों के साथ होने वाली चर्चा के माध्यम से अनेक व्यक्तियों में फैलते-फैलते वह एक व्यक्ति का विचार नहीं रह जाता तथा वह समाज की वस्तु बन जाता है। केवल नवीन विचार होने के नाते उस पर प्रतिबन्ध लगाना सामाजिक हित की दृष्टि से उचित नहीं है। नया विचार गलत हो सकता है। समाजविघातक हो सकता है। पर केवल इस हेतु से उसे कुचल डालना कि वह नया विचार है, ठीक नहीं। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' अर्थात् जिस प्रकार यह कहना सही नहीं कि जो कुछ पुराना है, वह सब अच्छा है, उसी प्रकार यह भी सही नहीं कि जो कुछ नया है, वह सब बुरा है। अतः समाज को सारासार का विचार करके स्वयं निर्धारित करना चाहिये कि ग्राह्य क्या है तथा अग्राह्य क्या है। इसके लिये विचार-विनिमय की आवश्यकता है। विचार-विनिमय के लिये भाषण की स्वतन्त्रता अपेक्षित है। आज समाज में जो विचार प्रचलित हैं, उनका निरीक्षण करने से प्रतीत होगा कि आज से ५० वर्ष पूर्व जब इन विचारों को समाज के सन्मुख पेश किया गया था, तब उन्हीं को समाज ने समाजविरोधी ठहराया था। 'न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि' अर्थात् मौत भली है पर यवनों की भाषा नहीं। पिछली सदी का यह विचार अब लुप्त हो चुका है। आज से १०० या ५० वर्ष पूर्व जो विचारधारा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सम्मानित थी, वह अब केवल इतिहास समालोचकों का एक आलोच्य विषय बन चुकी है तथा अतीत के वस्तु संग्रहालयों में रखने योग्य वस्तु बन गई है। कहने का तात्पर्य यह कि समाज का जीवन कोई अपरिवर्तनशील एवं नित्य वस्तु नहीं है। वह हर घडी तथा हर युग में बदलता रहा है। इसी प्रकार समाज की नीतिविषयक धारणा एवं दर्शन शास्त्र भी बदलता रहता है। जो वस्तु आज बुद्धि को ठीक नहीं जँचती वह कल ठीक जँचने लगती है। जो वस्तु आज असत्य प्रतीत होती है, वही कल एक प्रतिष्ठित सत्य हो जाती है। सत्य विशेषत. सामाजिक एवं राजनैतिक सत्य—एक सापेक्ष वस्तु है। और इसी कारण सत्य क्या है तथा असत्य क्या है, इस बात का विचार सदैव सामाजिक सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। शासन सत्ता के कहने या घोषित करने से कोई वस्तु सत्य या असत्य सिद्ध नहीं हो सकती। सत्य तथा असत्य का निर्णय चर्चा तथा अनुभव की सहायता से किया जाता है। जो बात बुद्धि को ठीक नहीं जँचती, उस पर विस्तारपूर्वक विचार होता है तथा उसकी सत्यता एवं प्रतिष्ठा को प्रतिपादित करने का अवसर उसके समर्थकों को दिया जाता है। सम्पत्ति, धर्म, उत्तराधिकार तथा विवाह आदि से सम्बन्धित कल्पनाएँ ऐसी नहीं हैं जो कभी बदलती ही न हों। 'श्रुतिः, स्मृति, सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः.'

अर्थात् किसी वस्तु की योग्यता की ये चार कसौटियाँ शास्त्रों ने मानी हैं। किसी भी अवस्था में—यहाँ तक कि सर्वसम्मति से भी क्यों न ठहराई गई हो—समाजविरोधी मानी जाने वाली बातों की चर्चा पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये। जो असत्य होगा, समाज को न जँचने वाला होगा, उसका स्वरूप भी समाज के सम्मुख तभी स्पष्ट होगा, जब उस पर अच्छी तरह चर्चा की जायेगी। जो स्वभावतः असत्य होगा, उसका स्वरूप खुली चर्चा के वातावरण में कभी छिपा नहीं रहेगा। कभी यह भी हो सकता है कि पूर्ण चर्चा के पश्चात् जिस असत्य को समाज असत्य ठहरा देता है, उसी को जब कुछ स्वार्थी लोग हठपूर्वक सत्य सिद्ध करने की कोशिश करने लगेंगे तथा उससे समाज का अहित होने लगेगा, तो उस समय समाज के हित को आँखों के सामने रखते हुए, उन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित कर देना योग्य एवं अभीष्ट सिद्ध हो जाय।

अब यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है। खुले विचार-विनिमय के पश्चात् जो वस्तु समाज के लिये अप्रशंसनीय एवं अहितकर सिद्ध हो जाती है, उस पर प्रतिबंध कौन लगाये तथा किस प्रकार लगाये? व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध—चाहे वह आंशिक ही क्यों न हो—लगाने तथा उसे सीमित करने के इस प्रसंग को अपवादात्मक ही समझना चाहिये। तथा इस मामले में बड़ी ही छानबीन के बाद कोई कदम उठाया जाना चाहिये। प्रतिबन्ध लगाने के लिये कुछ कसौटियाँ अवश्य होनी चाहियें। केवल इतना कह देने से काम नहीं चलेगा कि वह प्रतिबन्ध समाज के हित में लगाया जा रहा है अथवा जो लोग वैसा करने के लिये कह रहे हैं, वे समाज के हितैषी हैं तथा निःस्वार्थ वृत्ति के हैं। मान लीजिये कृष्णराव नाम के कोई सज्जन बड़े ही धर्माभिमानी हैं, बड़े ही समाजहितैषी हैं। वे यदि किसी लेख को अश्लील कह बैठें तो क्या इसी आधार पर कि यह बात कृष्णराव जी कहते हैं, समाज या सरकार भी उसे अश्लील मान ले तथा उसके विरुद्ध कोई प्रतिबंधक कदम उठाये? शिष्ट अथवा अशिष्ट, श्लील अथवा अश्लील, सदभिरुचि-पूर्ण अथवा कुरुचिपूर्ण क्या है, इस बात का निर्णय कोई आसान काम नहीं है। इस निर्णय की क्रिया मत का भाग है, वस्तुस्थिति नहीं। एक उदाहरण लीजिये। मैं इस जगह कुर्सी पर बैठा हूँ। यह बात मत का विषय नहीं, वस्तुस्थिति है। पर मेरे सामने लेखक बैठा हुआ है, वह लिखने का काम मन लगाकर कर रहा है या नहीं, यह मत का प्रश्न है। सदाचार कहाँ खत्म होता है तथा स्वैराचार कहाँ से शुरू होता है, यह सीमा अस्पष्ट होती है और चूँकि यह मानसिक भूमिका में होती है अतः जिस प्रकार हम जमीन पर रेखा खींच सकते हैं, उसी प्रकार यहाँ नहीं खींच सकते। जो भी मत हम व्यक्त करें, वह तत्कालीन समाज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर व्यक्त किया जाना चाहिये। एक समय था, जब ऐसा एक भी विद्यार्थी नहीं था, जो टोपी न पहनता हो। पर आज हजारों में कोई एक ऐसा विद्यार्थी मिलेगा, जो टोपी पहन कर कालेज जाता होगा। अतः कुछ काल पहले का सदाचार अथवा स्वैराचार वर्तमान समय में अपने उसी रूप में नहीं बना रह सकता। समय के साथ जनमत भी बदलता रहता है। अतः ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को समाजविरोधी या अश्लील सिद्ध करना आसान बात नहीं है। अदालत में होने वाले फैसले भी इस मामले में निश्चित रूप से कुछ नहीं बतलाते। वे भी यद्वा-तद्वा की ही भाषा काम में लाते

हैं। भारत मे अश्लीलता के सम्बन्ध मे कानून की स्थिति क्या है, इस पर बम्बई के 'आलमगीर' में कुछ लेख छपे हैं। उनमे भी लेखक अश्लीलता को परखने की कोई निश्चित कसौटी नही बता सका। सच तो यह है कि कोई भी इसकी कसौटी नही बतला सकता। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि यदि कोई व्यक्ति अथवा संस्था साहित्य का फौजदार बनकर श्लील एव अश्लील का निर्णय करने की बात कहे तो वह ठीक नही हो सकती। यही बात सरकारी अधिकारियो के सम्बन्ध मे भी सही है। जिन लोगो का जन्म भर साहित्य से कोई सम्बन्ध नही आया, उन्हे किसी लेख के अश्लील अश को पता चलाने का अधिकार देना उचित नही होगा। प्रचलित धारणाओ तथा परम्परागत रीति रिवाजो के विरुद्ध कुछ अंश किसी लेख मे मिल जाय तो अधिकारी की दृष्टि मे वह भी खतरनाक प्रतीत होता है। उसे लगता है कि उस लेख से समाज उलट-पुलट हो जायेगा। किन्ही-किन्ही अधिकारियो के स्थान ऐसे होते हैं कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आयेगा, वह झूठा तथा धोखेबाज ही होगा, ऐसी धारणा उन स्थानो पर लोगो की हो जाती है। वे लोग सशयी वृत्ति के बन जाते है। सामान्य नियम के अनुसार आरोपी को तब तक अपराधी नही माना जाना चाहिये, जब तक उसका अपराध सिद्ध न हो जाय। यह कानून का आद्य तत्व है। तथापि अधिकारी लोग यह मान लेते हैं कि चूँकि छानबीन के लिये आई पुस्तको को पुलिस वालो ने भेजा है, अत वे अश्लील निश्चित ही होगी। और तब वे उनकी छान-बीन करते हैं। सामान्य मनुष्य को किसी लेख के पढने के बाद उसमें कुछ भी अश्लील अश नही प्रतीत हुआ तो भी सेन्सर को या अधिकारी को उसमे अश्लीलता की बू जरूर आयेगी, चित्रपट नियन्त्रण मडल के विरुद्ध लोगों की यही शिकायत है। जिन प्रसगो को देखकर सामान्य दर्शक को कुछ भी खास बात नही प्रतीत होगी, उन्ही पर नियन्त्रण मण्डल की कैंची चल जायेगी। अत समाज की दृष्टि से योग्य अथवा अयोग्य क्या है, समाज को कौन सा साहित्य पढना चाहिये तथा कौन से चित्रपट देखने चाहिये आदि मामलो के लिये किन्ही सामान्य कसौटियों का होना बहुत जरूरी है। मनुष्य जो कुछ पढता है, सुनता है, या देखता है, उन सब से प्रेरणा लिया करता है। वह इस सामग्री मे से अपने लिये किन्ही विशेष आदर्शों का निर्माण किया करता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जो लेख असभ्यता से भरे हो, अश्लील अथवा घातक स्वरूप के हो, उन पर रोक जरूर लगनी चाहिये। तथापि कानून मे, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस बात की स्पष्ट व्याख्या नही मिलती कि निश्चित रूप से अश्लील तथा घातक किसे कहा जाय। 'समाज स्वास्थ्य' नामक मासिक पत्रिका के अको को अश्लील बतला कर उसके सम्पादक के विरुद्ध सरकार ने कारवाई की थी। पर उस मुकद्दमे मे भी निश्चित रूप से यह सिद्ध नहीं किया जा सका कि अश्लील किसे कहा जाय। यौन विषयो पर चर्चा को एक जमाने मे अश्लील समझा जाता था। माना जाता था वह समाज की नीति के विरुद्ध है। पर आजकल इस बात का प्रचार किया जाता है कि यौन विषयों की शिक्षा विद्यार्थी तथा विद्यार्थिनियो को दी जानी चाहिये। एक जमाने मे बर्नार्ड शॉ के नाटकों पर भी इगलैण्ड की सरकार ने पाबन्दी लगा दी थी। सामान्यतया, अश्लील क्या है, समाज की नीति पर हमला करने वाला क्या है, यह ठहराते समय जिस प्रकार

समाज में मौजूद भावनाओं को ध्यान में रखने की जरूरत है, उसी प्रकार व्यक्ति की भाषण-स्वतन्त्रता तथा विचार-स्वतन्त्रता को भी ध्यान में रखने की जरूरत है। केवल मौजूदा नैतिक आदर्शों तथा धारणाओं का एकांगी विचार करने से समाज की प्रगति नहीं हो सकेगी तथा नये विचारों का पहले ही गला घोट दिया जायेगा। अतः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करके न्यायाधीश को इस मामले में फैसला देना चाहिये। राज्य में कानून लोकमत के अनुसार रहेगा इस बात का शत-प्रतिशत आश्वासन परिपक्व प्रजातन्त्र में भी नहीं प्राप्त होता। लोकमत आगे बढ़ता जाता है। नये-नये विचार ग्रहण की भाँति आगे-आगे चलते हैं। समाज में जो दूरदर्शी तथा श्रेष्ठ धैर्यशील व्यक्ति होते हैं, वे विचार किया करते हैं। उनके विचार खलबली मचाने वाले होते हैं। सामान्यतया नये विचारों को धीमे-धीमे समर्थन प्राप्त होता है। एक व्यक्ति का मत अनेकों का मत बन जाता है। और तब उसका कानून के रूप में रूपान्तर होता है। कानून के बन जाने से मौजूदा विचारों तथा आदर्शों को प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। तब वे आदर्श समाज के जीवन का अंग बन जाते हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उससे आगे और प्रगति होती ही नहीं। लोकमत आगे चलता चला जाता है और कानून अपने को उसके साथ बनाये रखने की कोशिश करता रहता है। लोकमत के लिये अन्तिमत्व नहीं होता तथा कानून का भी कोई अन्त नहीं होता। अतः अश्लील तथा अनुचित का निर्णय करते समय सरकार को प्रचलित एवं प्रगतिशील दोनों प्रकार की बातों का विचार करके निर्णय करना चाहिये। सामान्यतया जनता में अभिरुचि एवं सभ्यता की एक ऐसी भावना होती है, जिसका वर्णन करना कठिन है। उसका स्वरूप क्या है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि वह रहती है और हर किसी को उसकी जानकारी भी रहती है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः उसकी जानकारी रखने वाले व्यक्ति को जो वस्तु विसंगत प्रतीत हो, उसे अयोग्य एवं अशिष्ट कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। न्याय की कल्पना जनता में होती है तथा उसकी जानकारी हर किसी को होती है। जब कभी अन्याय हो जाता है, तब सहज ही व्यक्ति के मुँह से निकल पड़ता है—'भला यह भी कोई न्याय है ?' इससे जाहिर होता है कि उसके मन में न्याय एवं अन्याय वस्तु की जानकारी मौजूद है। इसी प्रकार अश्लीलता एवं श्लीलता के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा होती है कि जिस नाटक या चित्रपट को बीबी-बच्चों सहित देखने से हमें संकोच नहीं होता वह अश्लील नहीं है। यह कसौटी तात्या साहेब केलकर की बताई हुई है। संक्षेप में, कसौटी यह होनी चाहिये कि जो वस्तु सर्वसाधारण लोगों को शिष्ट प्रतीत हो, वह शिष्ट समझी जानी चाहिये। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें हर नयी चीज अप्रिय लगती है। वे इतने वेदाभ्यासजड़ होते हैं कि किंचित् भी मनोरंजनात्मक वस्तु उन्हें अप्रिय लगती है। समाज का दृष्टिकोण दो चार स्वयंमन्य शिष्ट व्यक्तियों का दृष्टिकोण नहीं है, इस बात को ध्यान में रखकर सरकार को निश्चित करना चाहिये कि सुरुचिपूर्ण एवं कुरुचिपूर्ण क्या है। यदि एकांगी एवं अदूरदर्शी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो रामायण एवं महाभारत जैसे धर्मग्रन्थ भी अश्लील साबित होंगे। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के अनेक संवादों को हटा

देना पड़ेगा। तथा सामाजिक मामलों में प्रगति की दृष्टि से किये गये सभी विचार खतरनाक समझे जायेंगे। यौन विषयों पर तो कोई विचार तक नहीं करेगा।

अश्लील क्या है? समाज के हित के लिये किन बातों पर रोक लगाना है? आदि बातों का विचार उपरिलिखित रीति से उदार एवं प्रगतिशील दृष्टि से किया जाना चाहिये। समाज के जीवन के विविध क्षेत्रों में नाना प्रकार की समस्याएं उठ खड़ी होती हैं, उनके सम्बन्ध में बोला जाता है, लिखा जाता है तथा विचार किया जाता है। समाज का वातावरण जब प्रकाशपूर्ण हो जाता है, तब मन में छिपे हुए सन्देह तथा अनजाने में मन पर असर करने वाले पूर्वग्रह बाहर आ जाते हैं तथा उससे सम्बन्धित व्यक्ति का जीवन एवं मन अधिक प्रसन्न हो जाता है। बेढंगे तौर से अहंभाव एवं अतिरेक से युक्त होकर मनुष्य जब पुरानी बातों से विरक्त कर जिन्दगी बसर करता है तब वह अधिक आग्रही एवं प्रगति पराङ्मुख हो जाता है। सीमा से बाहर की गोपनीयता एवं सनातनीपन समाज में—विशेषतया प्रगतिशील समाज में—इष्ट नहीं होता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि जो कुछ नई बात दीखे, उसी के पीछे दौड़ना शुरू किया जाय। अज्ञान जिस प्रकार स्वतंत्रता के लिये बाधक है, अल्पज्ञान अथवा विकृत ज्ञान भी उसी प्रकार स्वतंत्रता के लिये बाधक होता है। अतः समाज में व्यापक दृष्टि तथा स्वतंत्र बुद्धि से विचार करने की प्रवृत्ति को स्वतंत्रता की दृष्टि से बढ़ावा मिलना चाहिये। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि विचार करने की जैसी स्वतंत्रता अपने को है, वैसी औरों को भी है। अतः जो व्यक्ति स्वतंत्रता तथा विचार स्वतंत्रता के मर्म को जानता है, वह कभी भी दूसरों की भावनाओं का निरादर नहीं करेगा। दूसरों की धार्मिक भावनाओं का तिरस्कार करना जिस प्रकार सौजन्य का लक्षण नहीं है, वैसे ही स्वतंत्रता के मर्म के बोध का भी लक्षण नहीं है। आजकल मराठी के समाचारपत्रों में जो कुछ लिखा जाता है, उसमें सौजन्य तथा सद्भाव की मात्रा बहुत कम नजर आती है। समाचारपत्रों को मार्गदर्शक तथा समाज के नैतिक आदर्शों का रक्षक होना चाहिये। और इसी कारण मुद्रण की स्वतंत्रता को एक मौलिक अधिकार माना जाता है। तथापि इस प्रजातंत्र के युग में किस पर क्या आरोप किये जायेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। हाथ में समाचारपत्र हो तो सचाई पर परदा डाल कर, असत्य का ढोल पीटकर किसी बनते हुए काम का पूरी तरह से नाश किया जा सकता है। जिस सत्य का बोध वाद विवाद द्वारा होना चाहिये, उसी की पहले अपमृत्यु हो जाती है। उसके बाद जो वाद-विवाद होता है वह गाली-गलौज की धूल से सारे समाज को कलंकित कर डालता है। एक बार जब किसी के पीछे हाथ धोकर पड जाते हैं, तब सूक्तासूक्त एवं योग्यायोग्य किसी का विचार न करके विद्वेषपूर्वक एवं विकृत रूप से उस पर हमला करना शुरू कर देते है। विवाद्य विषय भले ही सार्वजनिक स्वरूप का हो तो भी वैयक्तिक जीवन की कथित एवं तथाकथित बातों को तूल देकर बदनामी एवं अपकीर्ति का उच्चांक हासिल किया जाता है। कार्य के स्थान पर कर्त्ता की आलोचना की जाती है। गाना मीठा है या नहीं इस बात का विचार न करके गायक की शक्लो-सूरत पर बहस की जाती है। तथा इस प्रकार मुद्रण की स्वतंत्रता तथा [illegible] की स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया जाता है और तब पता चलता है कि

राज्य के द्वारा इन स्वतंत्रताओं के दुरुपयोग को रोकने के लिये उठाये जाने वाले कदम कितने अच्छे हैं। जब तक समाज में हमारी अपकीर्ति अथवा अपमान नहीं होता, तब तक समाज में चलने वाले हुडदंग को हम आनन्द से देखते रहते हैं। जब हमारे अपने ऊपर कोई अन्याय हो, तभी हम उसके प्रतिकार के लिये युद्ध करें यह बात ठीक नहीं, किसी भी व्यक्ति पर अन्याय होता हो, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसके विरुद्ध भी आवाज उठायें। विरोधी दल वालों की सभा में पत्थर तथा चप्पलों की वर्षा होने का समाचार सुनकर कुछ लोग मन-ही-मन आनन्द अनुभव करते हैं। पर ऐसे भी बहुतेरे होते हैं, जिन्हें यह सुनकर बुरा लगता है। पर वे नीतिज्ञतापूर्वक चुप बैठे रहते हैं और जब प्रसंग उन पर आता है, उनकी धोती खोली जाती है, तब वे सामाजिक नीतिमत्ता की तथा सार्वजनिक जीवन की शुद्धता की बड़ी-बड़ी बातें करने लग जाते हैं। इस प्रकार के ढोंगी एवं उदासीन लोग सामाजिक स्वतंत्रता के दुश्मन होते हैं, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसमें सत्य का अंश रहता है। जो बात सार्वजनिक जीवन के मामले में सही है, वही बात धार्मिक मामलों के बारे में भी सही है। अन्य धर्मीय लोग आपस में लड़ते झगड़ते रहें, तो लोगों को अच्छा लगता है। मुसलमान और ईसाई आपस में लड़ें-झगड़ें, या ईसाई लोग किन्हीं अन्य धर्मियों के साथ लड़ें-झगड़ें, तो सामान्य रूप से हिन्दू धर्मी लोग उदासीन बने रहते हैं। यदि सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा करना है, तो समाज में धार्मिक असहिष्णुता का विरोध किया जाना चाहिये। इसी प्रकार विचार स्वतंत्रता अथवा भारतीय संविधान में दी गई धार्मिक स्वतंत्रता तथा धार्मिक प्रचार की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि ये स्वतंत्रताएँ असीम हैं। किसी धर्म की श्रेष्ठता एवं उदात्तता का प्रदर्शन करना जुदा बात है। किन्तु विचार स्वतंत्रता का नाम लेकर उन-उन धर्मों के आचार तथा श्रद्धा स्थानों के विरुद्ध अपमान-जनक बातें कहना अथवा उनका उपहास करना सभ्य साबित नहीं होता। धर्म विषयक विचार-विनिमय तो अत्यन्त श्रेष्ठ वातावरण में होना चाहिये। सवाल यह पैदा होता है कि क्या इस गाली-गलौज अनुत्तरदायितापूर्ण आचरण तथा सामाजिक अशांति को उसी प्रकार चलने दिया जाय? अवश्य ही उस सीमा तक मुद्रण पर बंदिश लगा देनी चाहिये। समाज का हित तथा समाज की शांति के लिये यदि खतरा पैदा हो जाय, तो हर कोई कहेगा कि उन पर रोक लगाई जानी चाहिये और यह रोक स्वतंत्रता का अपहरण न होकर स्वतंत्रता की रक्षा ही है, यह बात भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर बुद्धि को जँचने वाली है।

यदि आधुनिक राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र की ओर ध्यान से देखा जाये, तो ज्ञात होगा कि व्यक्ति के जीवन के सभी क्षेत्रों पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। भाषण, सभा तथा विचार की स्वतंत्रता है पर विचार स्वतंत्रता को मोड़ देने वाली पृष्ठभूमि ऐसी होनी चाहिये, जिसमें राज्य का हस्तक्षेप एक निर्धारित सीमा से अधिक नहीं होना चाहिये। गत ४० वर्षों का इतिहास बताता है कि अनेक राष्ट्रों में बचपन से ही लोगों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, जिससे उनके मन तथा आदर्श एक विशेष साँचे में ढलकर निकलें। सोवियत रूस में शिक्षा का सारा कार्यभार सरकार ने अपने ऊपर ले रखा है। वहाँ पाठ्यक्रम की किताबों से लेकर कवायद तक

की सारी व्यवस्था राज्य के नियंत्रण में रहती है। 'जिसका हाथों पालनावाली डोरी सो देश उद्धरी' (अर्थात् जिसके हाथ में पालने की डोरी है, वही देश का उद्धार कर सकती है।) का सिद्धान्त अपने विभिन्न अर्थों में हमारे अनुभव का विषय बन रहा है। अब शिक्षा देने वाला तो क्या, पालने की रस्सी को भी हाथ में लेने वाला व्यक्ति नहीं रह गया है तथा सरकारी संस्थाओं के हाथों से काम किये जा रहे हैं। अभिप्राय यह पर गई कि उनके बच्चे दाइयों के अधिकार में, बड़े हुए कि स्कूल के अधिकार में; तथा उसके अनन्तर समाज की नियोजन व्यवस्था के अधीन। इस अवस्था में जो कुछ बचपन से सिखाया जायेगा, उसके अनुसार ही बच्चे की बुद्धि भी विकसित होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि उसका मन विचार करने के एक विशेष सांचे में ढलकर निकलेगा तथा यह बुद्धि उत्पन्न होगी कि जो कुछ सिखाया गया है, वही श्रेष्ठ एवं योग्य है। इस सचाई की ओर ध्यान देने से यह प्रतीत होगा कि विचारों को स्वतंत्रता देने भर से ही काम नहीं चलेगा। मन को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की आदत भी होनी चाहिये। भारत में राज्य निधर्मी है, अतः सामान्य रूप से स्कूलों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। इतना ही नहीं, नीति विषयक शिक्षा भी अब पढ़ाई लिखाई का हिस्सा नहीं रह गयी है। इसका थोड़ा-सा प्रभाव विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता में दिखाई देता है। भारत में अनेक धर्म हैं, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन आदि प्रमुख हैं। वास्तव में सब धर्मों के मूलतत्त्व एक ही हैं, उनमें भेद नहीं है। नीति विषयक कल्पनाएँ भी सामान्य रूप से एक जैसी ही हैं। तथापि किसी भी शिक्षा संस्था को किसी खास धर्म की शिक्षा देने की छूट नहीं होनी चाहिये। क्योंकि धर्मनिष्ठा कब धर्मान्धता में परिणत हो जाय, इसका कोई भरोसा नहीं। और जब एक बार धर्मान्धता का पागलपन समाज में आ जाता है, तब असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है। और असहिष्णुता के वातावरण में स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो पाती। अतः बचपन ही से बच्चों में सहिष्णुता एवं सद्भावना का वातावरण रहे, तो बच्चों में विचार-शीलता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जो बात धर्म विषयक शिक्षा के बारे में है, वही बात सर्वधर्म सामान्य रूप से समाजशास्त्र की शिक्षा के बारे में भी समझनी चाहिये। अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र की शिक्षा देते समय कठमुल्लेपन से काम नहीं लेना चाहिये। विभिन्न मतों एवं विचारधाराओं का ज्ञान अवश्य दिया जाना चाहिये, उससे तुलनात्मक विचार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ज्ञान प्रथमतः दिया जाना चाहिये। विचार शक्ति के लिये अवसर दिया जाना चाहिये तथा सारे शिक्षा के क्षेत्र में अनुकूल वातावरण होना चाहिये। आधुनिक राज्य में शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक है। हथियारों के जमा करने की उपेक्षा की जा सकती है, पर शिक्षा की नहीं। शस्त्रास्त्रों की सामर्थ्य कितनी भी क्यों न हो, उन्हें चलाना मनुष्य ही को है; अतः मनुष्य की सामर्थ्य अधिक होनी चाहिये। यदि उसका मन न हो तो वह वही बात को करेगा नहीं। करेगा भी तो बिगाड़ कर करेगा। राज्य का अर्थ है नागरिक। किसी दीवार की ताकत उसमें लगी हुई ईंटों पर आश्रित रहती है। कच्ची ईंटों की दीवार पक्की नहीं हो सकती। एकांगी शिक्षा वाले नागरिक व्यापक दृष्टि के तथा सन्तुलित बुद्धि के नहीं होते, यह स्पष्ट है। अतः यदि आप चाहते हैं कि स्वतन्त्रता की रक्षा हो, तो

आपको सन्तुलित एवं व्यापक बुद्धि के नागरिक निर्माण करने होंगे। और ऐसे नागरिक निर्माण करना शिक्षा-क्षेत्र का काम है। अतः शिक्षा-क्षेत्र के सम्बन्ध में सरकार को सर्वसामान्य रूप से एक रूपरेखा खींच देनी चाहिये और तब उसमें आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। विद्यार्थी दशा में किसी खास विचार एवं उद्देश्य से बनाये गये पाठ्यक्रम की पुस्तकों द्वारा मतों का लादना उचित नहीं। विद्यार्थियों में ज्ञान के सम्बन्ध में कुतूहल उत्पादन करने तथा सम्बन्धित विषयों में रुचि उत्पन्न करने की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए, ह्रास नहीं।

विद्यार्थी दशा में क्या पढ़ा जाय, इस बारे में सामान्य सीमाएँ सरकार द्वारा निश्चित हो जाने के बाद, जो अभीप्ट हो, जिसकी इच्छा हो, उसके पढ़ने की छूट होनी चाहिए। विद्यमान सरकार या सत्ताधारी दल को जो सिद्धान्तत प्रिय है, वही पढ़ाया जाने का आग्रह ठीक नहीं। सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक शास्त्र से सम्बन्धित मत निरपेक्ष नहीं हो सकते। समाज के बदलते ही समाज-विषयक सिद्धान्त भी बदल जाते हैं। अतः समाज-शास्त्र सम्बन्धी किसी भी बात के प्रतिपादन में हठ से काम नहीं लिया जाना चाहिए तथा व्यक्ति को विविध दृष्टिकोणों से जानकारी दी जानी चाहिए व उसे स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। मत भले ही नवीन हों, विपरीत हों, धर्मान्धता से युक्त हों, अश्लील हो, इतिहास-विरुद्ध हो, या असामाजिक हो, तो भी उनके प्रदर्शन पर राज्य की ओर से प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाने चाहिएँ। सामान्य रीति से वे ही प्रतिबन्ध लगाएँ जाने चाहिए, जो राज्य के आत्यन्तिक हित की दृष्टि से आवश्यक हों। अन्य प्रतिबन्धों का लगाना ठीक नहीं। पुस्तक प्रकाशन पर ही प्रतिबन्ध लगा देना एक अनुचित प्रतिबन्ध है। इस प्रतिबन्ध के लगने से लोगों को पुस्तक में प्रतिपादित विषय की तथा लेखक के दृष्टिकोण की जानकारी नहीं होगी तथा उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार के संशय लोगों के मनों में घर कर जाते हैं। इसी प्रकार किसी भी एक अधिकारी को प्रतिबन्ध लगाने का हक दे डालना भी ठीक नहीं। जिस अधिकारी को नाट्य-शास्त्र की गन्ध नहीं; साहित्य से परिचय नहीं, वह यदि उठकर यह कहने लगे कि फलां नाटक समाज के हित में नहीं है, तो इसे कहाँ तक उचित ठहराया जा सकता है? यदि एक सिरे से लेकर सब पर रोक लगाई जाने लगे, तो समाज में नये विचारों के पनपने के लिए अवसर ही नहीं रह जायेगा। समाज का वैचारिक जीवन एक बन्द पानी वाले जोहड़ जैसा हो जायेगा। जहाँ किसी भी बात पर केवल इतने ही से प्रतिबन्ध लगे कि वह परंपरा तथा रीति-रिवाज के अनुसार नहीं है, वह समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता। और एक बार नये विचारों पर रोक लगाने के सिद्धान्त को मान लिया गया कि बस वहाँ वही सही माना जायेगा जो इस वक्त प्रचलित है। तथा लोग समझेंगे कि इस समय शासन की बागडोर जिन लोगों के हाथ में है, उन्हें छोड़ अन्य कोई आदमी दुनिया में समझदार है ही नहीं। सामान्य रूप से यह कोई नहीं कहेगा कि मत स्वतन्त्रता में विवेक या प्रतिबन्ध से काम लेना ही नहीं चाहिए। जो प्रतिबन्ध हों, उनके पीछे क्या

दृष्टिकोण हो, यह भी समझ लेना चाहिए। सामान्य रूप से उनके पीछे समाज के श्रेष्ठ हित ही का दृष्टिकोण होना चाहिए। जिस मत स्वतन्त्रता का हम विचार करते हैं, उसका अर्थ है वे सामान्य प्रश्न, जो समाज में निर्माण होते हैं तथा जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन से है। किसी व्यक्ति के अथवा उसके कृत्य के सम्बन्ध मे बोलने तथा उसके सम्बन्ध मे अपना मत प्रदर्शित करने जैसी बातो पर स्वभावतः अधिक प्रतिबन्ध होगे। व्यक्ति के जिन कृत्यो का स्वरूप एकदम वैयक्तिक है, तथा जिसका सम्बन्ध किसी भी सार्वजनिक सवाल अथवा नीतिमत्ता से नही आता, उन पर मत देने के सम्बन्ध मे देश मे जो कानून बने हुए हैं, वे विचार करेंगे। अब तक हम जिस मत स्वतन्त्रता का विचार करते आये हैं, वह स्वतन्त्रता इससे भिन्न है। मत स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्ति की बदनामी अथवा अपमान करना स्वतन्त्रता के अधिकार का सदुपयोग नही कहा जा सकता। किसी को शराबी, दुराचारी, पत्नी को मारने-पीटने वाला या बेईमान कहते फिरना मौलिक स्वतन्त्रता की श्रेणी मे नही आता। अतः यह अपराध हो जाता है। हाँ, जब किसी व्यक्ति का आचरण सार्वजनिक महत्त्व का हो, तो उसकी आलोचना मौलिक स्वतन्त्रता की श्रेणी मे आ जाती है। कोई व्यक्ति कपटी हो, और कोई यह कहे कि उसके साथ व्यवहार करना खतरनाक होगा तो यह कहना क्षम्य ही माना जायेगा। क्योकि ऐसे कपटी से सारे समाज को खतरा होता है। अतः ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे प्रकट किये गए विचार अपराध नही होते। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस मामले मे जो भी कुछ कहा जाय, वह सही हो तथा लोगों की भलाई मे हो। मत स्वतन्त्रता का अर्थ किसी की निन्दा करना कदापि नहीं। मुद्रण स्वतन्त्रता का यह अर्थ नही कि झूठ-मूठ का जो भी मन मे आये, वह लिख दिया या लोगो की बदनामी कर दी या किसी की पगड़ी उछाल दी। विचारों का प्रकट करना या लिखना ऐसा न हो जो अपराध बन जाये। जो व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे आता है, उसकी आलोचना होना कोई अस्वाभाविक बात नही है। पर कोई व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे आये तो इसका यह अर्थ नही कि उसके वैयक्तिक जीवन को लेकर समाज के चौराहे पर उसके ऊपर कीचड़ उछाला जाय। विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता के नाम पर ऐसा करना शोभा नही देता। कोई उम्मीदवार चुनाव के लिए खड़ा हो, तो उसकी पार्टी तथा उसके प्रोग्राम की आलोचना करना अनुचित नहीं। पर उसके वैयक्तिक जीवन ही की आलोचना करने लग जाना अनुचित है। यदि किसी व्यक्ति को दुराचारी तथा बेईमान होने के कारण नौकरी से हटा दिया गया हो, तो सार्वजनिक महत्त्व की वस्तु होने के नाते इस बात को कहना उचित ही होगा, बशर्ते कि यह बात सही हो। सभी सही बातों का सार्वजनिक महत्त्व नही होता। केवल उन्ही बातो को जनता के सामने लाना चाहिए, जो सार्वजनिक महत्त्व की हों। यदि किसी गवैय्ये का व्यवहार अपनी पत्नी के प्रति बहुत ही निर्दय हो, तो उस समय इसका उल्लेख करना योग्य नही, जब उसकी गायकी की आलोचना हो रही हो तथा ऐसी बातों के उल्लेख को मत स्वतन्त्रता नही कहा जा सकेगा। क्योंकि इस सचाई का कोई सार्वजनिक महत्त्व नही है। इसके विपरीत, यदि पार्टी का प्रोग्राम नशाबन्दी का हो और उम्मीदवार खुद शराबी हो, तो उम्मीदवार के शराबी होने की आलोचना

अनुचित नहीं कही जायेगी, बशर्ते कि वह सचमुच ही शराबी हो। किसी भी व्यक्ति के खिलाफ जो जी में आये सो बोलने, तथा जैसा जी में आये वैसा उसका अपमान करने या उसे नीचा दिखाने का अधिकार या स्वतन्त्रता किसी को नहीं है। इस नियम का जो एकमात्र अपवाद है, वह हम ऊपर बता आये हैं। मत स्वतन्त्रता का उपयोग समाज के हित में किया जाना चाहिए। सार्वजनिक हित की दृष्टि से मत स्वतन्त्रता को काम में लाकर व्यक्ति जो बात करेगा, उसे संरक्षण मिलना चाहिए। बहुत दफा आलोचना में अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। पर अतिशयोक्ति का प्रायश्चित्त आलोचक को उचित मात्रा से अधिक नहीं दिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ चुनाव के लिए उम्मीदवार खड़ा है। आलोचक ने उनकी योग्यता एवं वक्तृत्व के बारे में बोलते हुए कहा—श्रीयुत् 'स' जमुहाई लेने भर को सभागृह में मुँह खोलते थे। इस कथन में वक्रता एवं दुर्जनता स्पष्ट है तथापि यदि इसमें सचाई हो, तो उनका यह कथन समाज के लिए हितकर ही सिद्ध होगा। सार्वजनिक जीवन अब इतना पेचीदा हो गया है कि अब बिल्कुल नाप-तोलकर बोलना या लिखना उत्कृष्ट ध्येय होते हुए भी उस पर अमल करना बहुत मुश्किल हो गया है। प्रजातन्त्री समाज-व्यवस्था में हजारों व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते हैं, भाग लेते हैं तथा सभी १०० फीसदी उत्तरदायित्व से काम लेने वाले नहीं होते अतः जो कुछ भाषण में बोला या लेख में लिखा जाता है, उसके बारे में अदालत के सामने कोई मसला पेश हो तो अदालत को उस मामले में अधिक व्यापक दृष्टि से तथा सहानुभूति से काम लेना चाहिए। एकाध शब्द मुँह से निकल गया हो तो उसके लिए नुकसान भरपाई या दण्ड की सजा देना कानून के अनुसार होते हुए भी विशेष न्याय का सूचक नहीं है। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वालों को विचारपूर्वक बोलना तथा संतुलित होकर लिखना चाहिए, यह हम मानते हैं, तथापि वैसा लिखा या बोला गया है या नहीं इसका विचार करते समय बहुत बारीकी से काम नहीं लेना चाहिए।

समाज में व्यक्तियों के विरुद्ध बोलते समय विचार-स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में, तथा स्वतन्त्रता की सीमाओं के सम्बन्ध में हम थोड़ा-सा मत प्रदर्शन तथा दिग्दर्शन पहले कर आए हैं। व्यक्ति के विरुद्ध मतप्रदर्शन के सम्बन्ध में हमें तभी विचार करना चाहिए, जबकि व्यक्ति का सम्बन्ध सार्वजनिक क्षेत्र से हो, अन्यथा वह अप्रासङ्गिक साबित होगा। समाज के रीति-रिवाज, समाज की परम्परा, धार्मिक मान्यताएँ, धार्मिक प्रथाएँ—अर्थात् सामाजिक क्षेत्र में जो कुछ है या होता है, उसके बारे में मत प्रकट करते समय अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। तथा उस स्वतन्त्रता की सीमा क्या होनी चाहिए, इस पर थोड़ा-सा विचार हम ऊपर कर आए हैं। तथापि राजकीय एवं धार्मिक मामलों में स्वतन्त्रता का विचार करते समय मत स्वतन्त्रता का सवाल कुछ टेढ़ा और हो जाता है। मनुष्य को कौनसे कपड़े पहनने चाहिएँ, कौनसा रोजगार करना चाहिए, इस सवाल में तथा उसे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए या नहीं, इस सवाल में बहुत जबर्दस्त अन्तर है। मनुष्य का खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना आदि बातें गौण हैं। अतः राजकीय क्षेत्र के मत स्वतंत्रता का सवाल अधिक महत्त्व का है। अतः उसका विचार हमें अधिक विस्तार से करना होगा। अब

मनुष्य पैदा होता है, उस समय समाज की जो परिस्थिति होती है, उसको उसी रूप में उसे स्वीकार करना पड़ता है। उसके पैदा होते समय जो सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक रचना तथा राजनैतिक संगठन होंगे, उन्हें उसे वयस्क होने तक स्वीकार करना पड़ता है। उस समय उसके लिये कोई विकल्प या चुनने का मौका नहीं होता। मनुष्य पत्नी का चुनाव कर सकता है, पर माता-पिता का नहीं। उसी प्रकार पैदा होने से पूर्व मनुष्य यह नहीं कह सकता कि फलां राज्य या फलां समाज ही में उसे पैदा होने दिया जाना चाहिए। हाँ, पैदा होने के बाद, पैदा होने के समय की परिस्थिति को बदलने तथा बदलने की कोशिश करने का उसे पूरा हक हासिल है। डॉ० अम्बेडकर ने एक बार कहा था कि 'भले ही मैं हिन्दू के रूप मे पैदा हुआ होऊं, पर मैं हिन्दू के रूप में नहीं मरूँगा।' उनका यह कहना उनके वैयक्तिक निश्चय का द्योतक तो है ही, साथ में उसमें मानवीय समाज के सम्बन्ध मे एक चिरन्तन सत्य की ओर भी संकेत होता है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजकीय व्यवस्था को बदलने का व्यक्ति को जन्मसिद्ध अधिकार निर्विवाद है। जन्म दैवायत्त है; पर पौरुष पुरुषायत्त है, यह ध्यान में रखना चाहिए। तथापि सवाल यह पैदा होता है कि जन्म-सिद्ध अथवा संविधान-सिद्ध अधिकार एवं स्वतन्त्रता निरपेक्ष, नि:सीम अथवा सन्दर्भ-शून्य हैं या नहीं ? बोलने तथा प्रकाशित करने से सम्बन्धित मत स्वतन्त्रता में कुछ अन्तर है या नहीं ? इसी प्रकार संकट-कालीन तथा शान्तिकालीन मत स्वतन्त्रता में कुछ अन्तर है या नहीं ? जब चारों ओर हड़ताल, सत्याग्रह, विक्षोभ आदि का बोलबाला हो, उस समय राज्य की आलोचना करने की कितनी स्वतन्त्रता होनी चाहिए ? इसी प्रकार भाषण कहाँ दिया गया, इस बात का विचार होना चाहिए या नहीं, इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं। सामान्यतया यह नहीं कहा जा सकता कि सभी आलोचनाएँ, सद्बुद्धि या सद्भावनापूर्वक नहीं होतीं। इसी प्रकार सभी आलोचनाएँ दुष्टबुद्धि या द्वेषभाव से नहीं की जातीं। कुछ आलोचनाओं में क्रियात्मक एवं उपयोगी सुझाव होते हैं तथा कुछ में मन को क्षत-विक्षत करने वाले 'वाक्क्षत' होते हैं। सार्वजनिक मामलों में मत स्वतंत्रता का विचार करते समय सम्बन्धित व्यक्तियों अर्थात् आलोचकों का उद्देश्य प्रधान नहीं होता वरन् आलोचना की सत्यता तथा सार्वजनिक हित की दृष्टि से होने वाला उसका प्रभाव प्रधान होता है। सरकार के राजकीय कृत्यों की आलोचना होनी चाहिए, उसके सम्बन्ध में मत प्रदर्शन होना चाहिए। प्रजातंत्री राज्य व्यवस्था में आलोचना तथा चर्चा प्रजातन्त्र की आत्मा है; उसका जीवन तत्व है। तथापि हर समाज व्यवस्था में अथवा राज्य व्यवस्था में कुछ शाश्वत, सनातन तथा राज्य संस्था को जीवन शक्ति प्रदान करने वाली बात अवश्य होती है। अब सवाल यह पैदा होता है कि दैनंदिन सामान्य बातों की आलोचना में तथा उन बातों की आलोचना में, जिन पर समाज खड़ा है, या जिन पर राज्य संगठित हुआ है, हमें कुछ फर्क करना चाहिए या नहीं ? लोकमान्य तिलक ने राज्य तथा सरकार ऐसा उपयोगी फर्क किया था। राज्य एक अचल-प्रतिष्ठ-मूर्ति है तथा सरकार एक उत्सव मूर्ति है। उत्सवकालीन मूर्ति की पूजा भी की जाती है और समय आने पर उसे विसर्जित भी कर दिया जाता है। अचल-प्रतिष्ठ मूर्ति है वह अचल-प्रतिष्ठ ही रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक

राज्य की व्यवस्था एवं संविधान में शाश्वत, मौलिक एवं अपरिवर्तनीय तथा अशाश्वत, अमौलिक एवं परिवर्तनीय तत्वों का निर्देश एवं संकेत अवश्य होता है। प्रचलित सरकार अथवा मौजूदा सत्ताधारी मंत्रिमंडल की आलोचना करना या आलोचना की भरमार कर देना जुदा बात है तथा राज्य के मौलिक सिद्धान्तों की आलोचना करना जुदा बात है। सरकार द्वारा किये गए नियोजन की आलोचना करना जुदा बात है तथा प्रजातन्त्री राज्य व्यवस्था का एकदम विरोध करना जुदा बात है। सरकार के विरुद्ध बोलने या लिखने के मामले में स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा उस प्रकार मत प्रकट करना सरकार-द्रोह होगा पर राज्यद्रोह नहीं होगा। किसी सरकार विशेष के प्रति अनिच्छा प्रकट करना योग्य है पर किसी भी प्रकार की सरकार नहीं चाहिए ऐसा कहना राज्य के विरोध में है। अतः वैसा कहना अयोग्य होगा। तथापि यह कहना आसान नहीं होता कि कोई भी आलोचना या मत स्वतन्त्रता विद्यमान सरकार के विरुद्ध है या विद्यमान व्यवस्था के विरुद्ध। अंग्रेजों के राज्य में जिस आलोचना या लेखन को राज्यद्रोह कहा जा सकता था, उसे अब राज्यद्रोह नहीं कहा जा सकता। उस जमाने में सरकार तथा राज्य के बीच अन्तर नहीं किया जाता था। अब वह स्थिति नहीं रह गई है। सरकारें अब राज्य की मुनीम हैं और उनकी नियुक्ति एक निश्चित समय तक की जाती है। उस अवधि को बढ़ाया जा सकता है या घटाया जा सकता है। किसी नौकर को नौकरी से अलग करना हो तो उसे एक महीने का नोटिस दिया जाता है। पर प्रजातन्त्र में किसी भी मन्त्रिमंडल को जनता अर्थात् राज्य की मालिक एक क्षण का भी नोटिस दिये बगैर हटा सकती है। अतः मत स्वतन्त्रता का विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी राज्य व्यवस्था प्रजातन्त्री है। भारत में सबसे पहला राज्यद्रोह का अभियोग लोकमान्य तिलक के विरुद्ध १८६६ में लगाया गया। उसके बाद स्वतन्त्रता मिलने तक ऐसे अभियोग कई लगाए गए। सरकार के विरुद्ध आलोचना करने के अधिकार को साफ तौर से कभी मन्जूर नहीं किया गया। केवल यही कहा गया कि आलोचना से सरकार के विरुद्ध अप्रीति या द्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना है। अब यह स्थिति नहीं रह गई है। संविधान ने प्रत्येक नागरिक को भाषण की स्वतन्त्रता दे दी है। अब प्रश्न सिर्फ यही रह जाता है कि जो योग्य (रीजनेबल) मर्यादाएँ हमने बताई हैं उनका पालन होता है या नहीं।

प्रस्थापित समाज-रचना के विरुद्ध, आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध, राजकीय व्यवस्था के विरुद्ध बोलना अपराध नहीं वरन् नागरिक को प्राप्त मौलिक अधिकारों का उपयोग है। आज की परिस्थिति को पुराने मानों में राजद्रोह कहा जा सकता है। वह अपराध अब रह नहीं गया है। यदि आलोचना सीमा के बाहर हो जाय तथा कोई कहे कि प्रस्थापित सरकार को हिंसा के रास्ते से हटाना चाहिये तो वह स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। इसी प्रकार संविधान में बताये गए वैध मार्ग से न बदल कर हिंसा के अवैध मार्ग से बदलने का प्रचार करना भी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। हिंसा का आश्रय लिये बिना किया गया प्रचार हमेशा अपराध होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जो प्रचार हिंसा का आश्रय लेकर किया जाता है, वह निःसंशय अपराध

सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि प्रचार कैसा और कब किया गया इस बात का अर्थात् स्थान, काल एवं सामाजिक परिस्थिति का विचार किये बिना कोई निर्णय नहीं देगा। लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकार के प्रचारों का फल एक जैसा ही होता है, ऐसी बात नहीं। गोवध प्रतिरोध का प्रचार मुस्लिम मुहल्लों में हिन्दू लोग तीव्रता से करें, तो उसका जो फल होगा, वह हिन्दू बस्ती में करने से नहीं होगा। इसी प्रकार गोवध के बारे में एक पोथी प्रकाशित करने से जो फल होगा, वह सभा में किये गये व्याख्यानात्मक प्रचार के फल से जुदा होगा। यदि कोई साम्यवादी लेखक एक निबन्ध लिखे और उसमें यह प्रतिपादित करे कि भारत का संविधान पूंजीवादी स्वरूप का है तथा सामान्य जनता को लूटने के इरादे से बनाया गया है; अतः लोगों को चाहिये कि वे उसके विरुद्ध आन्दोलन करें तथा जनता के राज्य की स्थापना करें, तो यह नहीं कहा जा सकेगा कि उसने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं; समाज-रचना तथा राज्य-रचना को बदलने का अधिकार व्यक्तिमात्र को हासिल है। प्रश्न यही रह जाता है कि उसे बदलने के लिये किन उपायों का प्रतिपादन किया गया है तथा उस प्रतिपादन का समाज पर क्या असर हुआ है। यदि उस प्रतिपादन में हिंसा के मार्ग का स्पष्ट एवं प्रक्षोभक निर्देश होगा, तो सीमा का अतिक्रमण साफ है। तथापि केवल सीमा के अतिक्रमण को देखकर ही सरकार को उसके विरुद्ध कदम नहीं उठाने चाहियें। मान लीजिये कि उस किस्म की बात किसी पुस्तक या ग्रन्थ में कही गई हो, तो इस बात का भी विचार करना चाहिये कि पाठकों पर उसका क्या असर हुआ है। तथा सामान्य रूप से नागरिकों की राजकीय चतुरता पर, समझदारी पर, कुछ-न-कुछ विश्वास अवश्य करना चाहिए। जहां लोगों को पूरी जानकारी है कि वे मतदान द्वारा सरकार को बदल सकते हैं तथा अहिंसक क्रांति कर सकते हैं, वहां लोग हिंसक मार्ग का आश्रय नहीं लेंगे तथा ऐसी विचारधारा की उपेक्षा करेंगे। किसी आलोचनात्मक निबन्ध में केवल आलोचना ही हो, दोनों पक्षों का सन्तुलित आलोचन न हो अथवा एक ही पक्ष का आलोचन किया गया हो, दूसरे पक्ष को हाथ ही न लगाया गया हो, तो केवल इस से वह निबन्ध या ग्रन्थ मत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं साबित होता। मौजूदा बातों की स्तुति न करने के कोई भी आलोचना स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं हो सकती। प्रजातंत्र का यह अर्थ नहीं कि जो अच्छा है उसी को देखा जाय या जो बुरा है, सिर्फ उसी की आलोचना की जाय। यदि कोई वैसा करता है तो वह अपराध भी नहीं। यह ठीक है कि चर्चा में साधक-बाधक दोनों ही पक्षों का समावेश होना चाहिये। तथापि यदि उसमें कोई एक पक्ष रह जाय, तो उसे मौलिक अधिकारों का दुरुपयोग नहीं कहना चाहिये। राज्य के काम-काज के तथा शासन के दोषों को दिखाना नागरिक का कर्त्तव्य है। वह यदि उन्हें दिखायेगा नहीं तो राज्यकर्त्ताओं को लगेगा कि उनके कामकाज में कोई त्रुटि नहीं है। उनकी यह धारणा हो जाना कि वे सर्वथा त्रुटिहीन हैं; लोगों की स्वतंत्रता की दृष्टि से वह ठीक नहीं तथा अंत में वह बहुत भयानक बात हो जाती है। आज भारत में इतनी विचार-स्वतंत्रता है कि गत १२ बरसों में आक्षेपार्ह समझ कर जब्त किये जाने वाले राजनैतिक लेखों की संख्या बहुत ही नगण्य है। भारतीय संविधान की आलोचना करने वाली कितनी ही पोथियां लिखी गईं

हैं, इसी प्रकार राजकीय विचारधारा की दृष्टियों से कितने ही निबंध भड़कीली भाषा में लिखे गये हैं। गत १२ बरसों में भारतीय जन-साधारण की राजनैतिक बुद्धि एवं राजनैतिक चतुरता पर्याप्त मात्रा में बढ़ी है। केवल निबंध से, चाहे वह 'भावही' का हो या 'दामाडी' का, सामान्य जनता क्षुब्ध नहीं होती। जिन्हें अनुभवी तथा अभ्यस्त कहा जा सकता है, ऐसे मनुष्यों की संख्या भारत में शनैः-शनैः बढ़ती जा रही है। आज पूंजीवाद के विरुद्ध जो भी कुछ पुस्तकों या अखबारों में लिखा जा रहा है, वह बहुत ही मधुर एवं मिलनसारी से युक्त भाषा में लिखा जाता है। कठोर अथवा कटु भाषा का प्रयोग खुल्लम-खुल्ला नहीं होता। तथापि यदि इस मामले में किसी प्रसंग में कुछ अतिरेक हो जाय, तो उसे स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं कहा जा सकता। यदि हिंसा का आश्रय लेने के लिए कहा जाता हो तथा उसके कुछ प्रभाव दृष्टिगत होने लगे हों; या हो चुके हो तो अवश्य वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग एवं अतिक्रमण होगा तथा उसे रोकने के उपाय करना सामाजिक हित की दृष्टि से उचित होगा। केवल हिंसा की गंध आने भर से लेख को आक्षेपार्ह समझ लेना—या जब्त कर लेना शासन की दृष्टि से अव्यावहारिकता तथा राष्ट्र की दृष्टि से राजनीतिज्ञता का द्योतक साबित नहीं होगा। केवल राज्य के लिये या सार्वजनिक शान्ति के लिये खतरे की सम्भावना भर से स्वतंत्रता का अपहरण करना ठीक नहीं। खतरे या सार्वजनिक शांति के भंग की पूरी निश्चिति होनी चाहिए; तथा यदि यह खतरा बहुत ही नजदीक आन पड़ा हो, तो सरकार द्वारा उठाये जाने वाले कदम समर्थनीय ही सिद्ध होंगे। और साथ ही किसी एक शासक अथवा मंत्री के यह कहने पर कि वैसी परिस्थिति है, सरकार द्वारा की गई कार्रवाई समर्थनीय नहीं मानी जा सकती। संयुक्त महाराष्ट्र के आन्दोलन में जिन व्यक्तियों को यह कहकर पकड़ लिया गया कि वे दंगे करेंगे, उनके सम्बन्ध में सरकार के कृत्य सर्वथा असमर्थनीय थे। तथा जिस मंत्री ने यह कहा कि यदि उन्हें पकड़ा न जाता तो आन्दोलनकारी सरकार पर कब्जा कर लेते, उसका यह कथन अदूरदर्शिता-पूर्ण था। इसमें राजनैतिक अप्रामाणिकता भी थी। परिणाम की सम्भावना के आधार पर किसी के लेख पर रोक लगा देना नागरिकों के अधिकार का अपहरण करना है। और यदि इस रीति से लेखों पर रोक लगाई जाने लगे, तो उसका असर विचार-स्वतंत्रता पर पड़ेगा तथा लोग विचार करने की आदत ही भुला बैठेंगे। मन निष्क्रिय हो जायेगा तथा जीवन निःसत्व हो जायेगा। समाज का जीवन निस्तेज हो जायेगा तथा जो विद्यमान है, उसकी स्तुति नागरिक धर्म बन जायेगा। तथा विचारशून्य आज्ञापालन नागरिकों का श्रेष्ठ कर्त्तव्य माना जायेगा। शासन समझने लगेगा कि वह सर्वज्ञ है। तथा चूंकि लोग उसके कहे को सुनते हैं अतः उसे लगेगा कि लोगों को उसकी सब बातें मंजूर हैं। जिस सरकार की आलोचना नहीं होती, जिस सरकार के कार्यों की जांच जनता द्वारा नहीं की जाती, वह सरकार आगे चलकर मुट्ठी भर लोगों के हाथ का खिलौना बन जाती है और तब वह मुट्ठी भर लोगों के हितों का ही ध्यान रखने लग जाती है। इसीलिये लोगों के राज्य में राजकीय विचारों को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राजकीय विचार आसमान से टपकते नहीं हैं। उनके शिखर समाज में होने वाली दैनन्दिन बातों की नींव पर ही बांधे जाते हैं। उनका आकार एवं शिखर

व्यक्तिमात्र को प्राप्त होने वाले रोज के अनुभवों द्वारा निर्मित होता है। जब कोई नागरिक कहता है कि पूँजीवाद खत्म होना चाहिए; तो उस समय उसकी आँखों के सामने पूँजीवादी-रचना मे मजदूरों का शोषण, ग्राहकों की आँखों मे झोंकी जाने वाली धूल तथा मालिकों का स्वार्थयुक्त बर्ताव रहता है। नानाविध लोगों की सम्मतियों पर आधारित विचारों मे से आगे चलकर राष्ट्रीय नीति का निर्माण होता है तथा राज्य की प्रगति होती है।

मत स्वतन्त्रता का विचार करते समय उसके माध्यम का विचार करना चाहिए, ऐसा हम पहले कह आये हैं। विचार स्वतन्त्रता का माध्यम सामान्यतया भाषण, मुद्रण, आदि के अतिरिक्त शिल्प, चित्रकला आदि भी हो सकता है। भाषण में संगीत एवं काव्य गायन इत्यादि का भी समावेश होता है। शायर डफ पर थाप देकर शूरवीरों का पोवाडा गाये, तो उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। यह भाषण न भी हो, तो भी विचार-प्रदर्शन का एक प्रभावी साधन तो है ही। यही बात कीर्तन, काव्यगायन, आदि के बारे में कही जा सकती है। एक चण्डिका की मूर्ति बनाई जाय और उसके भाले का आघात अप्रिय व्यक्ति तथा विचार-सरणी पर होता हुआ दिखाया जाय, तो वह भी विचार-प्रदर्शन का माध्यम हो जायेगा। लिखित अथवा भाषित न होने पर भी चित्रकला, कला एवं शिल्प के द्वारा मत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया जा सकता है। जब मत स्वतन्त्रता का आविष्कार प्रकाशन अथवा पुस्तक के द्वारा होता है, तब उस पर केवल इस कारण प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, कि वह फलाँ व्यक्ति ने या फलाँ दल ने प्रकाशित किया है। शान्तिकाल में किसी प्रकाशन पर सामान्यतया प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये। प्रकाशन से पूर्व भी प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। बाद मे भी प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। तथापि किसी भी विचारधारा के उन्मुक्त एवं निष्प्रतिबन्ध रूप से समाज में प्रसृत होने से राज्य के लिये खतरा पैदा हो जायेगा ऐसा मानना उचित नहीं। सवाल यह पैदा होता है कि इस पर कुछ पाबन्दी होनी चाहिये या नहीं। किन्हीं आधुनिक राज्यों मे सैनिकों के हाथ मे उन्मुक्त रूप से प्रकाशित पुस्तकों को जाने नहीं दिया जाता। राज्य की सुरक्षा तथा अस्तित्व अन्ततोगत्वा सैनिकों की निष्ठा पर निर्भर करता है और यदि कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित हो जाये, जो सैनिकों की निष्ठा को विचलित करने वाली हो, तो ऐसे समय संभावित खतरा राज्य को मोल लेना चाहिये क्या? उसके विरुद्ध समय रहते प्रतिबन्धक उपाय करने चाहिएँ। क्या समतावादी समाचार-पत्रों पर सैनिकों के लिये प्रतिबंध होना चाहिये? लोक सभा मे यह प्रतिपादित किया गया था कि प्रतिबंध होना चाहिये तथा यह भी शिकायत की गई थी कि सैनिकों के हाथों मे सदा वामपक्षियों के अखबार नजर आते हैं। सैनिक एक नागरिक है तथा केवल इसलिये कि उसने वर्दी पहनी हुई है, उसे नागरिक के हक से वंचित नहीं किया जा सकता। क्या सैनिकों को राजनैतिक स्थानों में जाने या उपस्थित होने का अधिकार होना चाहिये? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। नागरिकता की दृष्टि से प्रत्येक सैनिक को मतदान का अधिकार है और किसे मत दिया जाय, इस बात का निर्णय करने के लिए उसे भी हर पक्ष की विचारधारा को समझने की आवश्यकता है। उसे सुनने का अवसर उसे मिलना चाहिये। यह तर्क

उचित है। साथ ही यदि सैनिकों में कुछ गड़बड़ मच जाय, तो राज्य की सुरक्षा कठिन हो जाती है और राज्य ही नहीं रह जाता, तब राज्य द्वारा दिये गये सारे आश्वासन, सारे अधिकार तथा स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। धारा की आवश्यकता कुछ क्यों न हो, पर राज्य तो एक युग की वस्तु है तथा उसको सुरक्षा एवं अस्तित्व को मौलिक एवं अग्राधिकार युक्त माना जाना चाहिये। प्रस्तुत लेखक के मत में सैनिकों का राजनैतिक सभाओं में जाना तथा हर किस्म का लिटरेचर पढ़ना अभीष्ट नहीं है। उन पर किन्हीं बन्धनों का होना जरूरी है। सैनिकों को दिङ्‌मूढ़ करने वाली परिस्थिति उत्पन्न करने में सरकार का व्यवहार भी कारण बन सकता है। तथापि सरकार को सही रास्ते पर लाना अथवा उसे बदल डालना राज्य के सुरक्षा विभाग का काम नहीं है। सेना का काम नहीं है। यह काम सामान्य नागरिकों का है। मान लीजिये, राज्य मौजूदा सरकार से बढ़कर किसी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दे और सैनिक कहने लगें कि यह युद्ध की घोषणा ठीक नहीं है; अतः युद्ध करने से इन्कार कर बैठें तो क्या होगा? राज्य का खातमा हो जायेगा तथा अराजकता फैल जायेगी। इसी प्रकार मान लीजिये देश में अस्वस्थता उत्पन्न हो गई है, जनता प्रक्षुब्ध होकर दंगा करने लग गई है, उसे शांत करने के लिए सैनिकों को बुला लिया गया है। ऐसे समय यदि सैनिक लोग कहें कि हम दंगों को नहीं रोकेंगे, तो क्या होगा? उसका फल समाज की दृष्टि से निश्चित ही बहुत भयानक होगा। यह माना कि सैनिक लोग यंत्रवत् निर्जीव नहीं हैं। यह भी माना कि वे नागरिक हैं तथापि जो व्यवसाय उन्होंने स्वीकार किया है, उस व्यवसाय के नैतिक आदर्शों को तो उन्हें स्वीकार करना ही होगा। यदि कसाई को बकरा काटते समय रुलाई आ जाय, तो कहना होगा कि वह उस धंधे की दृष्टि से अयोग्य है। सैनिक का कर्त्तव्य है कि उसे जो आदेश मिले, उसका बगैर किसी न नु न च के तथा पूरी तरह से पालन करे। दिया गया आदेश योग्य है या अयोग्य; इस बात का निर्णय करना उसका काम नहीं है। अगर वह आदेश उसे अनुचित लगता हो, तो भी उसका कर्तव्य एवं धर्म यही कहता है कि उसे उसका पालन करना ही चाहिये। विद्यमान कानून के अनुसार न्यायाधीश को न्याय देना चाहिये। वह हो सकता है, गलत हो, अनिष्टकारक हो तथापि उसे ताक में रखकर न्याय देना सम्भव नहीं। यदि न्यायाधीश अपनी मर्जी के मुताबिक न्याय देने लग जाय तो समाज में निश्चिति नहीं रह सकेगी तथा कोई भी यह बताने में असमर्थ रहेगा कि कानून क्या है। यदि कानून के मुताबिक फैसला देना पसन्द न हो, तो न्यायाधीश को चाहिये कि वह अपने पद से हट जाय। दिया गया आदेश पालन करने की इच्छा न हो, तो सैनिक को नौकरी छोड़ देनी चाहिये। परन्तु यदि नौकरी छोड़ने की छूट दे दी जाय तो समाज की दृष्टि से वह भी अयोग्य ही साबित होगा। देश की रक्षा के लिए जिन सैनिकों को वर्षों से तालीम देकर तैयार किया गया है, वे यदि सुरक्षा का वक्त आते ही नौकरी से हट जाया करें तो बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ जायेगा। अतः सैनिकों को यह अधिकार भी नहीं दिया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह कि मत स्वतंत्रता का अर्थ भले ही यह हो कि जो जी में आये सुनो, जो जी में आये लिखो, जो जी में आये बोलो, तो उस पर समाज के हित को ध्यान में रखते हुए, आवश्यक प्रतिबन्ध तो लगाने ही चाहिये।

इस दृष्टि से सैनिकों को राजनैतिक सभाओं मे जाने की छूट नही दी जानी चाहिये। विचारस्वतंत्रता के सम्बन्ध में सैनिकों की दृष्टि से प्रतिबन्ध होना चाहिये। इतना ही नहीं, इकट्ठे होने तथा संगठन स्वतंत्रता के अधिकार पर भी प्रतिबंध होना चाहिये। इस विषय में हम आगे विचार करेंगे।

कोई कह सकता है कि सिर्फ भाषण सुनने या किसी पुस्तक को पढने से क्या होता है। संसार का अनुभव हमे बताता है कि विचार तथा कल्पना सामान्य बातें नहीं हैं। ये क्रान्ति के जन्मदाता होते हैं। कल्पनाएँ स्फोटक होती हैं। अतएव हर किसी विचार एवं कल्पना को खुली छूट दे देने तथा उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाने का फल जान बूझकर सामाजिक अशांति एवं संघर्ष को बुलावा देना होगा। इस विचारधारा मे कुछ तथ्य है। परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि विचारों पर पाबन्दी लगा देने से सामाजिक प्रगति मे रुकावट पड जाती है। कल्पनाओं पर लगाया गया प्रतिबंध सामाजिक विकास के लिये प्रतिबंधकारक हो जाता है। अग्नि रचनात्मक भी है, विध्वंसक भी। इसी प्रकार मनुष्य की विचार-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति भी रचनात्मक एवं विध्वंसक दोनों ही प्रकार की होती है। अत. विचारों पर प्रतिबंध लगाना अभीष्ट नहीं। अप्रतिबंध छूट देना भी अभीष्ट नहीं तथापि इस बात का फैसला करना आसान नहीं कि कौनसी कल्पनाएँ घातक है या विनाशकारी हैं। इसकी व्याख्या करने बैठें तो अनेक अड़चनें पैदा हो जायेंगी तथा अन्त मे यह सारा पचड़ा एक बेवकूफी की बात साबित होगी। फलां विचार-धारा से राज्य खतरे में पड जायेगा, यह फैसला कौन करे ? जो लोग सत्ताधारी हैं, उन्हें यह काम सौंपा जाये, तो जो बात या विचारधारा उनके मन के विरुद्ध होगी, उसी को वे खतरनाक मानेंगे। समाज के भीतर, राज्य के लिये खतरा पैदा करने वाले जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे किसी की कवि कल्पना नहीं होते। विचार अनुभवों की देन होती है। जब तक कोई अनुभव न प्राप्त हो, तब तक व्यक्ति के मन मे विचार जाग्रत नहीं होते। किसी-न-किसी मात्रा मे यह बात लोगो की बुद्धि को जँच जाती है और इसलिए वह महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। उस विचारधारा को जन्म देने वाला अनुभव समाज को आये, तो इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य व्यवस्था मे कहीं-न-कहीं कोई कमी या दोष है, यह स्पष्ट है। सामान्यतया मनुष्य की प्रकृति बेकार के पचड़े या झमेले मे पड़ने की नहीं होती। मनुष्य सदा आराम से जिन्दगी बिताना पसन्द करता है तथा जो कुछ अब तक होता आ रहा है, उसी को यथावत चला जाना चाहता है। बेकार की उखाड़-पछाड़ करने की उसकी प्रवृत्ति नहीं होती और जब व्यक्ति इस प्रवृत्ति से हट कर कुछ करने लग जाते हैं अथवा अपने विचारों का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर देते हैं तो इसके मानी ये हो जाते हैं कि कोई न कोई बात ऐसी हो गई है, जिसका सहन करना उनके लिये कठिन हो गया है। जब तक कोई बात मर्जी के विरुद्ध न हो जाये, व्यक्ति को क्रोध नहीं आता, यह सामान्य अनुभव है। जब लोग सरकार या राजकीय काम-काज के विरुद्ध बोलने लगते हैं, तब वैसी ही कोई बात राज्य की सरकार के द्वारा हुई होगी, ऐसा अनुमान करना गलत नहीं होगा। सरकार के विरुद्ध जब असन्तोष निर्माण होता है, तब उसके कारणों का पता लगाना सदा उन्हें दूर

करना ही बुद्धिमत्ता की बात होती है। शक्ति का प्रदर्शन करके जबर्दस्ती जनता के असन्तोष को दबाने की कोशिश करना राजनीति शास्त्र के ज्ञान का परिचायक नहीं है। राज्य का सच्चा स्वरूप इस बात से जाहिर होता है कि उस राज्य के नागरिकों को राज्य की आलोचना का कितनी मात्रा मे अधिकार है। यदि नागरिकों को राज्य की आलोचना करने का अधिकार न हो, तो यह नही कहा जा सकता कि वहाँ के नागरिकों को सच्चे मानों में स्वतंत्रता प्राप्त है। यदि आलोचना का अधिकार है, मतस्वतंत्रता की पूरी गुंजायश है, तो इसके मानी ये हुए कि वह राज्य प्रजाजनों के दुःख निवारण के लिये पूरी तरह तत्पर है। लोगों के दुःखो को दूर करने में राज्य जित्ती तत्परता दिखायेगा, उत्ती मात्रा में उसे लोगों की निष्ठा एवं प्रेम की प्राप्ति होगी। लोगों को आलोचना करने तथा अपने दुःखो को सुनाने की पूरी स्वतंत्रता हो, तो लोग गडबड़ नहीं करते। क्योंकि उस अवस्था में वैसा करने की जरूरत ही नही रह जाती। तत्पर सरकार उपाय ढूंढ निकालती है तथा की गई आलोचनाओं की उपेक्षा नही किया करती। जहाँ कोई सुनवाई नही होती, पर्वाह नही की जाती, जहाँ अधिक आलोचना का फल अधिक उपेक्षा एव अधिक उद्दामवृत्ति होता है, वहाँ लोगो का क्षोभ बढ़ जाता है और यदि उसके विरुद्ध दबाव से काम लिया जाय, तो गुप्त आन्दोलन शुरू हो जाते हैं तथा परिणाम अधिक भयानक होता है। लोगो की शिकायतों तथा दुःखों के आविष्कार पर प्रतिबंध लगाने से लोगो का असतोष कम नहीं होता। स्वतंत्रता के लिये की गई कोशिश, जित्ती दबाई जाय, उत्ती ही सिर ऊपर उठाती है। भाषण की स्वतंत्रता छिन जाने पर जो बात एक सभा मे होती, वह गुप्त रूप मे सैकडों सभाओ मे होने लग जाती है। जनता के नेताओ को बंदी बना डालने से या निर्वासित कर देने से उनका प्रभाव कम नही होता वरन् दुगना हो जाता है। उनकी विचारधारा लुप्त नही होती, वरन् वह चारों ओर फैल जाती है। तिलक को जेल में डाल देने से स्वतंत्रता की इच्छा अनेक गुना बढ गई। सत्य को कुचलने से वह चिरन्तन हो जाता है। उसे मारने की कोशिश करने से वह अधिक सम्मानित होता है। अतः स्वातंत्र्य तत्त्व तथा नीति दोनो ही दृष्टियों से अधिक अभीष्ट सिद्ध होता है। जो लोग स्पष्ट वक्ता हैं, अप्रिय सत्य बोलने वाले हैं, वही सच्चे मित्र हैं। यह ठीक है कि सत्ताधारियों को स्तुति-पाठकों की आवश्यकता रहती है; पर उनके सच्चे सम्बन्धी या मित्र वे होते हैं, जो अप्रिय होते हुए भी सत्य कथन करते हैं। जो सत्ताधारी लोग सत्य को दबा देते हैं, अपनी आलोचना नही होने देते वे अतंतोगत्वा विनाश की ओर चले जाते हैं।

विचार स्वतन्त्रता के लेख द्वारा तथा भाषण द्वारा किये जाने वाले प्रदर्शनों में अन्तर है, यह हम कह आये हैं। जब मनुष्य किसी लिखित पुर्जे को भी पढ़ता है, तो उस समय वह अपने ही सन्दर्भ में रहता है। चाहे वह उसे ट्राम मे पढ़े, ट्रेन मे पढ़े या बस-स्टैंड पर पढ़े पर उसका वह पढ़ना वैयक्तिक रहता है। औरों को उसका ज्ञान नहीं होता। अतः उसका जो भी असर होता है, वह उसी के मन पर होता है। सभा में होने वाले भाषण की स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ के भाषण का तथा श्रोताओं की प्रतिक्रिया अर्थात् चेहरे मे आने वाला फर्क, लोगों की तालियां, चीखना-चिल्लाना

आदि—इसी प्रकार वक्ता के चेहरे से आने वाले भाव तथा इंगित आदि का भी असर पड़ता है। भाषण का वातावरण एक अर्थ में सामूहिक होता है। जब कोई व्यक्ति कोई लेख या पुस्तक पढ़ता है, उस समय लेखक का व्यक्तित्व उसके सामने नहीं होता। आविर्भाव और अभिनय भी नहीं होते। लेखक वहाँ पाठक को एक व्यक्ति मानकर उसके मन पर असर डालने की कोशिश करता है। अपनी कल्पनाओं को उसमें मन-वाने की कोशिश करता है। वहाँ लेखक तर्क का आश्रय लेकर पाठक के मन को प्रति-पादित विषय की ओर आकृष्ट किया करता है। पाठक भी पढ़ते-पढ़ते या पढ़ चुकने के बाद चीखता-चिल्लाता नहीं है। 'ऐसा होना ही चाहिये' कहकर पुकारता नहीं है। पढ़ने के बाद सामान्य रूप से लोगों की प्रवृत्ति मनन की ओर होती है। मनन करने के बाद वह सामान्य रूप से उसके सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर किया करता है। पर सभा में ऐसा नहीं होता। वहाँ श्रोताओं की प्रतिक्रिया उसी वक्त नजर आ जाती है तथा वे तालियों द्वारा अथवा अन्य आवाजों द्वारा अपनी पसन्द और नापसन्द उसी समय व्यक्त कर देते हैं और सामान्य रूप से यह सब इसी शीघ्रता से होता है कि सुनने तथा राय जाहिर करने के बीच अल्पविराम की भी गुंजाइश नहीं रहती। जिन्हें सभाओं का—विशेषकर ऐसे समय की सभाओं का, जबकि समाज में काफी क्षोभ हो—अनुभव है, वे लोग जानते हैं कि एक अभ्यस्त एवं चतुर वक्ता सभा में किस प्रकार आग भड़का सकता है। महाराष्ट्र में तो यह अनुभव सर्वविदित है। सभा खत्म हुई कि लोगों ने घरों में आग लगाना शुरू कर दिया, सभा खत्म हुई कि राह चलते आदमियों पर हमले शुरू हो गये, दुकानों को लूट लिया गया—यह किस्सा हर किसी का जाना-पहचाना है। इसी प्रकार यह भी महत्व रखता है कि जो भाषण हुआ है, वह कहाँ हुआ है? हरिजनों की बस्तियों में जाकर ऊँचे वर्णों के लोगों द्वारा सामाजिक अन्याय के विरुद्ध किये गए भाषण का क्या असर होगा, यह बात प्राय: निश्चित रहती है। यदि वही भाषण सामान्य बस्तियों में हो, तो फल जुदा होगा। अतः हर किस्म का भाषण करने की, हर किसी जगह भाषण करने की छूट देना, तथा इस मामले में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता देना समाज की दृष्टि से अभीष्ट नहीं। झुण्ड बनाकर चलने (जुलूस) का अधिकार, मोर्चा ले जाने का अधिकार आदि सब अधिकार अनुचित तो नहीं हैं, फिर भी वातावरण क्षुब्ध हो, तो जुलूस और मोर्चा ले जाने का फल मारपीट, सिरफुटौवल तथा आगजनी आदि हो जाता है, यह भी अनुभव बताता है। अतः, सरकार को समाज की दृष्टि से, समाज की भलाई एवं सुरक्षा की दृष्टि से कुछ भी न करने देना या करने का अधिकार छीन लेना हितकारक नहीं है। जिन भाषणों से हिंसा को बढ़ावा मिलता हो, या मिलने की पूरी सम्भावना हो, तो भाषण पर पाबंदी लगाना उचित ही नहीं, सरकार का कर्त्तव्य कर्म हो जाता है। तथापि ऐसा समझ लेना कि वातावरण में क्षोभ होने तथा लोगों के बुरी तरह क्रुद्ध होने के कारण उस समय जो भाषण होगा, वह हर हालत में लोगों को हिंसा पर उतारू करने वाला होगा, ठीक न होगा। जैसा हम पहले कह आए हैं, परिस्थिति ऐसी हो कि खून-खराबी की पूरी सम्भावना हो, और यदि उस पर रोक न लगाने से वह सम्भावना एक ठोस सत्य बनने जा रही हो, तो सरकार द्वारा भाषण पर पाबंदी लगाना

योग्य है या नहीं, यह बात अधिकारी लोग खुद अपनी मर्जी से निश्चित करें यह ठीक नहीं। जिस परिस्थिति में उन्होंने प्रतिबन्ध किया हो, उस परिस्थिति पर पूरी तरह विचार करने के बाद प्रत्येक व्यक्ति को उसके औचित्य की प्रतीति होनी चाहिए। इस सोचने-विचारने के बाद वह पाबंदी लगाई जानी चाहिए। भाषण हो चुकने के बाद पाबंदी लगाने की बात या अन्य कोई कार्रवाई करने की बात सरसरी निगाह से देखने पर उचित प्रतीत होती है। बहुत कम वक्ताओं के प्रक्षोभजनक भाषण करने की उम्मीद रहती है। अतः भाषण से पूर्व ही किसी अवांछनीय घटना की संभावना को लेकर सभा न होने देना सामान्यतया अनुचित प्रतीत होता है। तथापि किन्हीं खास परिस्थितियों में वक्ता पर या सभा पर अगाऊ पाबंदी लगाना समाज की दृष्टि से हितावह एवं आवश्यक सिद्ध होता है। वक्ता ने भड़कीला भाषण दिया तथा उसके फलस्वरूप दंगा-फसाद हो गया और उसके बाद कुछ उपाय किये गए तो वे निरर्थक सिद्ध होंगे, क्योंकि जो कुछ होना था वह तो हो ही गया होता है। अतः जिस वक्ता का पूर्व चरित्र ज्ञात है, सभा में जिस विषय पर चर्चा होने वाली है अथवा जो वक्ता बोलने वाले हैं, जिस स्थान पर वह सभा होने जा रही है, तथा जो लोग वहाँ आने वाले हैं, उन सबका खयाल करके तथा भड़कीले भाषणों तथा दंगा-फसाद की संभावना को पूरी तरह आँखों के सामने रखकर ही प्रतिबंधक उपायों की योजना की जानी चाहिए। जो अत्याचार होते हैं, उनके फल अन्य लोगों को भोगने पड़ते हैं। समाज के मुट्ठी-भर आन्दोलनकारियों को खुलकर खेलने की छूट दे देना समाज की दृष्टि से हितावह नहीं। भाषण होने पर यदि यह साबित हो जाय कि वह भाषण बहुत अधिक भड़काने वाला था तथा उससे दंगे-फसादों का होना या समाज में गड़बड़ी का मच जाना निश्चित हो जाय, तो उसके खिलाफ कदम उठाना तथा वक्ता को सजा देना उचित होगा। हाँ, इतनी बात जरूर है कि वह भाषण स्पष्ट रूप से दंगों-फसादों को भड़काने वाला होना चाहिए। वह भाषण वैसा था या नहीं, इस बात का विचार करते समय वक्ता का वैसा करने का इरादा था या नहीं, इस बात का विचार करना जरूरी नहीं। हो सकता है, उसके इरादे बुरे न हों, तथापि उसके भाषण में जो शब्द प्रयुक्त हुए तथा जिस शैली एवं अभिनय के साथ वह भाषण दिया गया, उन सबसे यदि दंगों-फसादों का होना या हिंसात्मक प्रचार का होना स्पष्ट हो, तो उस भाषण को दोषयुक्त माना जाना चाहिए। कोई भाषण इतने से दोषयुक्त नहीं हो जाता कि सामान्यतया उक्त भाषण से समाज में अव्यवस्था तथा गड़बड़ मच सकती है। निःसंदेह वह भाषण कब दोषी सिद्ध होता है कब नहीं, यह निश्चित करना न्यायाधीश का काम है। तथा उसी को देखना चाहिए कि उस भाषण का सामान्य जनता पर क्या असर होगा और तब अपना फैसला देना चाहिए। सभा में किस लैवल के लोग थे, इसका भी उसे विचार करना होता है। इसी प्रकार भाषण के समय समाज में क्या स्थिति थी, इसका भी विशेष विचार करके उसे अपना फैसला देना चाहिए। अगर कुछ ही लोगों को वह भाषण अप्रिय लगा हो, या समाजविरोधी लगा हो, तो न्यायाधीश को अपनी दृष्टि उनकी भाँति नहीं बनानी चाहिए। सामान्य जनता को उस भाषण के बारे में क्या लगता है तथा सामान्य जनता पर उसका क्या असर होगा, इस बात का विचार किया जाना चाहिए। यह सम्भव है

कि भाषण से सरकार कठिनाई में पड़ गई हो, नाराज हो गई हो। तथापि सरकार की कठिनाई या नाराजगी पर न्यायाधीश का फैसला अवलम्बित नहीं रह सकता। भाषण स्वतंत्रता नागरिकों का अधिकार है तथा समाज की सुरक्षा सरकार का कर्त्तव्य है, इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए फैसला किया जाना चाहिए। भाषण में प्रचलित सरकार पर अत्यन्त कठोर शब्दों में आलोचना हुई है, इसी से उसको आपत्ति-जनक नहीं समझना चाहिए। समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो समाज में जो कुछ चल रहा है, उसके विरुद्ध एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं होते। तथा कुछ ऐसे भी स्वयमन्य एवं अपने को सर्वज्ञ समझने वाले हठी व्यक्ति या मंत्री सरकार में होते हैं, कि उन्हें इस प्रकार की आलोचना सहन नहीं होती अतः वे इस प्रकार की आलोचना को राजद्रोह मानते हैं। नवीन विचार तथा प्रयोग उन्हें कांटों की तरह खटकते हैं तथा वे इस प्रकार के नव-विचार-प्रवर्तक लोगों को जेल में डालकर समझते हैं कि हम समाज का भला ही कर रहे हैं। तथापि नागरिकों की मत स्वतंत्रता का विचार करते समय तथा उस पर लगी सीमाओं का निर्देश करते समय जिस मुख्य सूत्र का ख्याल रखना होता है, वह है समाज का आज का तथा आने वाले कल का हित तथा वह हित भी किन्हीं इने-गिने लोगों का या किन्हीं छोटे-मोटे दल का नहीं; वरन् सर्व सामान्य जनता का हित।

उल्लिखित विचारधारा का मुख्य मुद्दा यह है कि राज्यकर्त्ताओं के लिए नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण सुगम नहीं होना चाहिये। इस विषय में अलिखित या लिखित संविधान द्वारा कुछ-न-कुछ सीमाएं अवश्य होनी चाहियें तथा उनका पूरी तरह पालन किया जाना चाहिये। बहुत बार ऐसे विचार प्रति-पादित किये जाते हैं कि नागरिक की दृष्टि से तथा राज्य की दृष्टि से जो सीमाएँ होती हैं, उनका विचार करते समय शान्तिकाल तथा संकट एवं संघर्ष काल का भेद अवश्य किया जाना चाहिये। दोनों स्थितियों में सरकार पर एक जैसे बन्धनों का रखा जाना तथा नागरिकों को एक जैसी स्वतंत्रता का प्रदान किया जाना ठीक नहीं। न वह अभीष्ट है, न न्यायोचित ही। समाज तथा राज्य व्यक्ति को सुखी रखने के लिये हैं। जहाँ यह दोनों सुव्यवस्थित रहते हैं, वहाँ शांति बनी रहती है और तभी व्यक्ति तरक्की कर सकता है। समाज की प्रगति भी तभी हो सकती है। राज्य का मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य के नागरिकों की रक्षा हो—बाहरी आक्रमणों से भी तथा भीतरी दंगों-फसादों से भी। संगठित संरक्षण केवल राज्य ही से प्राप्त हो सकता है। राज्य का मुख्य लक्षण तथा कर्त्तव्य भी वही है। जब तक जीवन और धन के बारे में निश्चिन्तता न हो, तब तक नागरिक स्वतंत्रता का उपयोग सम्भव नहीं हो सकता। 'सिर सलामत तो पगड़ी पचास' वाला न्याय यहाँ भी लागू होता है। अतः यदि हम चाहते हैं कि स्वतंत्रता बनी रहे तो राज्य में शांति और सुव्यवस्था को बनाये रखना बहुत जरूरी है। और चूँकि यह काम राज्य का है; अतः उस काम के लिये आवश्यक शक्ति राज्य के हाथ में जरूर होनी चाहिये। जब राज्य में गदर मचा हो, बाहरी शत्रु का राज्य पर आक्रमण हुआ हो, उस समय विचार स्वतंत्रता के मौलिक अधि-कारों में कमी करने या उन्हें कुछ समय के लिये उठा रखने की शक्ति भी राज्य के

हाथ मे होनी चाहिये। तात्त्विक दृष्ट्या आन्तरिक विद्रोह अथवा बाहरी आक्रमण के काल में राज्य के हाथ में उल्लिखित शक्ति के दिये जाने मे इन्कार नहीं किया जा सकता। जब आन्तरिक विद्रोह मचा हो, राज्य मे फूट पड़ी हो, राष्ट्र विभक्त हो गया हो, समाज के दो टुकड़े हो गये हों, और उभय विचारसरणी के लोगों ने वैध मार्ग को छोड़ अन्य मार्ग का अवलम्बन किया हो, उस समय भाषण तथा विचार संबंधी स्वतंत्रता का विचार तात्त्विक साबित होता है। जो बोलना होता है, वह बोला ही जाता है। वैध मार्ग एक ओर हट जाते हैं तथा हिंसा ने लोगों के मन पर कब्जा किया होता है। ऐसी परिस्थिति मे मौलिक अधिकारों की ओर कोई ध्यान नही देता बस्तुतः हिंसा तथा स्वतंत्रता ये दो बातें एक दूसरे के विरुद्ध हैं। और हिंसा के लोगों के मनों पर अधिकार कर लेने के बाद सच्ची स्वतंत्रता लोगों के मन से निर्वासित हो जाती है। जब चारो ओर तलवारें सनसना रही हों, क्रान्ति की चीखो-पुकार सुनाई दे रही हो, उस समय उसका उच्चारण तक कोई नहीं करता। और जब दो पक्षों में से किसी पक्ष की जीत हो जाती है और वह सत्ताधारी बन जाता है, तब उसका पहला काम पराजित पक्ष को नेस्तोनाबूद करना होता है। अपनी जीत होने से पहले वह पक्ष जिस स्वतंत्रता की माँग अपने लिए करता था, उसी स्वतंत्रता से वह पराजित पक्ष को वंचित रखने का प्रयत्न करता है। आपसी फूट में जो आपसी युद्ध होता है, उसमे हारे हुए पक्ष को स्वतंत्रता से तो हाथ धोना ही पड़ता है, प्राणों की भी निश्चिन्तता नहीं रह पाती। सफल क्रान्तिकारकों के सत्ताधारी बन जाने पर वे आलोचना के लिये इतने तुनुकमिजाज बन जाते हैं कि तनिक भी आलोचना करने वाला व्यक्ति उनकी निगाह मे प्रतिक्रियावादी एवं क्रान्तिविरोधी बन जाता है तथा वे उसे नेस्तोनाबूद कर डालते हैं। विजयोन्माद से युक्त होने पर शक्ति का दुरुपयोग होता है तथा विजय से पूर्व के प्रेमदर्शी लोग विजय के उपरान्त प्रतिक्रान्तिकारक आग्रही एवं असहिष्णु बन जाते हैं। इतिहास हमें बताता है कि क्रान्ति के सफल होते ही क्रांति के जनक तथा नेतागण ही उसकी पहली बलि बनते हैं। विजयी पक्ष के कुछ अतिरेकी बोलने लगते हैं तथा शक्ति की प्राप्ति के लिये लोकहित तथा लोकानुनय का नीलाम किया जाता है और जो नेता उत्तरदायी होते हैं, उन्हें क्रांतिविरोधी माना जाता है तथा उन्हें शक्ति से दूर हटा दिया जाता है और उनकी रवानगी या परलोक में होती है या परदेश मे होती है। रॉबर्ट स्पियर का उदाहरण हमे यही बतलाता है। मार्च, १६१७ की रूसी क्रान्ति के जनक को जो दिन देखने पड़े, वे भी यही दरसाते हैं कि क्रान्तिकारक जब सफल हो जाते हैं, तब शायद ही कहीं वे समाज प्रस्थापना तथा राज्य के सुप्रतिष्ठित करने के काम मे नेता बन पाते हैं तथा सफल हो पाते हैं। ऐसा अनुभव सिर्फ भारत ही में आया है। इसका कारण यह है कि सत्ता की प्राप्ति के बाद नागरिकों को सब प्रकार की स्वतंत्रताओं के उपयोग के अवसर मुक्त रूप में दे दिये गये। शांति के काल में सुराज्य की दृष्टि से राज्य के कामकाज की आलोचना होनी चाहिये। गृहयुद्ध के दिनों में तो आलोचना का सवाल ही नहीं उठता। गृह-युद्ध के खतम होने पर सरकार की स्थापना के बाद यदि स्वतंत्रता न रहे, तो वह तानाशाही शासन हो जाता है। क्रान्ति का मूल उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। 'क्या

यही मेरी तपस्या और त्याग का फल है', ऐसा कहने का अवसर आ उपस्थित होता है। गृहयुद्ध तो न हो, पर समाज में गड़बड़ हो; राज्य सत्ता की तीव्र आलोचना होती हो; राज्य की शांति भंग होने की सम्भावना हो, तो उस स्थिति में नागरिकों की स्वतंत्रता पर किस प्रकार का अंकुश होना चाहिये इसका विचार हम पहले कर आये हैं। जहाँ कहीं क्रान्ति हुई, वहाँ सत्ताधिकारियों ने जब भी विरुद्ध आलोचना को बंद करने की कोशिश की, उसे दबाना चाहा, तब वहाँ लोकमत को सत्ताधारियों को उखाड़ फेंकना पड़ा। गृहयुद्ध के काल में मुख्य प्रश्न होता है कि सत्ता किसके हाथ में रहे, कौन राज्य की बागडोर सँभाले। गृहयुद्ध न हो; पर राज्य में संघर्ष मचा हो, तो उस समय मुख्य प्रश्न होता है कि राज्य सत्ता की नीति क्या हो तथा उसका व्यवहार कैसा हो। यह भी सच है कि गृहयुद्ध से पूर्व का संघर्ष यदि किसी संगठित पक्ष के द्वारा निर्माण किया हुआ हो तो शनैः-शनैः उसका झुकाव गृहयुद्ध की ओर हो जाता है। और यदि वैध रीति से सत्ता हाथ में न आई हो, या सम्बन्धित पक्ष ने अवैध मार्ग को अपनाया हुआ हो, तो राष्ट्र गृहयुद्ध की मंजिल पर पहुँच जाता है। गृहयुद्ध का फल सामान्यतया निर्णायक कुश्ती के समान होता है। एक पक्ष के हाथ में सत्ता आ जाती है और दूसरा पक्ष परास्त हो जाता है। नष्ट हो जाता है। सत्ता प्राप्ति के बाद नागरिक स्वतंत्रता का सवाल पैदा होता है। पर उस समय जो लोग पराभूत हो जाते हैं, वे देशद्रोही माने जाते हैं। जो लोग विद्रोही थे, वे सफलता मिलने पर सत्ताधीश बन जाते हैं। सफल क्रान्तिकारकों के सामने प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि उनके विरुद्ध विद्रोह न हो, इसके लिए क्या तरीका लिया जाय। और तब जो तरीका काम में लाया जाता है, उसके आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि जो राज्य अस्तित्व में आया है, उसका स्वरूप क्या है। सच देखा जाय तो दोनों ही दल शस्त्रास्त्रों को काम में लाते हैं; अतः पराभूत पक्ष के लोगों को, हिंसा का अवलम्बन करने के बहाने, एक सिरे से फाँसी पर चढ़ा देना या फौजी अदालत के मारफत गोली से उड़ा देना न्याय के अनुकूल नहीं होता। पर उस समय जो लोग सत्ताधारी बनते हैं, वे न्याय को एक बेकार का झगड़ा मानते हैं। जिन लोगों ने उस आन्दोलन में भाग नहीं लिया, उन्हें भी सत्ताधारी लोग स्वतंत्रता तथा मौलिक अधिकारों का उपभोग नहीं करने देते। जहाँ कहीं ऐसा होता है, वह नागरिक स्वतंत्रता की दृष्टि से अनुचित है। सत्ता हस्तगत करने वालों को याद रखना चाहिये कि जिन लोगों ने गृहयुद्ध में भाग लिया है, वे लोग गृहयुद्ध से पहले एक ही राज्य के नागरिक थे। एक ही राष्ट्र के सभासद थे तथा गृहयुद्ध के पश्चात् भी उसी अवस्था को पुनः स्थापित करने में ही न्याय है, औचित्य है तथा नये सत्ताधारियों के लिए निश्चितता है।

सामान्य अनुभव हमें बताता है कि क्रांति के पश्चात् बहुत कम ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ सत्ता हासिल करने वालों ने सत्ता का दुरुपयोग न किया हो। आधुनिक भारत में अब तक गृहयुद्ध की परिस्थिति नहीं आई, तथापि उससे पूर्व के काल में गृहयुद्ध उत्तराधिकार का प्रश्न पैदा करता था। जब ऐसा मौका आता था, तब उत्तराधिकारियों-उत्तराधिकारिणियों के बीच झगड़ा होता था। तब दो दल बन जाते थे और

उनमें लड़ाई शुरू हो जाती थी। जो जीतता वह गद्दी पर बैठता। गद्दी पर बैठने पर या तो उसे यमलोक जाना पड़ता या राज्य से बाहर निकल जाना पड़ता। उन दिनों प्रजातंत्र नहीं होता था अतः सामान्य जनता इस गृहयुद्ध में भाग नहीं लेती थी। सरदार लोग या उत्तराधिकारियों के इष्टमित्र ही उसमें भाग लेते थे। शाहजहाँ के पुत्रों में हुई लड़ाइयाँ उस काल के गृहयुद्ध के स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। इतिहास में भ्रातृहत्या तथा पितृहत्या तक के उदाहरण मिल जाते हैं। सत्ता हाथ में आते ही प्रतिपक्षवध के उदाहरण मराठों के इतिहास में उपलब्ध होते हैं। जो राजगद्दी पर हो या जो आने वाला हो, उसका खुल्लम-खुल्ला वध किया जाता था। नागरिक स्वतंत्रता की कल्पना उन दिनों प्रचलित नहीं थी। इस कारण सत्ता प्राप्ति के बाद किसका वध हुआ, कौन अधिकारच्युत किया गया, इस बात को महत्व प्राप्त नहीं था। जिसके नाम की मुनादी हुई या डंका बजा, प्रजा उसी के पीछे हो जाती थी। हाँ, एक बात जरूर है कि सत्ता प्राप्त होने के बाद सत्ताधारी लोग हाथ में आई सत्ता का दुरुपयोग ही करते हैं। अमेरिका के इतिहास में गत शताब्दी के मध्य में, उत्तर के तथा दक्षिण के राज्यों के बीच युद्ध हुआ तथा उस गृहयुद्ध में जो विजयी हुए, उन्होंने हाथ में आई सत्ता का दुरुपयोग ही किया। इसी प्रकार असाधारण तथा संकटकालीन परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर कानून द्वारा दिये गये विशेष अधिकारों का भी दुरुपयोग हुए बिना नहीं रहा। १९१९ में भारत में, विशेषतः पंजाब में, मार्शल लॉ लागू कर दिये जाने के बाद जो कुछ हुआ उसका तात्पर्य यही है कि हाथ में अधिकार के आते ही मनुष्य मदमत्त हो उठता है। उसका विवेक रह नहीं जाता। अधिकार तथा कानून दोनों का दुरुपयोग होता है। न्याय के साधारण तत्वों की भी उपेक्षा कर दी जाती है। छोटे से अपराध पर कड़ी-से-कड़ी सजा दी जाती है। कामकाज की रीति की भी उपेक्षा कर दी जाती है। फौजी कानून का यही अर्थ लगाया जाता है। अमृतसर में जो कुछ हुआ, उससे भी यही कुछ प्रकट होता है। १९३० में शोलापुर में जो हुआ वह भी यही प्रकट करता है। जहाँ-जहाँ जोर-जबर्दस्ती की गई, वहाँ-वहाँ जो भी घटनायें हुई हैं, उनसे यही प्रकट होता है कि एक बार जोर-जबर्दस्ती से काम लिया जाने लगा कि व्यक्ति के सारे अधिकार, सारा मालमत्ता, जीवन, प्रतिष्ठा आदि सब नष्ट हो जाता है। राज्यकर्ता समझने लगते हैं कि वे तलवार तथा ताकत के बल पर शांति तथा व्यवस्था बनाये रख सकते हैं तथा लोगों की प्रीति भी प्राप्त कर सकते हैं। शांति और व्यवस्था हो तो जाती है, पर असंतोष की एवं द्वेष की आग भीतर ही भीतर लोगों के मन में सुलगती रहती है। समुद्र में जिस प्रकार वड़वानल प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार लोगों के मनरूपी समुद्र में द्वेष प्रज्वलित होता रहता है और राज्य के प्रति लोगों की निष्ठा कम हो जाती है तथा राज्यकर्ताओं को जनता का प्रेम प्राप्त नहीं होता। रूसी राज्यक्रान्ति से पहले जारशाही ने यही किया तथा जारशाही को यही अनुभव प्राप्त हुआ। और अन्त में १९१७ में विश्व में एक अभूतपूर्व क्रांति हुई। यही कुछ अमृतसर तथा शोलापुर की घटनाओं के बाद हुआ। भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन को ५० वर्ष तक कुचलने की कोशिश की गई पर उसे कुचला नहीं जा सका। उलटे उससे स्वतंत्रता आन्दोलन को और ज्यादा बढ़ावा मिला,

उसकी ताकत और ज्यादा बढ़ी तथा उसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा हासिल हुई। जोर-जुल्म से भले ही कोई न्याय का स्वांग भर ले, पर सही मानों में न्यायाधीश के हाथों न्याय नहीं मिल पाता। न्यायाधीश की लगाम सरकार के हाथ में होती है। कार्यकारिणी (एग्जीक्यूटिव) द्वारा न्यायदान का अर्थ होता है न्यायदान से इनकार करना। और शांति एवं व्यवस्था की रक्षा के नाम पर सरकार को यह करना पड़ता है, ऐसी जब सरकार की ओर से दुहाई दी जाती है, तब उसका अर्थ इतना ही होता है कि शान्ति स्थापना के नाम से न्याय बुद्धि का गला घोंट दिया गया है।

अब तक हम यह विचार कर रहे थे विचार स्वतन्त्रता की क्या सीमाएँ होनी चाहिएँ—शांति काल मे, शांति भंग होने के काल मे तथा प्रत्यक्ष गृह-युद्ध छिड़ जाने के काल में। अब हम इस विषय पर विचार प्रस्तुत करेंगे कि विचार स्वतन्त्रता की उस समय क्या सीमायें हों, जब देश पर दूसरे देश का आक्रमण हुआ हो, तथा देश युद्ध मे लगा हुआ हो। युद्ध के समय व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं नागरिक अधिकारों का जो सवाल पैदा होता है, उसका रूप पर्याप्त भिन्न होता है। उस समय सबसे महत्व का विषय होता है जीवित रहना। राष्ट्र यदि जीवित रहा, तभी नागरिकता की बात की जा सकेगी। राज्य बचा रहा तभी नागरिक स्वतंत्रता की बात की जा सकेगी। तात्पर्य यह कि सिर सलामत रहे, तभी पगड़ी की बात हो सकेगी। मान लीजिये कि परदेशी सेनाएँ हमारे देश की सीमा पर खड़ी हैं या सीमा के भीतर आगई हैं। ऐसे समय यदि कोई नागरिक अहिंसा का प्रचार करने लगे, कहे कि लड़ो मत, सेना मे भर्ती मत होओ, सरकार को पैसे से मदद मत दो। तो उस समय सवाल यह पैदा होता है कि नागरिक अधिकारों एवं विचार स्वतंत्रता के नाम पर उसे वैसा प्रचार करने दिया जाय या उसे पकड़ कर जेल मे डाल दिया जाय। और इस सवाल का एक ही जवाब यह है कि उसे राष्ट्र के हित की दृष्टि से जेल मे डाल देना चाहिये। इसी प्रकार केवल यही न हो कि दुश्मन की सेनाएँ सीमा पर खड़ी हैं या भीतर चली आई हैं, बल्कि एक-एक करके हमारे गाँव और कस्बे दुश्मन द्वारा जीते जा रहे हों, उस समय यदि कोई भाषण एव प्रकाशन की स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए लोगो के हौसले को कम करना शुरू कर दे, तो उसे भी वैसा नही करने दिया जाना चाहिये, यह बात हर कोई स्वीकार करेगा। शांति के काल मे व्यक्ति के अधिकारों मे एक प्रकार की वैयक्तिकता बनी रहती है। और उन पर अंकुश लगा भी दिया जाय तो वह केवल व्यक्ति तक ही सीमित रहता है। पर दुश्मन के हमले के दिनों मे वैसी व्यक्ति विषयक भावना नही रह जाती। जो हमला हुआ होता है, वह सारे राज्य पर होता है। जो रक्षा करनी होती है, वह व्यक्ति की नही, बल्कि सारे राज्य की करनी होती है। इस अवस्था में, राज्य के व्यक्ति व्यक्ति नही रह जाते, वे सब राज्य एवं राष्ट्र का संगठित रूप बन जाते हैं। वह एक असामान्य परिस्थिति होती है। जिंदगी और मौत का सवाल व्यक्ति की दृष्टि से नही ; राष्ट्र की दृष्टि से उत्पन्न होता है। ऐसी हालत मे दार्शनिक विचार अर्थहीन हो जाते हैं। वैयक्तिक अधिकार अप्रस्तुत साबित हो जाते हैं। सब के मन एक ही बात पर केन्द्रित रहते हैं या उन्हे होना चाहिये। अत. शांति तो दूर, गृह-युद्ध के काल मे भी जो विचार अधिक महत्व

रखते हैं, उन्हें भी इस समय अर्थात् युद्ध के प्रसंग में स्थान नहीं रहता तथा रहना भी नहीं चाहिये। तथापि प्रत्यक्ष युद्ध होने के समय, युद्ध के चालू रहते समय, युद्ध खत्म हो जाने पर तथा सबसे महत्त्व की बात यह कि युद्ध शुरू होने से पहले व्यक्ति स्वतंत्रता के बारे में क्या दृष्टि होनी चाहिये ; इन सब बातों का विचार करना बहुत जरूरी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगड़ रही हो, युद्ध होने की सम्भावना बहुत बढ़ चली हो, आसमान में बादल घुमड़ रहे हों, हवायें बहने लगी हों, बिजलियाँ भी चमकने लगी हों, ऐसी अवस्था में नागरिकों को क्या करना चाहिये—क्या वे चुप रहें तथा अपने विचारों को मन ही में रखकर निष्क्रिय बने रहें ? कुछ लोगों के मत में सम्भव है कि मौजूदा सरकार की नीति गलत हो, कुछ लोगों की राय में युद्ध होने से देश का सर्वनाश होता हो ; तो सवाल यह पैदा होता है कि उस समय उन्हें अपने विचारों को प्रकट करना चाहिये या नहीं। यदि एक ओर यह आशंका हो कि अपनी राय को खुल्लमखुल्ला प्रकट कर देने से शत्रु का समर्थन होता है, उसे अच्छा लगता है तो दूसरी ओर यह भी खतरा बढ़ जाता है कि राय के जाहिर न करने से मौजूदा सरकार की अनुत्तरदायिता और अधिक बढ़ जाय। जो लोग सरकार के विरोधी होते हैं, उनका भी अपना एक दृष्टिकोण होता है, उनके भी कुछ सिद्धान्त होते हैं तथा यदि वे प्रत्यक्ष संकट के उपस्थित होने से पहले अपने विचारों को जनता के सामने न रखें तो एक दृष्टि से उनकी बड़ी भारी कर्त्तव्यच्युति होगी। नागरिक के कर्त्तव्य उस समय निश्चित रूप से क्या हैं यह बताना नागरिक के लिए भी कठिन हो जाता है। क्योंकि उस समय वह जो कुछ करेगा, उसके परिणाम बहुत दूरगामी होंगे। उसका असर केवल देश पर ही पड़े सो बात नहीं, विदेशों पर भी उसका असर होता है। केवल इसलिये कि युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न हो रही है, क्या नागरिकता के अधिकारों को तिलांजलि दी जाय ? या उन्हें निष्प्रभ कर दिया जाय ? या युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं को स्थगित कर दिया जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर देना मुश्किल होता है। युद्ध शुरू होने से नागरिकता स्थगित हो जाती हो, ऐसी बात नहीं है। युद्धकालीन स्थिति के नाम से राज्य हमसे अधिक सेवा तथा सहयोग की इच्छा रखे इतना ही नहीं अनिवार्य भी कर दे, तथा हम उसके बारे में कुछ भी न बोलें, कुछ भी न लिखें, युद्ध विरोधी कुछ भी काम न करें, इस बात की हमसे सिर्फ उम्मीद ही न रखे वरन् हम पर वैसा न करने के लिए दबाव भी डाले, तो उस अवस्था में सरकार का यह काम उचित होगा या अनुचित यह कहना कठिन हो जायेगा। आप भी सोचिये, राष्ट्र ने जिस युद्ध की घोषणा की है, वह यदि किसी को सचमुच अनुचित लगता हो, तो वह क्या करे ? युद्ध किसी छोटे राष्ट्र के साथ हो या बड़े राष्ट्र के, छोटे पैमाने में हो या बड़े पैमाने में, प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि उसका उद्देश्य उचित है या नहीं यह निश्चित करने का अधिकार, युद्ध के घोषित हो चुकने के बाद, व्यक्तिगत नागरिक को है या नहीं। केवल इसलिये कि सरकार ने युद्ध घोषित किया है, नागरिक अपने मन की बात को जाहिर न करे तथा युद्ध के बारे में विचार तक करना छोड़ दे तो इसका अर्थ यही होगा कि मौजूदा सरकार को कोरे कागज पर दस्तखत करके दे दिया है, आगे उस पर वह जो जी में आये सो लिख डाले। सच पूछिये तो संकट के काल में सरकार को आलो-

घना की आवश्यकता ज्यादा होनी चाहिये। तथापि इतिहास हमें बताता है कि जो लोग सात्विक दृष्टि से तथा व्यावहारिक दृष्टि से युद्ध का विरोध करते हैं, सरकार उनके विरुद्ध लोकमत को कलुषित करने का प्रयत्न किया करती है। जिन लोगो को लगता है कि जो युद्ध घोषित हुआ है, वह उचित है तथा उसमे सरकार की कोई गलती नही, उनके बारे में कोई प्रश्न उपस्थित ही नही होता। वे लोग अपनी बात कहते भी हैं तथा युद्ध मे सहायता भी करते हैं। पर जिन्हे यह लगता है कि युद्ध की घोषणा उचित नही है, वे क्या करें? उन्हे दिल से यह महसूस होता है कि जो युद्ध होने जा रहा है या हो रहा है, वह सब तरह से अनुचित है तथा उससे राष्ट्र का अहित होगा। तब उन्हे अपना मत प्रदर्शित करना चाहिये या नही? पुनश्च, केवल मत प्रदर्शित करके ही रुक जायें या युद्ध-विरोधी कोई मोर्चा भी खड़ा करें? और मान लीजिये, उन लोगो ने वैसी कोई बात की, तो मे राज्य की रक्षा के लिये मौजूदा सरकार को क्या करना चाहिए? पहले विश्वयुद्ध के समय इगलैड के कितने ही मजदूर नेताओ को युद्ध प्रिय नही था। उन्हे अपने मत को स्पष्ट रूप से प्रकट करना एक नैतिक कर्त्तव्य प्रतीत हुआ तथा उन्होने उसके अनुरूप व्यवहार भी किया। युद्ध शुरू होने पर अपने मतों का त्याग करके सरकार की नीति को मजूर करने मे नि संदेह देशभक्ति का काम है। पर इससे श्रेष्ठ नैतिकता को बट्टा लगता है। बहुतो को यही लगता है कि युद्ध का अर्थ है बड़े पैमाने पर तथा बहुत बड़ी तादाद मे मनुष्यो की हत्या करना। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को जान से मार डालता है, तो उसे हत्या या खून का नाम दिया जाता है। पर यदि हजारो ने हजारो को जान से मार डाला तो उसे युद्ध का नाम दिया जाता है, तथा उसमे हिस्सा लेने वालों को देशभक्त, स्वार्थ-त्यागी तथा वीर पुरुष कहकर सम्मानित किया जाता है। एक आदमी खाये तो कहेगे गोबर और यदि एक समूह उसे खाये तो कहेगे श्रावणी। जो लोग सिद्धान्तत. हिंसा के विरुद्ध हैं, उनके लिये युद्ध का अर्थ होगा हिंसा का एक पैशाचिक काण्ड। यदि वे उस समय अपनी आवाज न बुलन्द करें तो क्या शांति के समय बुलन्द करें? जिन दिनो समाज मे शांति रहती है, उन दिनों अहिंसा के प्रचार की उत्ती जरूरत नही होती। जब युद्ध के नगाड़े बजने लगते हैं, तभी लोगो को तथा राष्ट्र को अहिंसा का उपदेश देना समयोचित कहा जा सकता है। उस समय यदि देशभक्ति से पूर्ण हृदय वाला मनुष्य चुप बैठ जाय, तो कहना होगा कि उसका अहिंसा-प्रेम सही नही है। देशभक्ति की तीव्र भावना के सामने यदि वह टिक न सके तो लोगों का आरोप होगा कि वह अहिंसा खरी अहिंसा नही, खोटी अहिंसा है। पिछले महायुद्ध में ऐसा ही प्रसग भारत के अनेक विचारकों के सामने पेश हुआ था। कॉंग्रेस मे फूट पड़ने की नौबत आ गई थी। बहुतों की सम्मति थी कि यदि भारत को आजादी दे दी जाय, तो वह युद्ध मे भाग लेने को तैयार है, यह कहना इस बात का द्योतक है कि ऐसा कहने वालों का अहिंसा पर पूरा विश्वास नही है। जो लोग यह कहते थे कि भले ही स्वतन्त्रता न मिले या उसके मिलने मे देरी लग जाय; पर हम किसी भी शर्त पर अहिंसा का परित्याग नही करेंगे, उन्हे भी लोगों की आलोचना का शिकार होना पड़ता है। गांधीजी की अहिंसा श्रद्धामय अहिंसा थी, अत उनका युद्ध का विरोधी होना साफ ही था। असली युद्ध के शुरू होने से पूर्व अपनी राय को जाहिर करने का

मौका हर किसी को मिलना चाहिये। और यदि कोई व्यक्ति अपने मत को साफ-साफ शब्दों में कहकर नहीं सुनाता, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अपने कर्तव्य से विमुख हो रहा है।

व्यक्ति को जो कुछ कहना था सो उसने कह दिया तथापि राष्ट्र ने युद्ध की घोषणा कर दी। तो उस समय व्यक्तिगत नागरिक का कर्तव्य क्या हो जाता है, इस पर विचार करना चाहिये। युद्ध के शुरू होने का अर्थ यह हुआ कि राष्ट्र अपनी रक्षा के लिये लड़ रहा है। उस समय यह भावना प्रबल हो जाती है कि राष्ट्र की रक्षा से ही हमारी भी रक्षा है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी व्यक्ति का युद्ध के प्रयत्नों के विरुद्ध कुछ भी लिखना, बोलना या कुछ और करना राष्ट्र की रक्षा के काम में रुकावट डालने जैसी बात हो जायेगी। युद्ध शुरू हो जाने से हर व्यक्ति को चाहिये कि वह उसे सफल बनाने की प्राणपण से कोशिश करे। विरोधी मत जाहिर करके जनता के मन में विकल्प उत्पन्न करना अहितकर होगा तथा उसका फल जनता के निश्चय, धैर्य तथा हौसले के लिये बुरा होगा। एक बार मन में संशय ने स्थान बना लिया कि मन कमजोर पड़ता चला जाता है। संकल्प डगमगाने लगता है। श्रद्धा में कमी आ जाती है। अतः युद्ध काल में सबको ऐसी ही कोशिश करनी चाहिये जिससे जनता के मन में धैर्य, दृढ़ संकल्प तथा आशा पक्की रहे। युद्ध शुरू होने के बाद 'युद्ध नहीं होना चाहिये था' ऐसा कहना बेमानी हो जाता है। जो सामने आ गया है, हमें उसी का विचार करना चाहिये, उसी से जूझना चाहिये। उस वक्त इस कहने का कोई मूल्य नहीं कि 'यदि ऐसा न हुआ होता, तो अच्छा होता।' सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह युद्ध-विरोधी राय को जाहिर होने से रोके। इसके मानी यह नहीं कि युद्ध सम्बन्धी विधायक दृष्टि से की जाने वाली आलोचना पर भी रोक लगा दी जाय। युद्ध प्रयत्नों को किस प्रकार चलाया जाय, किस क्षेत्र में अधिक प्रयत्न किये जाने चाहियें, युद्ध का ध्येय क्या हो, युद्ध के साधन क्या हों, तथा युद्ध के बाद परिस्थिति कैसी हो इत्यादि का विचार करने के मामले में मत-स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिये। जहाँ प्रजातंत्र मौजूद है, वहाँ यह सब हो सकता है। पर जहाँ तानाशाही है, वहाँ तो शांतिकाल में भी मत की स्वतन्त्रता नहीं रहती ऐसी परिस्थिति में युद्ध काल में उसके होने का सवाल ही नहीं उठता। अनेकों के मन में युद्ध की सफलता के लिये एकमुखी अधिकार प्रभावी (ऑथारिटेरियन) स्वरूप की सरकार होनी चाहिये। इसके विपरीत जहाँ सरकार प्रजातन्त्रात्मक होती है वहाँ सफलता निश्चित होती है, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं तथा इतिहास भी साक्षी है कि दोनों विश्वयुद्धों में सफलता प्रजातंत्री सरकारों को ही प्राप्त हुई है। प्रजातन्त्री राज्य के निर्णय सामान्यतया जनता के ही निर्णय होते हैं। और इसी वजह से जनता युद्ध के समय भी अधिक से अधिक त्याग करने के लिये तैयार रहती है। चूंकि युद्ध का निर्णय लोकमतानुसार हुआ होता है, अतः युद्ध शुरू होने के बाद मत की तथा विचारों की स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्धों का होना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है विचारों की स्वतन्त्रता का होना। युद्ध काल में पूरी तरह से इसे स्थगित नहीं कर देना चाहिये। दोनों विश्वयुद्धों में, इंगलैंड तथा अमेरिका के नागरिकों की स्वतन्त्रता पूरी तरह स्थगित नहीं हुई थी।

इतना ही क्यों, महायुद्ध जब अपने पूरे यौवन पर था, तब मन्त्रिमंडल बदले गये। एस्क्विथ दूर हुए और लायड जार्ज ने प्रधान मंत्री का पद स्वीकार किया तथा युद्ध को सफलतापूर्वक चलाया। दूसरे महायुद्ध में भी वैसा ही कुछ हुआ। चेंबरलेन हटे तथा चर्चिल प्रधान मंत्री बने तथा अपने प्रभावी व्यक्तित्व तथा वक्तृत्व से युद्ध का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। युद्ध काल में मन्त्रिमण्डल का बदलना कोई सीधी सादी बात नहीं है। यह लोकमत की जीत है। और यदि लोकमत को कुचल दिया गया होता तो नालायक या अयोग्य नेताओं के हाथ में बागडोर आ गई होती तथा सफलता भी न मिली होती। अतः कहना होगा कि युद्ध शुरू हो जाने के बाद भी मत सम्बन्धी स्वतंत्रता का होना राष्ट्र के हित की दृष्टि से उचित है। राष्ट्र में ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं, जिनका ज्ञान तथा अनुभव राष्ट्र की सम्पत्ति होती है। मौजूदा हालत में भले ही वे अधिकार पद पर न हों, तो भी उनकी सम्मति ग्राह्य होती है और इसी से उन्हें अपना मत निर्भीकतापूर्वक राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से कह डालना चाहिये। तथा मौजूदा सरकार को इसके लिये अनुकूल वातावरण निर्माण करना चाहिये। राष्ट्र में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनकी वृत्ति यह होती है कि चाहे कुछ हो जाय वे सुलह समझौता करने को तैयार नहीं होंगे, वे पूरी तरह फैसला करना ही पसंद करेंगे। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सम्मानयुक्त समझौता पसंद करके मनुष्य-हानि तथा वित्त-हानि को टालना चाहते हैं। यदि किसी ने सुलह-समझौते की बात उठाई तो उसे एक दम देशद्रोही कह बैठना ठीक नहीं। तथा कोई निर्णायक कुश्ती के पक्ष में हो तो उसे भी व्यवहार शून्य कहना ठीक नहीं होगा। कहने का अभिप्राय यह कि युद्ध-काल में भी मत स्वतंत्रता को स्थान दिया जाना चाहिये।

युद्ध-काल में मत स्वतंत्रता की सीमायें क्या हों तथा उसे कितनी मात्रा में छूट दी जानी चाहिये, इस बारे में थोड़ा विचार हमने ऊपर किया है। कुछ लोग कहते हैं कि सरकार की युद्ध की नीति का समर्थन करने वाली आलोचना को ही छूट दी जानी चाहिये तथा उसी सीमा तक लोगों को मत की स्वतंत्रता होनी चाहिये। उनके इस दृष्टिकोण का कुछ भी अर्थ नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं। तथापि इतनी ही सीमा हो इस कथन का यह अर्थ निकलता है कि जब युद्ध चल रहा हो, तब कार्यकारी सत्ता अर्थात् सरकार की जो भी नीति हो, जनता उसे मंजूर करती है। यदि सरकार यह समझने लगे, तो उसमें एक प्रकार का खतरा है। सेना लड़ाई के मैदान में है तथा वहाँ लड़ाई जारी है, राष्ट्र के भीतर किसी प्रकार का आंतरिक संघर्ष नहीं है तथा किसी प्रकार का कोई मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति नहीं है, तो सरकार को लगने लगता है कि उसका अपना मत ही लोगों का भी मत है। और यह स्थिति किसी भी दृष्टि से अभीष्ट नहीं कही जा सकती। वास्तव में युद्ध का प्रसंग एक राष्ट्रीय महत्व की वस्तु है तथा युद्ध के परिणाम मौजूदा पीढ़ी तक ही सीमित नहीं रहते। ऐसी अवस्था में सही-सही आलोचना का न होने देना उचित नहीं। सरकार के साथ मतभेद प्रदर्शित करने वाली सही-सही आलोचना को बंद कर डालने से सरकार की ओर से हुई अथवा होने वाली गलतियों तथा अनुचित कृत्यों के बारे में पहले से ही पक्का बन्दोबस्त कर डालने जैसी बात हो जायगी। युद्ध में शामिल हुए राष्ट्रों का इतिहास

यही बताता है कि जहाँ आलोचना पर रोक लगा दी जाती है, वहाँ निःसंदेह गलतियाँ होती हैं। इतना ही नहीं, सरकार की वृत्ति भी तानाशाही की हो जाती है तथा सत्ताधारी लोगों को लगता है कि विरोधी आलोचना करने वाले एक-दम देशद्रोही हैं। आलोचना के न होने की अवस्था में आवश्यक एवं सही-सही जानकारी लोगों के सम्मुख नहीं आ पाती तथा लोग भी सरकार की नीति के सम्बन्ध में अपनी उचित राय जाहिर नहीं कर पाते। सरकार की ओर से दिये गये बयानों को शुद्ध सत्य मानना पड़ जाता है। इससे यह होता है कि सरकारी बयानों में सचाई को तिलांजलि दे दी जाती है, तथा जो सचाई नहीं होती, उसे प्रकट किया जाने लगता है। और यदि सरकार प्रचार के काम में प्रवीण हो तो, वह जनता की आँखों में धूल झोंकना शुरू कर देती है। इस प्रकार सरकार चाहे तो युद्ध की सही-सही परिस्थिति को अपने नागरिकों से छिपा सकती है। पर दुश्मन को सही-सही स्थिति का पूरा ज्ञान होता है। आज के आकाशवाणी के युग में अब पहले की भाँति जनता की आँख में धूल नहीं झोंकी जा सकती। तथापि दुश्मन की आकाशवाणी के काम में रुकावटें पैदा करने का भी वैज्ञानिक उपाय आविष्कृत हो चुका है। इसी प्रकार एक और भी बात है। युद्ध काल में लोगों को वही समाचार एवं विचार प्रिय लगते हैं, जो अपने राष्ट्र के लिये अनुकूल होते हैं। फलस्वरूप प्रतिकूल परिस्थिति सम्बन्धी बातें लोगों के मन को भाती नहीं। सरकारी प्रचार का संगठन भी इसी दृष्टि से काम करता है। यदि वस्तुस्थिति लोगों को न सुहानेवाली हो, तो भी उसे सुहानेवाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है। छोटी-मोटी जीतों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता है। यदि कहीं हार हो जाय तो उसे ऐसा दिखाया जाता है कि वह हार नहीं वरन् जीत की पूर्व तय्यारी है। यदि सेना को पीछे हटना पड़ा हो तो यही कहा जायेगा कि यह सब लड़ाई के मोर्चे को व्यवस्थित करने के लिये किया गया है। सैनिकों की दुर्दशा को जनता तक पहुँचने नहीं दिया जाता। सामान की कमी हो तो उसे भी छिपाने की कोशिश की जाती है। युद्धकाल में सरकार अहम्मन्य, चिड़चिड़ी तथा अप्रिय सत्य से साफ भौं सिकोड़ने वाली बन जाती है। ऐसी अवस्था में उसे विचारसहिष्णु बनाना तथा उसके कामों में सन्तुलन की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्र की रक्षा के लिये यह अनिवार्य भी है। यदि यह सब होना है तो उसके लिये सरकार की नीति के तथा विशेषकर उनके क्रियान्वयन के क्षेत्र में अधिक सावधानी से आलोचना का होना बहुत जरूरी हो जाता है। यदि इस प्रकार की आलोचना देशद्रोह मानी जाने लगे, तो उससे राज्य की नैतिक प्रतिष्ठा पर आँच आती है। युद्ध के बाद के काल में जो आदर्श राज्य की एकता तथा प्रगति के लिये जरूरी माने गये थे, उन पर भी बुरा असर होता है। अतः युद्धकाल में भी सामान्यतया यह स्वतंत्रता का होना जरूरी है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह स्वतन्त्रता उतनी होनी चाहिये जितनी कि शांति के काल में होती है। युद्ध, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, एक राष्ट्रीय विपत्ति है और उस मौके पर हर नागरिक को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये तथा ईमानदारी से करना चाहिये तथापि राष्ट्र के हित की दृष्टि से नागरिकों की स्वतंत्रता पर कुछ अंकुश का बहुत जरूरी है, यह साफ है। प्रसंग विशेष में यह कहना बुरा नहीं कि

गलती पर है तथा उसने अविचारपूर्वक काम किया है। पर हाँ, सरकार के हर काम पर निरंतर कटु आलोचना करते चले जाना ठीक नहीं, क्योंकि उससे राष्ट्र के आत्म-विश्वास के नष्ट होने की आशंका पैदा हो जाती है। ऐसी आलोचना करना कि उससे राष्ट्र के हौसले पस्त हो जायें, एक भारी भूल ही का द्योतक है। क्योंकि युद्ध के दिनों में सामान्य जनता बहुत अधिक भावुक होती है। फलस्वरूप, ऐसी आलोचना को कुच-लने में सरकार को बहुत मेहनत नहीं करनी पड़ती। तथापि की गई आलोचना का सरकार के कार्यों पर कुछ असर अवश्य होता है। बहुत दफा इस किस्म की आलो-चना से युद्ध के समाप्त होने में मदद मिलती है। पहले महायुद्ध में यह अनुभव आ चुका है। युद्धकाल में राष्ट्र में पूरी एकता का एवं ऐकमत्य का होना जरूरी है, यह माना, पर वह ऐकमत्य वैचारिक मन्थन का फल होना चाहिये। उसका रूप आज्ञा का नहीं होना चाहिये अथवा रबर के स्टैंप जैसा नहीं होना चाहिये। कोई भी सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसका किया सब-का-सब सही है। तथापि युद्ध जीतने के लिये वह जो भी प्रयत्न करती है, उसमें बाधा न पड़े, देश में विपरीत भावना उत्पन्न न हो, पराभूत मनोवृत्ति का निर्माण न हो, इस बात की चिन्ता आलोचकों को अवश्य होनी चाहिये। क्षतिकारक पराभूत मनोवृत्ति के लिये प्रजातन्त्र में कोई स्थान नहीं, अन्य कहीं हो तो हो। तात्पर्य यह है कि युद्ध शुरू होने के बाद से युद्ध के खत्म होने तक सरकार का अनुभवयुक्त एवं रचनात्मक आलोचना द्वारा मार्ग दर्शन किया जा सके इतनी मत स्वतन्त्रता राष्ट्र में अवश्य होनी चाहिये। युद्धकाल में समय-समय पर आलोचना तथा निर्भीक आलोचना को यदि मौका न दिया जाय तो युद्ध में मिली जीत भी कभी-कभी हार से ज्यादा महँगी पड़ती है। कभी-कभी युद्ध के बाद स्थापित हुई शांति अधिक स्फोटक हो जाती है। युद्ध के बाद के इंतजाम के बारे में उचित प्रबन्ध न होने से कभी-कभी युद्ध में शामिल हुए सभी राष्ट्रों को बहुत बड़ी चिंता का ग्रास बनना पड़ता है। और वह शान्ति का काल, शान्ति का काल न होकर आगामी युद्ध की तैयारी का काल बन जाता है। गत दोनों विश्वयुद्धों का अनुभव इस दृष्टि से विचार करने योग्य है। युद्धकाल में तथा युद्ध के श्रीगणेश के काल में युद्ध के उद्देश्य दोनों महायुद्धों में घोषित किये गये थे। पहले महायुद्ध के काल में अमेरिका ने जो नैतिक भूमिका ली थी तथा घोषणा की थी कि संसार में लोकतन्त्र की स्थापना के लिये तथा उसके विकास के लिये यह युद्ध लड़ा जा रहा है और जिस पर विश्वास करके युद्ध में शामिल हुए राष्ट्रों की जनता ने युद्ध के प्रयत्नों की सहायता की थी, वह सब युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भ्रामक सिद्ध हुई। कमल के डोडे में बन्द भँवरा मन ही मन उम्मीद लगाये बैठे कि सूर्योदय होने पर यह कमल का डोडा खिल उठेगा और तब मैं बाहर निकल आनंद करूँगा, पर हाथी आकर उस कमल की बेल ही को जड़मूल से उखाड़कर फेंक दे, ऐसी ही अवस्था उन लोगों की भी पहले महायुद्ध के बाद हुई। लोकतन्त्र तो दूर, संसार में शांति स्थापना के उद्देश्य से जो 'लीग ऑफ नेशन्स' नाम की संस्था बनी, वही आगामी महायुद्ध का कारण बन गई। युद्धकाल के युद्धोद्देश्यों पर, घोषणाओं पर विजयी राष्ट्रों ने विचार ही न होने दिया। उलटे दुश्मन के खिलाफ ़न प्रचार करने का प्रयत्न किया गया। युद्ध में जीत होते ही जीत के सम्बन्ध

में परमेश्वर के आभार माने गये तथा साथ ही जर्मनी को नेस्तोनाबूद करने वाले कैसर को फाँसी देने की घोषणा की गई। लोगों में यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई कि वे उस पक्ष को मत देंगे, जो ज्यादा से ज्यादा बदला लेगा तथा पराजित जर्मनी तथा उसके सहयोगी राष्ट्रों को ज्यादा से ज्यादा सजा देगा। इंगलैंड में १६१६ में जो चुनाव हुए उसमें भावुकता अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गई थी। जर्मन जनता जर्मन सरकार के अपकृत्यों के लिये दोषी ठहराई गई तथा बात इस सीमा तक पहुँची कि जर्मन व्यक्ति को राक्षस समझा जाने लगा। सारा स्तर विचार पूरी तरह से लुप्त हो गया तथा राजनैतिक आकाश 'बदला' 'बदला' की घोषणाओं से भर गया। फलस्वरूप जो सुलह हुई, उससे शांति का निर्माण नहीं हुआ वरन् उससे भावी युद्ध के बीज बो दिये गये तथा उसीसे दूसरा विश्वयुद्ध हुआ। यदि युद्ध काल में सभी युद्धरत राष्ट्रों के लोगों को विचार स्वतन्त्रता मिली होती, तो इस किस्म की सुलह न हुई होती, ऐसा विख्यात राजनीतिज्ञों का कहना है। केवल मत की स्वतन्त्रता दे देने से ये सब बातें दूर हो गई होतीं, ऐसा निश्चित रूप से कहना कठिन है। पर हाँ इतना जरूर कहा जा सकता है कि सुलहनामे की बैठकों में ज्यादा विवेक एवं सन्तुलन के साथ विचार-विनिमय हुआ होता। पराभूत राष्ट्र सिद्ध अपराधियों के रूप में वहाँ न आये होते तथा बदले की एवं सजा देने की प्रवृत्ति इतनी ज्यादा न बढ़ी होती। इसी प्रकार यदि युद्धकाल में मत की स्वतन्त्रता की पूरी छूट होती, तो अनेक गुप्त सन्धियाँ न हुई होतीं तथा जब बोलशेविया ने बड़े-बड़े राष्ट्रों की उन गुप्त सन्धियों का भाण्डा फोड़ किया उस समय उनकी प्रतिष्ठा को जो बट्टा लगा, वह न लगा होता। मत स्वतंत्रता के न होने के कारण सरकारें सारी सचाई लोगों के सामने पेश न करने में सफल हो गईं। सचाई को छिपा दिया गया तथा उसके कारण सरकार को उनके कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो मार्गदर्शन मिलना चाहिये था, वह न मिल सका। तात्पर्य यह कि युद्ध चालू रहते समय भी युद्ध-गत विजय के लिये मत स्वतन्त्रता एक जरूरी वस्तु है। इसी प्रकार युद्ध की समाप्ति के बाद के काल में वास्तविक शांति की स्थापना के उद्देश्य से भी मत स्वतन्त्रता की उतनी ही आवश्यकता है। उसी की न्यायबुद्धि जागरित रहती है, जो भावुकता का ग्रास नहीं बनता। ऐसे ही लोग सन्तुलित बुद्धि से विचार कर सकते हैं। ऐसे ही लोग राष्ट्र का मार्गदर्शन कर सकते हैं। विशेषतः संकटकाल में—समर प्रसंग में ऐसे लोगों को विचारों की स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिये।

मत स्वतंत्रता की कल्पना में व्यक्ति की भाँति समुदाय की मत स्वतंत्रता का भी समावेश होता है। व्यक्ति जब समाज में जन्म लेता है, उस समय अनेक सम्बन्ध भी उसके बारे में उत्पन्न होते हैं। और उन सब सम्बन्धों का व्यक्ति के जीवन पर असर होता रहता है। बचपन से किंबहुना जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त व्यक्ति अनेक प्रसंगों में अनेक संदर्भों में अपना व्यवहार किया करता है। उसे अनेक अनुभव हासिल होते हैं, अनेक मुसीबतें उसके सामने आती हैं—जिनमें से होता हुआ वह अपनी राह बनाता है। अनेक बार वह अपने खुद के प्रयत्नों से सफलता या असफलता प्राप्त करता है। पर अनेक बार उसे अन्य व्यक्तियों की सहायता से काम करना पड़ता है। चाहे वह क्षेत्र सांस्कृतिक हो, औद्योगिक हो, व्यावसायिक हो या व्यक्तिगत व्यवहार से

सम्बन्धित हो, बहुत बड़े पैमाने पर उसका वास्ता समाज से पड़ता है। व्यक्ति अकेला भी विचार कर सकता है, विश्रांति ले सकता है। इस प्रकार के कुछ कामों को, जो अन्यों के सम्पर्क के बिना भी किये जा सकते हैं, छोड़ अन्य सब बातों में व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ होता है। बच्चों को मनाने के काम में उसे पत्नी की मदद लेनी पड़ती है। घर मालिक को मकान की मरम्मत करवाना हो तो अपने साथ रहने वाले किरायेदार से सलाह-मशविरा करना पड़ता है। नौकरी में वृद्धि के लिए उसे मजदूर संघ से सम्बन्ध रखना पड़ता है। किन्हीं राजनैतिक मतों की चर्चा करने के लिए किसी संघ या समिति से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। यदि वह साहित्यिक है, तो उस विषय की संस्थाओं से उसका सम्बन्ध आता है। किंबहुना नाना प्रकार के संघों, समूहों का चाहे वे संगठित हों या असंगठित हों, आधुनिक युग में व्यक्ति तथा उसके जीवन से इतना अधिक सम्बन्ध आने लगा है कि ये संघ एवं समूह व्यक्ति के जीवन की दृष्टि से अनिवार्य हो गए हैं। कहा जाता है कि हर अंग्रेज का एक क्लब, एक अखबार तथा एक हॉबी होती है। भारत में भी ६०-७० वर्षों से धीमे-धीमे व्यक्ति के जीवन में संघ एवं समूह का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। और जहाँ विचार-स्वतंत्रता है, वहाँ विचार-विनिमय तो होगा ही। मुझे यदि विचारों की स्वतंत्रता प्राप्त है, तो इसके मानी ये हुए कि मुझे जो कुछ प्रतीत होता है, मैं उसे या तो भाषण द्वारा या लेख द्वारा प्रकट करूँगा। इसके मानी ये हुए कि मुझे कोई न कोई श्रोता या पाठक चाहिए जो मेरे कहे को सुने तथा लिखे को पढ़े। मैं जो कुछ बोलूँगा या लिखूँगा उसे सुनने या पढ़ने वाले के मन पर कुछ असर पड़ता है। तथा वे भी अपनी प्रतिक्रिया को बोलकर व्यक्त करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मत की स्वतंत्रता समाज में कार्यान्वित हुआ करती है। मत की स्वतंत्रता के लिए समाज की जरूरत होती है। अर्थात् कुछ व्यक्ति एक जगह इकट्ठे हुए कि उनका पारस्परिक विचार-विनिमय होता है। वे संगठित हों या असंगठित हों, पर दो आदमी एक जगह जमा हुए कि वहाँ सभा हो गई। सभा के लिए कम से कम एक वक्ता तथा एक श्रोता तो होना ही चाहिए। सभा का एक अर्थ में सार्वजनिक स्वरूप होता है। तथापि थोड़े लोगों का एकत्र होना, विशिष्ट बातों के बारे में सर्वसामान्य चर्चा करना प्रजातंत्री समाज का, किंबहुना आधुनिक समाज का एक जीवनतत्त्व माना गया है। व्यक्ति के विकास के लिए समाज में पूरा मौका होना चाहिए। और वह मौका केवल समाज में ही उपलब्ध हो सकता है। ग्राम गायक अपने आनन्द के लिए गाता है यह कहना एक हद तक सही है। तथापि उसके व्यक्तित्व एवं कला के विकास के लिए रसिक श्रोताओं की नितांत आवश्यकता होती है। यही बात साहित्य-सम्बन्धी कला की भी है। कला निरपेक्ष रूप में सत्य नहीं है। यदि वैसा होता तो किसी भी साहित्यिक को पाठकों की आवश्यकता महसूस न होती। किसी चित्रकार को दर्शकों की जरूरत न महसूस होती। सन्त तुलसीदास ने स्वान्त: सुखाय रामचरितमानस लिखा यह सही है। पर उसमें भी जो सुख हुआ वह समाज के संदर्भ ही में हुआ। अपनी रचना से जन-मनोरंजन होगा, भक्तिभाव बढ़ेगा, इस कल्पना से स्वान्त: सुख का जन्म हुआ है। अत: कला, काव्य, शिल्प इत्यादि सारी बातें समाज में ही होती हैं, और उनमें

सामाजिक भाव होता है। उस प्रकार के भाव के उत्पन्न होने के लिए समाज में व्यक्तियों का एक जगह आना जरूरी हो जाता है। आधुनिक समाज में एकत्र होने की पूरी छूट होनी चाहिए। भाषण एवं मत की स्वतंत्रता का वह एक अविच्छिन्न अंग है। किंबहुना, जिस मौलिक प्रेरणा से व्यक्ति के जीवन के लिए समाज की निर्मिति हुई है, उसी का पोषण एकत्र होने की स्वतंत्रता द्वारा हुआ करता है। व्यक्ति के लिए राज्य एवं समाज की जितनी जरूरत रहती है, उतनी ही जरूरत है एकत्र होने की तथा संगठन स्वतंत्रता की। समान विचार वाले व्यक्तियों को एक जगह आना चाहिए तथा उन्हें जो भी उचित प्रतीत हो संगठन की दृष्टि से उसे करें। इससे जहाँ समाज-भावना का विकास होता है, समाज की स्थिरता बढ़ती है, वहाँ इस एकत्र आने से किन्हीं खतरों के भी पैदा होने की सम्भावना रहती है। अतः इस एकत्र आने के अधिकार पर, संगठन स्वतंत्रता के अधिकार पर राज्य एवं समाज के हित एवं रक्षा की दृष्टि से कुछ एक अंकुशों का रहना भी बहुत ज़रूरी है।

स्वतंत्रता कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है, यह हम पहले ही बता चुके हैं। स्वतंत्रता के उचित उपयोग के लिए राज्य द्वारा किन्हीं अंकुशों का रखा जाना अनिवार्य हो जाता है। ये अंकुश राज्य कानून बनाकर या क्रियान्वयन के आदेश देकर उपयोग में लाये जा सकते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ कानून के मुताबिक स्वतंत्रता (लिबर्टी अंडर लॉ) है। अत. संगठन स्वतंत्रता का विचार करते समय भी उस पर आने वाले अंकुशों का विचार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति सामान्य रूप से प्रतिबंधों को पसन्द नहीं करता। भले ही वे लेखक के बारे में हों, भाषण के बारे में हों या कहीं भी घूमने-फिरने के बारे में हों। पर चूँकि व्यक्ति को रहना समाज ही में है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अन्य सभी व्यक्तियों के समान ही अधिकार प्राप्त होते हैं, इसलिए स्वतंत्रता का यथोचित लाभ हरेक को प्राप्त कराने की दृष्टि से राज्य के लिए सम्बन्धित प्रतिबन्धों का लगाना जरूरी हो जाता है। कानून बनाने पड़ते हैं। कुछ लोग इकट्ठे हों, संघ स्थापित करें तथा उस संघ में शामिल होने वाले सभासदों पर निःसीम अधिकार चलाएँ या उन्हें सजा दें, और यह सब संगठन स्वतंत्रता के नाम पर हो, यह कोई भी पसन्द नहीं करेगा। संघ का सभासदत्व ऐच्छिक होता है तथा संघ के नियमों का उल्लंघन होने पर यदि संघ किसी सभासद पर जुर्माना करदे और वह सभासद उसे देने से इन्कार कर दे तो संघ उसे सभासदत्व से हटा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। राज्य एक ऐसी संस्था है कि उसका सभासदत्व ऐच्छिक नहीं होता तथा राज्य एक ऐसा संघ है कि उसके नियमों का पालन न करने वाले को सजा भोगनी ही पड़ती है। राज्य में जो अन्य संघ निर्माण होते हैं तथा जो रजिस्टर्ड किये जाते हैं, उन सबका सभासदत्व ऐच्छिक स्वरूप का होता है तथा किसी भी संघ को सजा देने का हक नहीं होता। यदि उन्हें वैसा अधिकार दे दिया जाय, तो वे सबके सब राज्य के प्रतिस्पर्धी साबित होंगे तथा राज्य में अराजकता मच जायेगी। इन सब बातों से बचने के लिए राज्य संगठन-स्वतंत्रता पर अंकुश लगाता है। सवाल यह पैदा होता है कि ये अंकुश किस प्रकार के हों, उन्हें कब उपयोग में लाया जाय तथा किस प्रकार उपयोग में लाया जाय। समाज में अनेक किस्म के लोग होते हैं। अनेक सिर-फिरे इकट्ठे

सभी धर्मों ने वर्जित कर रखा है। तथापि जब कानून द्वारा उसे बंद करने का प्रयत्न किया गया या किया जा रहा है, तब जिसी सफलता की उम्मीद थी, उसी सफलता हासिल नहीं हुई। जो बात शराब-बंदी की है, वही सारे सामाजिक सुधारों की भी है। द्विभार्या प्रतिबंधक कानून को लोकप्रिय बनाने के लिए समाज सुधारकों को लगभग ४० वर्षों तक लोकमत को तैयार करना पड़ा। सामाजिक सुधारों के बहुसंख्यक लोग हक में हों तथा अल्पसंख्यक लोग उदासीन हों तथा लोकविरोधी कोई न हों, तो समाज-सुधार सम्बंधी कानून सफल हो जाता है तथा लोगों के आचरण में मान्यता के कारण प्रतिबिम्बित होता है। विवाह विषयक दोनों का अनुभव यही बताता है। शारदा कानून १९२९ के लगभग बना तथापि उस समय वातावरण अनुकूल नहीं था। फल यह हुआ कि इस कानून का पास होना न होना बराबर हो गया। शनैः-शनैः लोकमत अनुकूल होता गया और अब बाल-विवाह बहुत बड़े पैमाने पर बंद हो गया है। तथापि इस विषय में लोकमत तैयार करने वाले जो व्यक्ति अथवा संस्थाएँ थीं, उन पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया। उन्हें पूर्ण मत की स्वतंत्रता दी गई। अतएव आज की यह प्रगति दृष्टिगोचर हो रही है। एक समय था, जब संतति-नियमन के बारे में लोकमत इतना विरोधी था कि इस विषय का ऊहापोह अथवा चर्चा करना तक असाध्य हो गया था तथा संतति-नियमन के प्रचारकों को कानून की पकड़ में ले लिया गया था। पर आज संतति-नियमन के साधनों का सम्भरण तथा तत्सम्बंधी प्रचार खुल्लमखुल्ला चल रहा है। तात्पर्य यह है कि समाज में मत की स्वतंत्रता को प्रदर्शित करते-करते लोकमत तैयार हो जाता है, वही कानून को सही मानों में वैधता प्राप्त करा देता है। और तब उस कानून की नैतिक प्रतिष्ठा सर्वमान्य हो जाती है।

जो मत स्वतंत्रता सामाजिक क्षेत्र में होनी चाहिये, वही तथा उसी ही मत-स्वतंत्रता आर्थिक क्षेत्र में भी होनी चाहिए। सामाजिक क्षेत्र में जिस प्रकार व्यक्तियों तथा संस्थाओं को संगठित होकर कुछ काम करने की छूट रहती है, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी होना चाहिए। सामाजिक क्षेत्र में कानून द्वारा जिस वस्तु पर निश्चित रूप से प्रतिबंध न लगा हो, उसके लगाने की पूरी छूट रहती है। जिस काम को कानून द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया हो, उसे नहीं किया जा सकता, यह सत्य है। तथापि उसके बारे में भी विचार करने की, उसे कह सुनाने की तथा उसके सम्बन्ध में प्रचार करने की छूट होनी चाहिये, यह सत्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि विचार-स्वतंत्रता तो है, पर आचार-स्वतंत्रता नहीं। सारी सम्पत्ति समाज में निर्माण होती है; अतः उस पर सारे समाज का अधिकार है, ऐसा विचार प्रतिपादित करना अनुचित नहीं। सम्पत्ति का मूल चोरी एवं अन्याय है, ऐसा कहना या दृष्टि-कोण प्रतिपादित करना अनुचित नहीं। आवश्यकता से अधिक कोई भी वस्तु अपने पास रखना चोरी है, ऐसा उपनिषदों का उपदेश देना अनुचित नहीं। इसी प्रकार 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' कहना भी अनुचित नहीं। परन्तु इन उपदेशों के नाम पर यदि 'अ' के पास की अधिक सम्पत्ति को 'ब' छीन ले तो वह उचित नहीं होगा। समाज-सत्तावाद को कानून द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है, जोर-जबर्दस्ती से नहीं। सपत्ति के विषम विभाजन को कर लगा कर कम करना होता है, चोरी या डाकेजनी के मार्ग

से नहीं। समाज में नई कल्पनाओं के प्रचार की छूट होने का अर्थ यह नहीं कि आचरण भी उनके अनुरूप करना शुरू कर दिया जाए। अतः समाज में जो आचरण व्यक्तियों को करना है, वह मौजूदा कानून के अनुरूप होना चाहिए। जो कानून अहितकर हो, कदाचित् अनेक लोगों को वह अहितकर एवं अनैतिक प्रतीत होता हो, तो भी उसके विरुद्ध आचरण करना समाज की दृष्टि से अहितकर है। उस कानून को बदल डालना तथा उसे बदलने की दृष्टि से अधिकाधिक प्रचार करना, संगठित होकर प्रचार करना ठीक रहता है। जो अभीष्ट हो, जो हितकर हो, उसको निर्माण करने की दृष्टि से संगठित होकर प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसका अर्थ हड़ताल करना भी हो सकता है। जिस काम को करना व्यक्ति के लिए सम्भव है, उसे करना संगठन के लिए भी सम्भव होना चाहिए, इस कथन में सुसङ्गति है। तथापि व्यक्ति के हल्ला-गुल्ला मचाने तथा एक समूह के हल्ला-गुल्लाने मचाने में जो अन्तर है, वह काफी महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार एक व्यक्ति के काम पर न जाने तथा हजारों व्यक्तियों के काम पर न जाने में अन्तर है। समूह द्वारा किये गए कृत्य का असर सामाजिक होता है, यह भुलाया नहीं जा सकता। अतः सङ्गठित एवं सामुदायिक आचरण का विचार समाज की दृष्टि से किया जाना चाहिए। समाज की स्थिरता तथा संरक्षण की दृष्टि से उस आचरण की ओर देखना चाहिए, यह स्पष्ट है। इस दृष्टि से विचार करने पर, जब मजदूर संघ या सरकारी कर्मचारियों का संघ सङ्गठित होकर प्रयत्न करते हैं, हड़ताल का विचार करते हैं, हड़ताल करते हैं, तब उनका यह आचरण कुछ-एक व्यक्तियों के आचरण के समान नहीं हो सकता। यदि सार्वजनिक हड़ताल की जाये, या सार्वजनिक महत्त्व की सेवाओं में हड़ताल हो जाये, तो मौजूदा सरकार को समाज के हित की दृष्टि से उस पर अपना ध्यान अवश्य केन्द्रित करना चाहिए। सार्वजनिक हड़ताल करके समाज के जीवन में अड़ंगा डालने को यदि सामान्य एवं महत्त्वहीन बात मान ली जाये, तो वह गलती होगी। हड़ताल का अर्थ है सङ्गठित रूप से की जाने वाली जबर्दस्ती, यह स्पष्ट है। रेलवे में काम करने वाले कर्मचारियों के हड़ताल करने का अर्थ समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने जैसा है। हम जो कुछ माँगते हैं, वह दीजिये, नहीं तो एक भी इंजन सीटी नहीं देगा, इसका अर्थ यह हुआ कि अपनी माँगों के औचित्य के विषय में सरकार को अवगत कराने के बदले जबर्दस्ती तथा धमकियों द्वारा अपनी माँग को मनवाया जाये। तथा यह निश्चित ही सर्वसमान्य जनता के हित में नहीं है। जो वस्तु न्यायबुद्धि को न जँचे, उसे धमकी द्वारा मंजूर करना पड़ता है, ऐसा उसका अर्थ हुआ। रेलों की हड़ताल से देश भर का यातायात रुक जाएगा। डाक, तार-विभाग की हड़ताल से सुव्यवस्थित व्यवहार बंद हो जाएगा एवं समाज में गड़बड़ मच जायेगी। इससे अराजकता उत्पन्न हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है, ऐसा इतिहास का अनुभव हमें बताता है। सरकारी कर्मचारियों के हड़ताल करने से सरकारी कामकाज बंद पड़ जाएगा। सामान्यतया यातायात, बिजली एवं अनाज आदि की सप्लाई आदि ऐसे मामले हैं कि इनके बारे में उचित व्यवस्था के न हो तो समाज चरमराकर ढेर हो जाएगा और सब कहीं अराजकता मच जाएगी। अतः जो बातें सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त जरूरी हैं,

उनसे होने वाली हड़तालों एवं अनुचित दबावों के विरुद्ध यदि सरकार कुछ कार्रवाई करे तो उसे उचित मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जिस काल में समाज में अभी यन्त्र-युग नहीं आया था और आधुनिक ढंग की उद्योग व्यवस्था काम नहीं करती थी, उस काल में मजदूर लोग संगठित होकर आन्दोलन नहीं करते थे। मजदूर तथा निर्माता प्रायः एक ही हुआ करते थे। अतः आजकल उद्योग धंधों को जो सवाल परेशान किये रहते हैं, वे सवाल उन दिनों पैदा ही नहीं होते थे। किसान अनाज पैदा करता तथा बाजार में ले जाकर उसकी बिक्री करता था। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता तथा उनकी बिक्री करता था। जुलाहा कपड़ा बुनता तथा खुद ही बाजार में जाकर बेच आता था या और व्यापारी को बेच देता था। आधुनिक उद्योग-व्यवस्था में श्रम करने वाले केवल अपने श्रम ही के लिये जिम्मेदार होते हैं। उन्हें अर्थात् मजदूरों को कच्चा माल खरीदना नहीं पड़ता तथा पक्का माल बेचना नहीं पड़ता। उनका सम्बन्ध सिर्फ अपनी मजदूरी से रहता है। तैयार माल की कीमत की घट बढ़ से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कच्चा माल मँहगा लेना पड़ जावे तो उससे भी उनका कोई वास्ता नहीं। उनका सम्बन्ध केवल अपनी मजदूरी से रहता है। उत्पादन के साधन उनके अपने नहीं होते; उत्पादन की बिक्री से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। पक्के माल से उनका कुछ लेना-देना नहीं होता। संक्षेप में, एक निश्चित दर से अपना श्रम मालिक को बेचते हैं और उनकी जिन्दगी पूरी तरह से उनके मालिक के हाथ में होती है। आधुनिक उद्योग-धंधों में मालिकी भी संगठित हो गई है। उद्योग-धंधों का स्वरूप भी संगठित हो गया है। जैसे मजदूरों का सम्बन्ध उस धंधे में साथ उद्योग तक ही सीमित रहता है, उसी प्रकार उद्योग-धंधों को पूँजी देने वाले मालिक अर्थात् हिस्सेदार लोगों का सम्बन्ध भी नफे तक ही सीमित रहता है। धंधे को खड़ा करना, उसे सुव्यवस्थित करना तथा उसे फायदेमन्द बनाना आदि बातों की सारी जिम्मेदारी व्यवस्थापक-वर्ग की होती है। व्यवस्थापक-वर्ग बहुत महत्व का होता है। संचालक मण्डल सामान्य देख-रेख से ज्यादा और कुछ नहीं करता। सारे अधिकार व्यवस्थापक-वर्ग के हाथ में होते हैं। सामान्यतया आज के युग में छोटे-बड़े उद्योगों की माँग व्यक्ति की नहीं होती, वरन् कम्पनी के कानून के अधीन रजिस्टर्ड सीमित पूँजी वाली निजी या सार्वजनिक कम्पनियों की होती है। आधुनिक उद्योग क्षेत्र में व्यवस्थापक वर्ग, संचालक मण्डल तथा उन्हें चुनने वाले हिस्सेदार लोग मालिक होते हैं। ये सब संगठित होते हैं तथा उसके कारण वे मजदूरों पर, जोकि असंगठित होते हैं, अपनी हुकूमत चला सकते हैं। और यदि मजदूर संगठित भी हो जावें, तो भी उनकी शक्ति सीमित रहती है। मजदूर लोग संगठित हों तो मालिक लोग थोड़ा दबकर काम करते हैं। इसके अतिरिक्त देश की राज्यसत्ता अनेक कानून बनाकर मालिक एवं मजदूरों के सम्बन्धों को नियमित किया करती है। मालिक मजदूरों के सम्बन्धों के क्षेत्र में सरकार को बीच में नहीं पड़ना चाहिये तथा आपस के सारे झगड़े उन्हें अपने आप ही तय कर लेने चाहियें ऐसी भी एक विचारधारा है। मालिक और मजदूरों के बीच कुछ समझौते हुए हैं; दोनों को उनके अनुसार ही आचरण करना चाहिये तथा उस समझौते की पवित्रता को बनाये

रखना चाहिये, इत्यादि बातें ऊपर से सही नजर आती हैं। पर वास्तव में जिनके बीच यह समझौता होता है, उन दोनों दलों को समान भूमिका पर होना चाहिये। कल चूल्हा बन्द पड़ जायेगा, इस डर से मजदूर को जो भी मजदूरी मिल जाये, वह उसी पर काम करने को तैयार हो जाता है। चूँकि वह राजी-खुशी से तैयार हो जाता है, अतः उसने जो समझौता किया है, वह वैध भले ही हो; पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह न्याययुक्त भी है। अतः जहाँ समान स्तर पर दो दलों में समझौता न हुआ हो, वहाँ जो भी समझौता हुआ हो, उसके वैध होने पर भी उसे न्यायोचित मानने की कोई जगह नहीं है। इसी प्रकार बहुत दफा संगठित मजदूर लोग अपने संगठन के जोर पर अपनी माँगें मंजूर करने के लिये मालिकों को विवश करते हैं तथा मालिक भी लाचार होकर उनकी माँगें मजूर कर लेते हैं। सो यहाँ भी जो समझौता हुआ है, वह भले ही राजी-खुशी का समझौता प्रतीत हो, पर वह वास्तव में शक्ति के जोर पर हुआ है, अतः वह देखने को वैध होते हुए भी न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में, न्यायपूर्ण तथा योग्य क्या है, इसे देखने का अधिकार पुनः सरकार ही का होना चाहिये। अतः एक दृष्टि से समाज में जहाँ कहीं भी संघर्ष निर्माण हो, वहाँ समाज की दृष्टि से, समाज की रक्षा की दृष्टि से अपनी सत्ता का उपयोग करना यह सरकार ही का अधिकार होगा। यह भी मान लिया जाना चाहिये कि संगठन की स्वतन्त्रता दोनों को होनी चाहिये—मालिकों को भी तथा मजदूरों को भी। जब दो व्यक्तियों के बीच के झगड़े का फैसला सरकारी अदालत के माध्यम से किया जाता है, तब दो समूहों एवं संगठनों के बीच के झगड़े का फैसला भी सरकार ही को करना चाहिये। यह सरकार का कर्तव्य-कर्म हो जाता है। जिस प्रकार स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार दो व्यक्तियों के बीच के सम्बन्धों में राज्य की अदालत फैसला किया करती है, उसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्रों में भी सरकार को औद्योगिक न्याय देना चाहिये। औद्योगिक क्षेत्रों की स्वतंत्रता पर जब सरकार अंकुश लगाती है, तब समाज के हित की दृष्टि से उसकी अनिवार्यता को तथा औचित्य को प्रकट करना सरकार के लिए सम्भव होना चाहिये। प्रत्येक राज्य में सत्तारूढ़ राज्यसत्ता के हाथ में निर्णायक स्वरूप की शक्ति एवं अधिकार होते हैं तथा उन अधिकारों का प्रयोग तब किया जाता है, जब समाज की स्थिरता एवं रक्षा खतरे में हो। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि समाज के लिए खतरा तभी पैदा होता है, जब कि मालिक वर्ग के लिये खतरा पैदा हो। साथ ही यह मानना भी ठीक न होगा कि समाज के लिये खतरा तभी पैदा होता है, जब मजदूर वर्ग के लिये खतरा पैदा हो। जो भी खतरा हो वह सारे राज्य के लिये होना चाहिये। किसी एक वर्ग या हिस्से के लिये खतरा पैदा हो गया हो तो वह खतरा सारे समाज के लिये है, ऐसा मानना ठीक नहीं। अनुभव यह बताता है कि सरकार की निर्णायक शक्ति मालिकों के पक्ष में जाती है तथा मालिकों के फायदे के लिये उसका उपयोग किया जाता है।

समाज के किसी व्यक्ति या समूह का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रीति से सरकार के ऊपर जोर या दबाव डालना उचित नहीं है। व्यक्ति अथवा समूहों को जो कुछ अभीष्ट हो, वह उन्हें वैध एवं शांतिपूर्ण उपायों द्वारा हासिल करना चाहिये।

और इन उपायों में से सबसे अधिक शक्तिशाली उपाय है चुनाव के समय अपना मत देना। अपने संगठन के जोर पर हड़ताल करने जैसी सीधी कार्रवाई (डायरेक्ट एक्शन) ठीक नहीं, ऐसा कहना सामान्यतया ठीक ही है। हड़ताल शुरू करके सरकार के ऊपर एक प्रकार का अप्रत्यक्ष दबाव डाला जाता है। और तब सरकार के लिये उन उपायों का अवलम्बन करना कर्त्तव्य-कर्म हो जाता है, जो समाज के हित की दृष्टि से जरूरी हों। सार्वजनिक हड़ताल का अर्थ केवल यही नहीं होता कि किन्हीं बातों एवं माँगों की पूर्ति के लिये वह की जा रही है। सामान्यतया सार्वजनिक हड़ताल अथवा सहानुभूति प्रकट करने के लिये की जाने वाली हड़ताल क्रान्ति का एक हथियार बन जाती है। संविधान में सामाजिक अथवा आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिये जो विधि बताई गई है, उसका अवलम्बन न करके असंवैधानिक विधि से उस ढाँचे को बदलने के लिये हड़ताल एक किस्म के हथियार का काम देती है। और जो असंवैधानिक है निश्चय ही वह एक अवैध एवं अनुचित वस्तु है। अतः उसे कुचलना तथा उसके विरुद्ध उपाय करना सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है। तथापि हड़ताल एवं सार्वजनिक हड़ताल के सम्बन्ध में उल्लिखित विचारधारा को सामान्य रूप से मंजूर करके भी, सरकार द्वारा की गई जल्दी कार्रवाई की निन्दा करने वाले लोग भी मिल ही जाते हैं। मुख्य प्रश्न यह है कि हड़ताल के लिये जो कारण बताये जाते हैं क्या वे सही हैं? तथा क्या उन कारणों के लिये हड़ताल करना उचित है? हड़ताल कोई सीधा-सादा साधन नहीं है। छोटी-मोटी बातों के लिये उसका उपयोग नहीं करना चाहिये, इसे हर कोई मंजूर करेगा। तथा हड़ताल एक ऐसी क्रिया है कि जिसके मंत्र-तन्त्र में यदि थोड़ी सी भी गलती हो जाय तो उसका दुष्परिणाम हड़ताल करने वाले के ऊपर तथा समाज पर उलटा भी हो सकता है। और यदि वह हड़ताल सार्वजनिक हो, तो उसका अप्रत्याशित स्वरूप का ऐसा भी फल हो सकता है कि लेने के देने पड़ जायें। अतः एकत्र आने की स्वतन्त्रता तथा उसमें से उत्पन्न होने वाली संगठन-स्वतंत्रता का उपयोग करते समय अधिक-से-अधिक जागरूकता एवं उत्तरदायित्व से काम लेना चाहिये। हड़ताल करने का अधिकार संविधान द्वारा दिया गया है, ऐसा माना भी जाय, तो भी वह ऐसा अधिकार नहीं है, जिसका इस्तेमाल रोजमर्रा किया जा सके। साथ ही, यदि हड़ताल न की जाय तो मजदूर लोग या सम्बन्धित समूह गुलाम ही बना रह जायेगा, ऐसा मानने की कोई वजह नहीं। हड़ताल का विचार करते समय इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि वह निजी उत्पादन क्षेत्र में है या सरकारी क्षेत्र में। निजी क्षेत्रों में उत्पादन का उद्देश्य अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना होता है। सरकारी उत्पादन में मुख्य उद्देश्य होता है समाज की सेवा। निजी उत्पादन क्षेत्र में अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने, कम-से-कम खर्च में उत्पादन करने तथा अधिक-से-अधिक दामों में उसे बेचने की प्रवृत्ति काम करती है। अतः वहाँ यदि मजदूर लोग हड़ताल कर बैठें तो यह सही है कि परोक्ष रूप में उसका समाज पर असर होता है तथापि उसका सबसे ज्यादा असर होता है उद्योग-धंधों के निजी मालिकों के नफे पर। अतः निजी क्षेत्रों में हड़ताल हो जाय तो तत्काल उसे गैर-कानूनी ठहराना तथा अपनी सारी शक्ति खर्च करके उसे नेस्तोनाबूद करना सरकार के लिए उचित नहीं। सामान्यतया निजी

क्षेत्रों में हड़ताल का उद्देश्य एवं कारण मजदूरों से सम्बन्धित परिस्थिति होती है। वेतन, काम के घंटे, तबादला, काम की पालियाँ, बढ़ती, अधिकारियों का हृदयहीन वर्ताव इत्यादि मामलों को लेकर हड़तालें होनी हैं। और सहानुभूति प्रकट करने के लिये की जाने वाली हड़तालें भी इन्हीं किन्हीं कारणों को लेकर अन्य स्थान के मजदूरों द्वारा की जाती हैं। अतः उन्हें सहानुभूति प्रदर्शक हड़ताल कहा जाता है। यदि कोई हड़ताल मजदूरों के मामलों को लेकर हुई हो, उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए किसी और जगह हड़ताल हुई हो, या इन्हीं मामलों को लेकर सार्वजनिक हड़ताल हुई हो, और वह सचमुच वैसी ही हो, तो सदैव सरकार को अपनी शक्ति का उपयोग करके उसे दबाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यदि बेकारी भत्ता, काम के घंटे आदि बातों को लेकर सार्वजनिक हड़ताल हुई हो, तो उसमें थोड़ा-सा दोष सरकार का भी होता है। मजदूर-विषयक कानून सरकार को बनाने चाहियें तथा उन पर अमल भी करना चाहिये। मालिकों के मुनाफे पर अंकुश होना चाहिये। मालिक तथा मजदूरों के बीच झगड़े उठ खड़े हों तो उनका फैसला करने के लिए योग्य मशीनरी होनी चाहिये। ये सब बातें सरकार के कर्त्तव्य क्षेत्र में आती हैं। अतः निजी धंधों की परिस्थिति को लेकर की गई सार्वजनिक हड़ताल को केवल यह कहकर कि वह सार्वजनिक स्वरूप की हड़ताल है तथा उससे सार्वजनिक जीवन में रुकावटें पड़ने की सम्भावना है, अवैध एवं अनुचित नहीं कहा जा सकता। और यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि सार्वजनिक हड़ताल करने के लिये जब सगठित मजदूर लोग तैयार होते हैं, तब वे अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं और उसके सारे खतरों का मुकाबला करने को तैयार हो जाते हैं। किसी भी समय किसी भी कारण को लेकर साधारण या सार्वजनिक हड़ताल कर बैठना आसान नहीं है। अतः यदि कोई सार्वजनिक हड़ताल हो जाय तथा उसका उद्देश्य मजदूरों की परिस्थिति को सुधारना हो, तो जब तक उसके चालू रहने से समाज के जीवन अथवा समाज की रक्षा के लिये साक्षात् खतरा न पैदा हो जाय, तब तक सरकार को अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये। सार्वजनिक हड़ताल की घोषणा हो जाने तथा उससे सार्वजनिक जीवन के लिये खतरा पैदा होने की संभावना से ही सरकारी हस्तक्षेप की जरूरत नहीं पड़ती। और यदि आवश्यकता न होने पर भी सरकार हस्तक्षेप करने लगे तो इसके मानी होंगे कि सरकार मजदूर विरोधी पूंजीवाद के हाथ मजबूत करना चाहती है तथा मजदूरों को न्याय प्राप्त कराने से इन्कार करती है। पर इसके ये भी मानी नहीं कि सरकार को कभी हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहिये। झगड़ा भले ही निजी क्षेत्र में हो, पर सरकार का तटस्थ होकर शांति भंग न होने की स्थिति तक निष्क्रिय बना रहना भी उचित नहीं। कुश्ती अखाड़े से बाहर नहीं आती है, दोनों पहलवान अखाड़े में लड़ रहे हैं, इस बात को देखने तक ही सरकार की दृष्टि सीमित नहीं रहनी चाहिये। मजदूर भले ही संगठित हों पर उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती कि बहुत समय तक हड़ताल जारी रख सकें। इसी प्रकार मालिक-गण भी अनन्त काल तक कारखानों को बन्द रखकर, होने वाले नुकसान को स्थितप्रज्ञ की भाँति देखते बैठे नहीं रह सकते। इस प्रकार की परिस्थिति में प्रजातंत्री सरकार का कुछ कर्त्तव्य होता है। केवल मत स्वतन्त्रता एवं समझौते की

स्वतन्त्रता की दुहाई देकर यदि सरकार चुप बैठी रहे तो यह ठीक नहीं होगा। उस हालत में झगड़े को मिटाने के लिये तथा सुलह-समझौता करवाने के लिये यदि सरकार बीच-बचाव करे तो यह उचित ही होगा। मजदूरों को हड़ताल की घोषणा नहीं करनी चाहिए, यह कहना उचित है, परन्तु यदि हर प्रकार की कोशिश करने पर भी मालिक लोग कोई उचित कार्रवाई करने को राजी न हों, तो मजदूरों का हड़ताल करना उचित ही कहा जायेगा। यदि किसी को इसलिये न्याय न मिले कि वह गरीब तथा शांत है तथा गरीबी एवं शांति से काम लेता है तो इस स्थिति को प्रजातंत्र नहीं कहा जा सकेगा तथा कहना होगा कि राज्य-सत्ता मालदारों एवं पूंजीवादियों की गुलाम है। किस समय सरकार हस्तक्षेप करे, सुलह-समझौता कराये, अथवा किस परिस्थिति में निर्णायक सत्ता को काम में लाकर हड़ताल को दबा दे, यह हर हड़ताल की अपनी परिस्थिति पर निर्भर करता है। हड़ताल के उचित होने पर भी उसे सार्वजनिक एवं सहानुभूतिक हड़ताल का नाम देकर अवैध ठहरा देना या दबा देना एक प्रकार से संगठन स्वतन्त्रता पर जबरदस्त हमला ही समझा जायेगा। तथा न्यायप्राप्ति का जो एक मंत्र शस्त्र है, वह सरकार के अयोग्य हस्तक्षेप के कारण सर्वथा निष्फल सिद्ध हो जायेगा। समाज में तथा विशेषतया औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनी रहनी चाहिए इस बात का हठ पकड़कर कोई सरकार अपना काम-काज ठीक से नहीं चला सकती। अन्याय होता हो, तो व्यक्ति नौकरी त्याग देता है, स्वाभिमान की रक्षा के लिये त्याग-पत्र दे देता है। व्यक्ति के इस कृत्य के पीछे जो एक श्रेष्ठ भूमिका रहती है, वही भूमिका मजदूरों की सार्वजनिक हड़ताल के पीछे भी रहती है। अतः सत्यासत्य का विचार न करके केवल हड़ताल की घोषणा को सुनकर ही उसे दबाने की कोशिश करना या गैर-कानूनी ठहराना एक प्रकार से समाज की श्रेष्ठ प्रवृत्तियों को पनपने न देने जैसी बात हो जायेगी।

कोई भी यह दावा नहीं करेगा कि हड़ताल से या सार्वजनिक हड़ताल से समाज का नुकसान नहीं होता। व्यक्तिगत जीवन में भी यदि कुछ कमी-बेशी हो जाय, रोजमर्रा की बातों से कुछ अलहदा बात हो जाय, तो आदमी तैश में आ जाता है। ऐसी हालत में जब सारे समाज को या समाज के अधिकांश व्यक्तियों को किन्हीं व्यक्तियों के संगठित प्रयत्नों के कारण परेशानी हो तो उनका तैश में आना स्वाभाविक है। पर जिन लोगों के कारण परेशानी हुई है, उनका कहना क्या है तथा उस कहने में कहाँ तक औचित्य है, इस बात को ठंडे दिमाग से सोचने वाले व्यक्ति समाज में बहुत कम होते हैं। जब अनेक शान्तिपूर्ण उपायों से समाज की न्याय-बुद्धि जागरित नहीं हो पाती, लेख लिखने से या सीधे-सादे निरुपद्रवी प्रस्तावों के पास करने से अन्याय के पैरों तले कुचले जाने वाले लोगों की पुकार नहीं सुनी जाती, तब गाँवों के लोग प्रदर्शन करने लग जाते हैं; मोर्चे निकालने के लग जाते हैं। और तब उसे देख कर लोग उसके पीछे छिपे कारणों को जानने लिये उत्सुक हो उठते हैं। एक दृष्टि से लोकमत को जगाने के लिये ऐसा कुछ काम करना पड़ता है, जिससे लोग चौंक जायें। तभी लोकमत जागता है, ऐसा अनुभव है। शहर में जब हड़ताल घोषित होती है, ट्रामगाड़ियाँ बंद हो जाती हैं, टैक्सी वाले यात्रियों को लेने से इन्कार कर देते हैं,

तब समाज के मन को एक प्रकार का आघात पहुँचता है तथा अब तक वे जिस मामले में एक-दम अज्ञानी अथवा उदासीन थे, उस मामले को लेकर उनके मन में विचार उठने शुरू हो जाते हैं। इसके माने हुए कि जब तक समाज को थोड़ी बहुत मात्रा मे मुसीबत में न डाला जाय, तब तक समाज को अन्याय की जानकारी नहीं हो पाती तथा समाज उस पर विचार करने को अवसर नही होता। पुरुष को प्रसिद्धि चाहिये, तो उसके लिये उसे कोई न कोई ऐसा काम करना चाहिये, जिससे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। उदाहरणार्थ, घड़ा फोड़ना, कपड़े फाड़ना या कोई अजीब आवाज गले से निकालना इत्यादि। इसी किस्म की कुछ बातें थोड़े हेर-फेर से आजकल के जमाने में भी अन्याय के पैरों तले दबे हुए लोग किया करते हैं तथा उसमें कोई अनौचित्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सब कुछ शास्त्रोक्त एवं वेदोक्त कर चुकने के बाद यदि फल प्राप्ति न होती हो, तो कुछ पुराणोक्त भी करना ही पड़ता है। उसके बगैर फल प्राप्ति नहीं होती। ऐसा ही कुछ आजकल की राजनीति में, सार्वजनिक जीवन में, अधिकारों के लिये झगड़ते समय करना पड़ता है। चाहे जितना भी अन्याय हो, उसे सह लेना चाहिये, किसी भी हालत मे हड़ताल का रास्ता नही अपनाना चाहिये, ऐसा कहना देखने में बहुत अच्छा लगता है, यह सही है; तथापि जिन्हें न्याय नहीं मिलता, पेट की आग जिन्हें चैन नहीं लेने देती, जिनके जीवन में, थोड़ी मात्रा में भी सुख नसीब नहीं होता, उन्हें यह वेदांत प्रिय नहीं लगेगा, यह साफ है। अतः जब आदमी देखता है कि सिर झुकाने से कुछ काम नहीं बनता, तब वह अपना सिर उठा लेता है। जब वह देखता है कि हाथ जोड़ने से कुछ नहीं बनता तब वह मुट्ठी तान लेता है। ऐसी अवस्था में हड़ताल के अधिकार से इनकार करना अथवा उस पर अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध लगाना एक तरह से औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरों को गुलामी के शिकञ्जे मे जकड़ देना होगा। यह कह कर कि सामान्य जनता को कठिनाई का सामना करना पड़ता है तथा समाज का जीवन तितर-बितर हो जाता है, हड़ताल का अधिकार छीन लेना हर परिस्थिति में उचित एवं न्याय्य नहीं होगा। किन्हीं परिस्थितियों मे हड़ताल का अधिकार न छीनकर भी उस पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाना जिससे कि वह कार्यक्षम न रहे, समाज की दृष्टि से तथा समाज के आत्यन्तिक हित की दृष्टि से सरकार का कर्तव्य हो जाता है। सार्वजनिक हड़ताल या साधारण हड़ताल या सहानुभूतिक हड़ताल जब किसी राजकीय कामकाज के बारे में घोषित न होकर राजकीय उद्देश्यों के बारे में हो अथवा हड़ताल घोषित हो चुकने के बाद उसका स्वरूप या उसका उपयोग राजनीति के लिये किया जाने लगे; तो सरकार को उसके खिलाफ कार्यवाही करने का पूरा अधिकार है और होना चाहिये। तथापि जो हड़ताल हुई है, वह निश्चित रूप से राजकीय कारणों के लिये हुई है या उस दृष्टि से उसका उपयोग किया जा रहा है, यह कहना आसान काम नहीं है। किन्हीं अवसरों पर हड़ताल खुल्लम-खुल्ला राजनैतिक उद्देश्य से की जाती है। राजनैतिक उद्देश्यों से किया जाने वाला सत्याग्रह या की जाने वाली सीधी कार्यवाही इस लेखक की राय मे अवैध एवं अनुचित है। राजनैतिक उद्देश्यों से की जाने वाली राजनैतिक हड़ताल को यदि उचित मान लिया जाय, तब तो कोई भी सरकार टिक कर

काम नही कर पायेगी। प्रजातन्त्री राज्य-व्यवस्था में सार्वजनिक चुनावों में बहुमत द्वारा चुना गया दल सत्ताधारी होता है। वह संभवतः ५१ प्रतिशत हो और विरोधी दल ४९ प्रतिशत हो। तथापि ४९ प्रतिशत वालो को मौजूदा हालत मे ५१ प्रतिशत वालो का कहा मानना चाहिये। और सार्वजनिक चुनाव होने तक उन्हे उन बातो के खिलाफ आवाज उठानी चाहिये, जो सचमुच अनर्थ करने वाली हो। पर उन बातों को दूर करने का रास्ता देश मे सत्याग्रह या सीधी कार्यवाही करना नही है। लोगो के मन को अपनी बातो की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये तथा चुनावो मे बहुमत द्वारा चुने जाकर सत्ताधारी होना चाहिये तथा कानून द्वारा अनर्थकारी बातों को दूर करना चाहिये। यही रास्ता प्रजातन्त्र में सर्वश्रेष्ठ होता है। किंबहुना, इस रास्ते को अपनाने से ही प्रजातन्त्री व्यवस्था स्थिर होती है। अल्पमत मे आने के बाद तत्काल देश मे क्षोभ निर्माण करना, हड़ताल, मोर्चे, जुलूस आदि बातो से अराजकता उत्पन्न करके निर्वाचित सत्ताधारी दल को नीचे घसीटना अनुचित, अवैध तथा अन्त मे खतरनाक है। यदि एक दल इस रास्ते को अपनाकर सफलता प्राप्त कर ले तो वही रास्ता असफल दल के लिये भी तो खुला है। और यदि वह दल भी उसी रास्ते को अपनाने लगे तो देश मे लगातार अशांति बनी रहेगी एवं वातावरण अनिश्चित हो जायेगा। प्रगति के कदम वही के वही पड़े रह जायेंगे। अतः इन सब बातो का विचार करके चुनाव होने तक उन बातों को मंजूर कर लेना चाहिए जो कानून द्वारा निश्चित की गई हैं। अगले चुनावों तक रुका रहना पड़ता है, यह सही है, तो भी अन्तिम सफलता की दृष्टि से यह संयम बहुत जरूरी है। किंबहुना, यह संयम प्रजातन्त्र का एक महान् तत्त्व है। अतएव राजनैतिक कारणों को लेकर हड़ताल का रास्ता अपनाना अनुचित है। मिल मजदूरों के संघ का संयुक्त महाराष्ट्र के लिये हड़ताल करना अनुचित है। इसी प्रकार छोटी-मोटी राजनैतिक बातों को लेकर हड़ताल करना भी अनुचित है। राजनैतिक क्षेत्र मे तबदीली लाने के लिये संविधान के अनुसार चुनाव ही एकमात्र उपाय है और होना भी चाहिये। लोकमत को तैयार करना, उसे उसी प्रकार बनाये रखना, किंबहुना, मौजूदा सत्ताधारी सरकार के प्रत्येक अन्यायपूर्ण कृत्य को चौराहे पर लाकर खड़ा करना, उसके विरुद्ध लिखना, बोलना, एक दृष्टि से चुनाव के लिये अपने पक्ष मे प्रबल लोकमत निर्माण करना—यही कार्य की दिशा होनी चाहिये। राजनैतिक विषयों पर मजदूरों का, संगठित समूहों का या और किसी संगठन का हड़ताल कर बैठना एक प्रकार से संविधान एवं परम्परा द्वारा सर्वसामान्य जनता को दी गई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। कुछ लोग कहते हैं कि सामाजिक ढांचे को बदलने के लिये, संविधान को बदलने के लिये राजनैतिक हड़तालें नही होनी चाहियें, यह यदि मान लिया जाय, तो कभी-कभी ऐसे मौके आ जाते हैं, जब कि संगठित मजदूरों का हड़ताल करना राष्ट्र की स्थिरता के लिये जरूरी हो जाता है। उदाहरणार्थ, मौजूदा सरकार राष्ट्र को युद्ध की खाई मे धकेलने के लिये उतारू है तथा प्रजातन्त्री तरीकों मे उसके विषय मे किया जाने वाला विरोध अधूरा साबित हो रहा है तथा उसका कुछ फल नही हो रहा, ऐसे समय समाजगत संगठित संस्थाओं को, मजदूरों को एवं अन्य संगठनों को हड़ताल करनी चाहिये या नहीं? इस

अवस्था में हड़ताल करना अनुचित नहीं है, ऐसा प्रो० लास्की का मत है। तथापि देश में यदि युद्ध के विरुद्ध इतना जबर्दस्त विरोधी वातावरण हो, तो सामान्यतया सरकार उसकी उपेक्षा नहीं किया करती। पर यदि मौजूदा सरकार युद्ध की घोषणा कर बैठे, तो उसके बाद देश में उसके विरुद्ध हड़ताल करना युद्ध में अपनी पराजय को आमन्त्रित करने जैसा हो जायेगा; सारे देश की सुरक्षा को खतरे में डालने जैसा हो जायेगा; इच्छा न होते हुए भी शत्रु को नैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कराने जैसा हो जायेगा, शत्रु के हाथ मजबूत करने जैसा हो जायेगा तथा उस हड़ताल का असर निश्चित ही गृहयुद्ध के निर्माण होने पर पड़ेगा, जो कि युद्ध में हार होने की प्रथम सूचना है। तात्पर्य यह कि राजनैतिक कारणों को लेकर—भले ही कारण युद्ध सरीखी महत्त्व की वस्तु क्यों न हो—हड़ताल करना अनुचित तथा अवैध है। अतः इस प्रकार की हड़ताल हो जाय तो सरकार को उसे दबा देना चाहिये और उसे गैर-कानूनी घोषित कर देना चाहिये। सरकार का ऐसा करना उचित ही होगा। किंबहुना, वैसा यदि सरकार न करे तो वह उसकी कर्तव्यपराङ्मुखता होगी। सरकार का यह कृत्य किसी भी अवस्था में जनता की मत स्वतंत्रता एवं संगठन स्वतंत्रता पर हमला नहीं कहलायेगा। राज्य रहे तभी स्वतंत्रता रह सकेगी। अतः हर कोई यह स्वीकार करेगा कि सरकार को वह सब कुछ करना चाहिये, जो राज्य को बनाये रखने के लिये जरूरी है।

राजनैतिक मामलों को लेकर हड़ताल हो जाय तो उसके विरुद्ध केवल अदालती कार्यवाही करने से काम नहीं चलेगा। जब राजनैतिक उद्देश्यों से हड़ताल की जाती है, उस समय मामला अदालत की दीवार से भी आगे पहुँचा होता है। अदालत कुछ क्यों न कहे, हड़ताल करने वाले तथा उन्हें उकसाने वाले लोग उसकी भी पर्वाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में कानून की कोई कीमत नहीं होती। यदि कानून को स्वीकार कर लिया जाय तो हड़ताल का समूचा नैतिक आधार ही नष्ट हो जाता है। अतः कानून की उपेक्षा करके ही उन्हें सफलता की मंजिल तक पहुँचना पड़ता है। कानून चाहे कुछ भी हो, उनकी दृष्टि में वही सही है, जो वे करते हैं। वे लोग कहा करते हैं कि मौजूदा कानून से आगे भी एक नैतिक तत्त्व एवं नैतिक दर्शन है, जिसके प्रति हमारी निष्ठा है। वे लोग मौजूदा कानून को तुच्छ समझते हैं। कानून की अवज्ञा अथवा सत्याग्रह उनका धर्म होता है। कानून केवल शब्दों तक ही सीमित रह जाता है और मौजूदा परिस्थिति से उसका सन्दर्भ नहीं रह जाता। सत्ताधारी लोग बार-बार उसका उल्लेख करते हैं। परंतु जिन्हें उसका पालन करना होता है, उनके मन पर कानून की नैतिकता या उसकी दण्ड-विषयक भावना का कुछ भी असर नहीं होता। सार्वजनिक हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित करने भर से वह खतम नहीं हो जाती। उलटे वैसा करने से वातावरण अधिक बिगड़ जाता है। सार्वजनिक हड़ताल को न होने देने का सबसे बढ़िया उपाय है, उस हालत को ही पैदा न होने दिया जाय, जो इन हड़तालों की वजह बनती है। पर जब सार्वजनिक हड़ताल घोषित हो चुकी हो तब केवल अदालती कार्रवाई के भरोसे पर बैठे रहने से काम नहीं चलता। अतः राज्य के लिए अपनी निर्णायक शक्ति से काम लेना आवश्यक हो जाता है। केंद्रीय

हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित करने से ही समाज के हित की रक्षा नहीं की जा सकती। हड़ताल के गैर-कानूनी साबित होने पर हड़ताल करने वाले कारकुन लोग तुरंत कचहरी में चले जाते हों ऐसी बात नहीं होती। एक बार हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित कर चुकने के बाद उत्पन्न हुई परिस्थिति का सरकार को पूरी ताकत से मुकाबला करना चाहिए। जो हड़ताल हुई है, उसके बारे में जैसे-जैसे लोगों की यह धारणा होती जाती है कि वह अनुचित उद्देश्यों को लेकर हो रही है, वैसे-वैसे वह अपने खात्मे की ओर तेजी से बढ़ने लग जाती है। हड़ताल के नेताओं को इस बात की पूरी जानकारी होती है कि जनता की सहानुभूति के बगैर वह चल नहीं सकती। हड़ताल का उद्देश्य ही जनता की सहानुभूति हासिल करके सरकार को हड़ताल की माँगें पूरी करने के लिए विवश करना होता है। सरकार यदि जनता को यह विश्वास दिला सके कि हड़ताल के उद्देश्य अच्छे नहीं हैं या उसका फल समाज के जीवन के लिए खतरनाक होगा, तो सरकार बड़ी तेजी से हड़ताल को खत्म करवा सकती है। पहली सहानुभूति सदैव हड़ताल करने वालों के साथ होती है। क्योंकि हड़ताल करना कोई आसान बात नहीं होती; उसके लिए बहुत बड़े त्याग की जरूरत होती है; कभी-कभी तो अपने प्राणों से भी हाथ धोने के लिए तैयार रहना पड़ता है। अत. अन्त में जनमत जिसके पक्ष में होगा, जीत उसी की होगी, यह साफ जाहिर है। जनता भले ही भावुक हो, पर फिर भी उसमें कुछ न कुछ तो सही और गलत को जाँचने की बुद्धि होती ही है। विवेक से वह एक-दम अछूती नहीं होती। देर क्यों न हो, सच्चाई तथा प्रोपेगेंडा के बीच का अन्तर वह समझ ही लेती है। व्यक्तिगत अन्याय, समूह पर किया जाने वाला अन्याय तथा समाज का आत्यंतिक हित इन सबके बीच का फर्क वह जानती है। अतः जब सरकार के सिर पर हड़ताल की बला आ जाती है, तब पहला काम सरकार का यह हो जाता है कि वह जनता को हड़ताल के उद्देश्यों से परिचित कराये केवल अदालत पर भरोसा रखने से, या हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित कर देने से हड़ताल का प्रतिकार नहीं हो सकता। यह ठीक है कि जरूरत पड़ने पर पुलिस की लाठियों एवं बन्दूक की गोलियों से भी काम लेना चाहिए तथापि उससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि लोगों को यह विश्वास दिलाया जाय कि सरकार जो कुछ कर रही है, वह ठीक ही कर रही है। हड़ताल करने वालों के लिए यह कहना आसान है कि हमारे सामने इसके सिवा कोई और चारा ही नहीं था तथा सामान्यतया पहले-पहल लोगों का दृष्टिकोण उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण ही रहता है। हड़ताल का उन्हें अधिकार है, यह बात उनकी भाँति जनता को भी भली प्रकार विदित होती है। पर लोगों को इस बात की तुरन्त जानकारी नहीं होती कि हड़ताल का फल क्या हो रहा है या होने वाला है। जब आग की लपटें आँखों को दिखाई नहीं देती तब लोगों को यही प्रतीत होगा कि आग बुझाने का दमकल लोगों को बेकार में परेशान कर रहा है। अत. लोगों के मन का अज्ञान व्यवस्थित रूप से दूर किया जाना चाहिए। तथा मुट्ठी भर लोगों की वजह से समूचे समाज का जीवन खतरे में पड़ जाय, यह ठीक नहीं, ऐसा सोचकर जनता को भी हड़ताल करने वालों की चुनौती को स्वीकार करना चाहिए। जनता का इस चुनौती को स्वीकार करना एवं सरकार से सहयोग करना

अच्छा ही होता है। व्यक्ति की भाँति समाज को भी अपने अधिकारों की रक्षा करने का पूरा हक हासिल है। राह चलता चोर यदि पिस्तौल तान कर खड़ा हो जाय, तो देने पर धन और न देने पर धन और प्राण दोनों ही गँवा बैठने की हालत जैसे व्यक्ति के जीवन में असह्य एवं अनर्थकारी होती है, वैसे ही सगठित मजदूर या अन्य वर्ग के लोग समाज को अपने संगठन के बल पर परेशान करें, डरावें और न्याय-अन्याय का विचार न करके समाज को मंजूर करने के लिए विवश करें, यह अनर्थकारी है तथा यदि ऐसा होने लगे तो समाज में अराजकता एवं अव्यवस्था मचे बिना नही रह सकती। और यदि समाज संगठित होकर हड़ताल का मुकाबला करे तो यह कहना भी ठीक नहीं कि इससे संगठन की स्वतन्त्रता पर हमला होता है। जिस प्रकार स्व-तंत्रता का दुरुपयोग होता है, यह कहकर उससे इन्कार करना अनुचित है, उसी प्रकार उसके दुरुपयोग होने के बाद समाज या राज्यसत्ता का चुप बैठे रहना भी अनुचित है। स्वतन्त्रता का दुरुपयोग व्यक्ति तथा समूह किया करते हैं। पर उसका दुरुपयोग देश की विधान सभा या पार्लियामेंट भी कर सकती है और बहुत दफा संकट से सभ्र-मित होने के कारण स्वतंत्रता के मूलभूत तत्वों को तिलांजलि देने वाले कानून भी बना दिये जाते हैं। तथापि ऐसे भी उपायों का संविधान में निर्देश होता है, जिनसे विधानसभा तथा पार्लियामेंट द्वारा किये गये कानूनों को बदला जा सके। और उस मार्ग से ही त्रुटिपूर्ण कानूनों को ठीक किया जा सकता है तथा जो कुछ कमी-बेशी रह गई हो उसे पूरा किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि हाथ में सत्ता होने के कारण सरकार या पार्लियामेंट जो जी में आए करे, यह ठीक नहीं। इसी प्रकार संगठन के बल पर समाज के जीवन के मूल पर कुठाराघात करना, समाज के जीवन को अशान्त कर डालना तथा अराजकता को न्यौता देना भी ठीक नहीं है। सरकार तथा संगठन दोनों की स्वतंत्रता पर एक-दूसरे को हमला नहीं करना चाहिए। और यदि वैसा हो जाय, तो उसके लिए आवश्यक उपाय किये जाने चाहिएं। तथा ऐसे जो उपाय किये जाएँ, उन्हें समाज को सहन भी करना चाहिए।

अब तक हमने जिन हड़तालों का विचार किया है, वे समाज [redacted] निजी क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली हड़तालें हैं। आधुनिक राज्य में सरकारी कर्मचारियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है और जैसे जैसे आधुनिक राज्यों का स्वरूप लोककल्याणात्मक (वेलफेयर स्टेट) होता जा रहा है, वैसे-वैसे राज्य का कार्यक्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। नागरिकों से सम्बन्धित उत्तरदायित्व अब अधिकाधिक मात्रा में सरकार के सिर पर आने लग गया है। जन्म के लिए मातृ-गृह, शिक्षा के लिए पाठशालाएँ, रोजगार दिलाने के लिये तंत्रशिक्षण देने वाले केन्द्र, खुद सरकारी काम-काज में हासिल होने वाला रोजगार, बीमारी या बेकारी की हालत में सरकार की मदद, बुढ़ापे में सेवानिवृत्त होने के बाद की पेन्शन तथा अन्य प्रकार की सहायता, किंबहुना, मृत्यु के बाद दहन अथवा दफन की व्यवस्था आदि सारी बातें अब सरकार के कार्यक्षेत्र में आती हैं। व्यक्ति का जन्म एवं मृत्यु यद्यपि वैयक्तिक मामले हैं तथापि उनके सम्बन्ध में जो उत्तरदायित्व है, वह सरकार तथा समाज का है, यह सिद्धान्त अब स्वीकार किया जा चुका है। माता-पिता का उत्तर-

दायित्व एवं स्थान अब सरकार लेने लग गई है अतः खुद सरकारी नौकरी में काम करने वाले नागरिकों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। वाहन विभाग, डाक-तार विभाग, शिक्षा-विभाग इत्यादि अनेक क्षेत्रों में होने वाला कार्य सरकार के नियंत्रण में आने लगा है और इस कारण सरकारी नौकरों की संख्या बढ़ रही है। जहाँ साम्यवादी व्यवस्था है, वहाँ निजी क्षेत्र का अस्तित्व नगण्य नहीं के बराबर है। व्यापार, उद्योग, उत्पादन, विभाजन आदि सभी क्षेत्रों में, साम्यवादी राज्य-व्यवस्था में काम करने वाले सब-के-सब सरकारी नौकर ही होते हैं। वहाँ हड़ताल का सवाल ही नहीं उठता। सरकार एवं कर्मकर या प्रजा के बीच पूरा हितैक्य होता है। वर्ग-कलह वहाँ नहीं होता। अतः वहाँ हड़तालों की गुंजायश रह नहीं जाती। और यदि कहीं उसकी आहट पहुँच जाये, तो मुँह से शब्द निकलने से पहले ही मुँह का इन्तजाम कर दिया जाता है। हड़ताल के जित्ते भी प्रकार हैं, वे तानाशाही रहित राज्य में ही दृष्टिगत होते हैं। प्रजातन्त्री राज्य में सरकार तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ सामान्यतया काम किया करती हैं। और यदि प्रजातन्त्र को सफल होना है तो चर्चा तथा विचार स्वतन्त्रता के लिए अवश्य अवसर होना चाहिए। तानाशाही में चर्चा तथा विचार स्वतन्त्रता मन की सीमा को लाँघ नहीं सकती तथा जो कुछ विचार-स्वतन्त्रता के नाम पर होता है, वह मिट्टी के बनाये फल की भाँति होता है। उसके अस्तित्व की प्रतीति तो होती है, पर अनुभव नहीं होता। तात्पर्य यह कि सरकारी नौकरों की हड़ताल का अर्थ यह है कि समाज की सारी रचना अभी साम्यवादी स्वरूप की नहीं हुई है। और इसी कारण विचार स्वतंत्रता की गुंजाइश है। अपने दुखों को वाणी प्रदान की जा सकती है। इस परिस्थिति में सरकारी नौकरों के सम्बन्ध में नियमन एवं नियमण करने की दृष्टि से अधिक अधिकार होने चाहिए, यह हर कोई कबूल करेगा। और अधिकार के द्वारा सरकारी नौकरों की अनेक स्वतन्त्रताओं पर एक विशेष प्रकार के अंकुश रख दिये जाएँ, तो उन्हें भी कबूल करना चाहिए। सेना के किसी विभाग में या पुलिस विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों पर अधिक अंकुश रहना चाहिए, इस बात की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि इन सरकारी कर्मचारियों को सर्वसामान्य नागरिकों की भाँति स्वतंत्रता दे दी जाय और उनके अनुसार समितियाँ तथा संगठन बनाने की छूट दे दी जाय एवं उनको हड़ताल आदि करने की स्वतन्त्रता दे दी जाये तो उसका अर्थ होगा कि राज्य की निर्णायक शक्ति को ही उससे छीन लिया गया है। पुलिस का हाथ उठते ही मोटर रुक जाती है, इसके मानी ये होते हैं कि पुलिस की आज्ञा राज्य की आज्ञा है तथा उसे न मानने पर राज्य की सारी ताकत उसे न मानने वाले के खिलाफ उठ खड़ी होगी। अतः पुलिस को दी गई आज्ञा का जिस प्रकार पुलिस को बगैर किसी ननुनच के पालन करना चाहिए, उसी प्रकार उसकी आज्ञा का भी सामान्य नागरिक को बगैर किसी ननुनच के पालन करना चाहिए। पुलिस यदि आज्ञाधारक न हो, तो उसकी अपनी आज्ञाओं का पालन भी ठीक तरह से नहीं होगा। समूचे राज्य-प्रबन्ध का अन्तिम आधार है दण्ड विधान। माना कि, प्रजा की सम्मति एवं अनुमति का होना जरूरी है, पर कुछ लोग ऐसे उद्दण्ड एवं स्वार्थांध होते हैं कि वे किसी का कुछ

नहीं मानते। विवेक से उनका घोर शत्रुत्व होता है। गुंडागर्दी उनका सहज धर्म होता है। ऐसे व्यक्तियों को सीधी राह पर लाने का एकमात्र साधन है राज्य की निर्णायक-शक्ति, जिसका कि आविष्कार होता है पुलिस तथा सेना आदि के द्वारा। सरकारी कर्मचारी तथा सरकारी मशीनरी राज्य के साधन हैं अतः उन्हें पूरी तरह से निर्विकल्प होना चाहिए। तलवार द्वारा हत्या करना है अतः उस तलवार को स्वयं-प्रज्ञा नहीं होनी चाहिए। शक्ति अथवा सत्ता को तटस्थ रहना चाहिए। उसका उपयोग उपयोगकर्ता की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। सैनिक तथा पुलिस के लोग मनुष्य ही होते हैं, इसमे सन्देह नहीं। पर यदि उन्हें स्वयं-प्रज्ञा का अधिकार दे दिया जाय तो राज्य का वह हथियार निरुपयोगी हो जायेगा। सरकारी कर्मचारी मुलकी तथा लश्करी सभी सरकारी नौकर हैं। माना कि नागरिकता के अधिकार उन्हें भी हासिल हैं, तथापि उनके कर्त्तव्यकर्म अन्य नागरिकों से कुछ भिन्न हैं। वे हर काम अपनी मर्जी के मुताबिक नहीं कर सकते। यदि उन्हें संगठन स्वतंत्रता के नाम पर संगठन बनाने तथा हड़ताल करने की छूट दे दी जाय, तो सरकार का काम नहीं हो सकेगा, किंबहुना, सरकार नाम की कोई चीज ही बच नहीं रहेगी। सरकार का कार्य उर्दू कवि के शब्दों में कहें तो कहना होगा कि

'न कसीदे से चलती है,
न दोहे से चलती है,
कारे सल्तनत लोहे से चलती है।'

भावगीतों के गाने या प्रेम का राग अलापने से राज्यकार्य नहीं हुआ करता। राज्य का कार्य तलवार के जोर पर होता है। राज्य का अर्थ है संगठित-शक्ति। सरकारी नौकरों को नियंत्रण में रखना उसका आद्य कर्त्तव्य होता है। यह ठीक है कि नियम बनाते वक्त सम्बन्धित कर्मचारियों से भी विचार-विनिमय कर लेना अच्छा होता है; पर इन नियमों को अन्तिम रूप तो सरकार ही को देना होगा। इन मामलों में अदालत को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार होना चाहिए, यह भी ठीक है। जो लोग मुलकी नौकर हैं, उन्हें संगठन बनाने का अधिकार देना ठीक है। पर वह अधिकार केवल अपनी शिकायतों को पेश करने तक ही सीमित रहना चाहिए। मजदूर संगठनों की भाँति किसी भी बाहर के आदमी को सरकारी नौकरों के संगठन में स्थान नहीं होना चाहिए तथा राजनीति में पेंच भिड़ाने वाले केन्द्रीय मजदूर संघ में उन्हें नहीं जाना चाहिए। यह भी अच्छा रहेगा कि वे अपनी संस्थाओं को उनके साथ रजिस्टर न कराएँ। सरकार को चाहिए कि वह सरकारी कर्मचारियों के वेतन, नियुक्ति, निवृत्ति, बढ़ती, बहाली आदि मामलों में समजस वृत्ति से तथा अत्यधिक उदारता से व्यवहार करे। हड़ताल की स्वतंत्रता न भी दी जाये, तो भी इस बात का खयाल जरूर रखा जाना चाहिए कि वे लोग संतुष्ट रहें। सरकार तथा सरकारी कर्मचारियों के बीच खड़े होने वाले झगड़ों को विचार-विनिमय तथा शान्तिपूर्वक उपायों से निपटाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

उल्लिखित विवेचन में हमने सरकारी नौकरों को दो विभागों में बाँटा है। एक मुलकी (सिविल एम्पलाईज) तथा दूसरे संरक्षक कर्मचारीगण। इस दूसरे वर्ग

में स्थल-सैनिक, जल-सैनिक, वायु-सैनिक तथा पुलिस का समावेश होता है। जो मुलकी सरकारी कर्मचारी हैं, उन्हें सङ्गठन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पर उन्हें हड़ताल की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये, यह प्रस्तुत लेखक का मत है। सरकार तथा उनके बीच उठ खड़े होने वाले झगड़ों का स्वरूप केवल उनके अपने सवालों से ही सम्बंध रखने वाला होना चाहिये। राजनैतिक कारणों को लेकर यदि वे हड़ताल करें या अन्य किसी भी हड़ताल के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली हड़ताल करें, तो सरकार को तुरन्त उसके खिलाफ कार्रवाई करना चाहिये। नरमाई से काम लेना एक तरह से समाज के प्रति विद्यमान अपने कर्तव्यों से मुँह मोड़ना होगा। मुलकी कर्मचारियों की सन्तुष्टि का खयाल जरूर रखा जाना चाहिए, यह माना, तथापि इसके मानी ये नहीं कि अपने वेतन आदि के बारे में जो कुछ वे कहें, वह मञ्जूर कर लिया जाना चाहिए। समाज में उस-उस किस्म का काम करने वाले जो लोग हैं, उनके रिश्तों के अनुसार सरकारी नौकरी में वेतन की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि निजी नौकरी में टाइपिस्ट को १०० रु० मिलते हों, तो सरकारी नौकरी में टाइपिस्ट को उससे ज्यादा मिलना तो ठीक है पर उसका अर्थ यह नहीं कि वह दुगुनी हो। सरकारी नौकरी में स्थिरता, अधिक छुट्टियाँ तथा अन्य सुविधाएँ अधिक होती हैं, अत: इन बातों को ध्यान में रखते हुए वेतन का दरजा निश्चित किया जाना चाहिये। सरकारी नौकरी करने वालों का एक ऐसा वर्ग नहीं होना चाहिए, जिसे औरों से बहुत अधिक सुविधाएँ प्राप्य होती हैं। भारत में राजा महाराजा अब नामशेष हो गये हैं। जागीरदार और इनामदार नष्टप्राय हो गये हैं। पर सरकारी नौकरों का एक अधिक सुविधाप्राप्त वर्ग (प्रिविलेज्ड क्लास) बनता जा रहा है। यह प्रजातंत्र तथा सामाजिक समता की दृष्टि से उचित नहीं है। सरकारी नौकरी की आमदनी तथा गैर-सरकारी नौकरी की आमदनी में सापेक्षता होनी चाहिए। सामान्य नागरिक को प्राप्त होने वाली सारी स्वतंत्रताओं की सरकारी नौकरों को उम्मीद नहीं करनी चाहिये, यह विचारधारा सरकार के मुलकी नौकरों के मामले में अस्वीकृत नहीं की जानी चाहिये। पुलिस विभाग में काम करने वाले लोगों पर नियंत्रण कुछ अधिक ही होने चाहिये। पुलिस वालों को हड़ताल का अधिकार नहीं होना चाहिये। सङ्गठित होकर अपनी फरियाद सरकार तक पहुँचाने का अधिकार भी सीमित मात्रा में होना चाहिये। सरकार को एक निर्धारित समय में इन पुलिसवालों की फरियादें सुननी चाहिये। उनके यदि कुछ सङ्गठन हों, तो उनमें पुलिस विभाग से भिन्न अन्य किसी व्यक्ति का प्रवेश नहीं होना चाहिये। उनकी संस्थाओं को केवल उन्हीं मामलों पर फरियाद करनी चाहिये, जिनका सम्बंध उनकी नौकरी के मामलों से हो। उचित माँगें ठुकरा दी जाएँ तो क्या करें? हड़ताल कर नहीं सकते। शिकायतें सुनी नहीं जातीं। ऐसी हालत में वे लोग क्या करें, यह प्रश्न पूछा जाता है। इसका उत्तर यही है कि बार-बार प्रार्थना करते चले जाइये। कोई भी प्रजातंत्री सरकार उनकी उचित माँगों की अवहेलना बहुत देर तक नहीं कर सकती। किसी भी परिस्थिति में पुलिस के लोगों का हड़ताल करना या किसी प्रकार की कोई सीधी कार्रवाई करना क्षम्य नहीं होना चाहिये और यदि ऐसा होता हो, तो सरकार को उसकी उपेक्षा

नहीं करनी चाहिये। उपेक्षा करने का अर्थ होगा अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ना। रक्षा सेवाओं में अर्थात् स्थल-सेना, जल-सेना तथा वायु-सेना में काम करने वाले कर्मचारियों को सङ्गठन बनाने का भी अधिकार नहीं होना चाहिये। क्रीड़ा, मनोरंजन आदि वालों के सम्बन्ध में कुछ सहूलियतें देने में कोई आपत्ति नहीं। रक्षा-सेवाओं में जो लोग ऐसे हों, जिनका लड़ाई से सम्बन्ध न आता हो, उन्हें सरकार के मुलकी कर्मचारियों के समान अधिकार देने में कोई आपत्ति नहीं। तो भी इस मामले में भी सावधानी जरूर बरती जानी चाहिये। आधुनिक युद्धों में जितना महत्त्व उन लोगों का है, जो प्रत्यक्ष रणांगण में जाकर लड़ते हैं, उतना ही महत्त्व उन लोगों का भी होता है, जो गोला-बारूद तैयार करने वाले सरकारी कारखानों में काम करते हैं। किंबहुना, सेनाओं को गोला-बारूद या अन्य वस्तुएँ मुहय्या करने वाले जितने भी विभाग हैं, उन सबका उतना ही महत्त्व है, जितना कि रणांगण में लड़ने वाले सैनिकों का होता है। अतः यहाँ भी जो सङ्गठन की स्वतंत्रता दी जाये, वह सीमित होनी चाहिए तथा उसके बारे में सरकार को सावधानी से काम लेना चाहिये। सरकारी नौकरी चाहे मुलकी हो, चाहे लश्करी हो, बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण है। और इसीलिए इस क्षेत्र में सङ्गठन तथा भाषण की उतनी स्वतन्त्रता नहीं होती, जितनी कि सामान्य जनता को हुआ करती है। सरकार के मुलकी कर्मचारियों को अधिक स्वतंत्रता होनी चाहिए, यह सिद्धांततः ठीक है। तथापि मुलकी नौकरी में भी किन्हीं विभागों में इस मामले में अधिक नियंत्रण की तथा अधिक सावधानी की जरूरत होती है। डाक-तार, रेलवे, हवाई यात्रा आदि ऐसी सेवायें हैं, जिनका सम्बन्ध देश की शांति एवं रक्षा से होता है तथा इन सेवाओं एवं इसी प्रकार की अन्य सेवाओं में काम करने वाले लोगों को यदि सामान्य नागरिकों जितनी स्वतंत्रता दी जाए, तो उसका दुरुपयोग हो सकता है। १९४६ में डाक-तार विभाग में हड़ताल हुई थी। उन दिनों अभी भारत स्वतंत्र नहीं हुआ था। इस कारण राजनैतिक नेताओं ने उसका समर्थन किया था। १९५७ में उसी प्रकार की हड़ताल की नौबत आई थी। पर उसके बारे में जो परिस्थिति सामने आई, उससे भी प्रतीत हुआ कि उन्हें दी गई स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही हुआ है। १९६० में स्टेट बैंक के कर्मचारियों ने जो हड़ताल की थी वह अकारण थी और यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था कि स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही किया गया है और आज भी केन्द्रीय सरकार के मुलकी कर्मचारियों ने हड़ताल करने की ठानी है और यह सङ्गठन-स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। मुट्ठी भर सरकारी कर्मचारियों के कारण करोड़ों नागरिकों के जीवन में उपद्रव मच जाए, राष्ट्र मुसीबतों में पड़ जाए तथा अराजकता की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाए, यह राष्ट्रविरोधी वस्तु ही कही जाएगी। जो वेतन उन्हें आज मिल रहा है, वह निजी क्षेत्रों में मिलने वाले वेतनों की तुलना में अधिक है। हड़ताल करने वालों का यह कृत्य अन्याय्य एवं अव्यावहारिक बातों को छाती पर पिस्तौल तानकर मनवाने जैसा है। सरकारी सेवा के मुलकी कर्मचारी स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेंगे, ऐसा बार-बार कहा जाता है। पर कम-से-कम भारत में जो अनुभव आ रहा है, वह एकदम भिन्न है। सरकारी काम जन-सेवा की दृष्टि से किया जाता है, किसी व्यक्ति के नफे के लिए नहीं होता। अतः जिस प्रकार निजी क्षेत्रों में कर्मचारियों से डट कर

मे स्थल-सैनिक, जल-सैनिक, वायु-सैनिक तथा पुलिस का समावेश होता है। जो मुलकी सरकारी कर्मचारी हैं, उन्हे सङ्गठन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पर उन्हे हड़ताल की स्वतंत्रता नही होनी चाहिये, यह प्रस्तुत लेखक का मत है। सरकार तथा उनके बीच उठ खड़े होने वाले बखेड़ों का स्वरूप केवल उनके अपने सवालों से ही सम्बंध रखने वाला होना चाहिये। राजनैतिक कारणों को लेकर यदि वे हड़ताल करें या अन्य किसी भी हड़ताल के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली हड़ताल करें, तो सरकार को तुरन्त उसके खिलाफ कार्रवाई करना चाहिये। नरमाई से काम लेना एक तरह से समाज के प्रति विद्यमान अपने कर्तव्यों से मुँह मोड़ना होगा। मुलकी कर्मचारियों की संतुष्टि का खयाल जरूर रखा जाना चाहिए, यह माना, तथापि इसके मानी ये नही कि अपने वेतन आदि के बारे मे जो कुछ वे कहे, वह मजूर कर लिया जाना चाहिए। समाज मे उस-उस किस्म का काम करने वाले जो लोग हैं, उनके किस्मों के अनुसार सरकारी नौकरी में वेतन की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि निजी नौकरी मे टाइपिस्ट को १०० रु० मिलते हों, तो सरकारी नौकरी मे टाइपिस्ट को उससे ज्यादा मिलना तो ठीक है पर उसका अर्थ यह नही कि वह दुगुनी हो। सरकारी नौकरी में स्थिरता, अधिक छुट्टियाँ तथा अन्य सुविधाएँ अधिक होती हैं, अतः इन बातो को ध्यान मे रखते हुए वेतन का दरजा निश्चित किया जाना चाहिये। सरकारी नौकरी करने वालो का एक ऐसा वर्ग नही होना चाहिए, जिसे औरों से बहुत अधिक सुविधाएँ प्राप्य होती हैं। भारत मे राजा महाराजा अब नामशेष हो गये हैं। जागीरदार और इनामदार नष्टप्राय हो गये है। पर सरकारी नौकरों का एक अधिक सुविधाप्राप्त वर्ग (प्रिविलेज्ड क्लास) बनता जा रहा है। यह प्रजातंत्र तथा सामाजिक समता की दृष्टि से उचित नहीं है। सरकारी नौकरी की आमदनी तथा गैर-सरकारी नौकरी की आमदनी मे सापेक्षता होनी चाहिए। सामान्य नागरिक को प्राप्त होने वाली सारी स्वतंत्रताओं की सरकारी नौकरो को उम्मीद नही करनी चाहिये, यह विचारधारा सरकार के मुलकी नौकरों के मामले में अस्वीकृत नही की जानी चाहिये। पुलिस विभाग मे काम करने वाले लोगों पर नियंत्रण कुछ अधिक ही होने चाहिये। पुलिस वालों को हड़ताल का अधिकार नही होना चाहिये। सङ्गठित होकर अपनी फरियाद सरकार तक पहुँचाने का अधिकार भी सीमित मात्रा मे होना चाहिये। सरकार को एक निर्धारित समय में इन पुलिसवालो की फरियादें सुननी चाहिये। उनके यदि कुछ सङ्गठन हों, तो उनमे पुलिस विभाग से भिन्न अन्य किसी व्यक्ति का प्रवेश नही होना चाहिये। उनकी संस्थाओं को केवल उन्ही मामलों पर फरियाद करनी चाहिये, जिनका सम्बंध उनकी नौकरी के मामलों से हो। उचित माँगें ठुकरा दी जाएँ तो क्या करें? हड़ताल कर नही सकते। शिकायतें सुनी नही जाती। ऐसी हालत मे वे लोग क्या करें, यह प्रश्न पूछा जाता है। इसका उत्तर यही है कि बार-बार प्रार्थना करते चले जाइये। कोई भी प्रजातन्त्री सरकार उनकी उचित माँगो की अवहेलना बहुत देर तक नही कर सकती। किसी भी परिस्थिति मे पुलिस के लोगों का हड़ताल करना या किसी प्रकार की कोई सीधी कार्रवाई करना क्षम्य नहीं होना चाहिये और यदि ऐसा होता हो, तो सरकार को उसकी उपेक्षा

नही करनी चाहिये। उपेक्षा करने का अर्थ होगा अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ना। रक्षा सेवाओं मे अर्थात् स्थल-सेना, जल-सेना तथा वायु-सेना में काम करने वाले कर्मचारियों को सङ्गठन बनाने का भी अधिकार नही होना चाहिये। क्रीड़ा, मनोरंजन आदि बातों के सम्बन्ध में कुछ सहूलियतें देने मे कोई आपत्ति नहीं। रक्षा-सेवाओं मे जो लोग ऐसे हों, जिनका लड़ाई से सम्बन्ध न आता हो, उन्हें सरकार के मुलकी कर्मचारियों के समान अधिकार देने मे कोई आपत्ति नही। तो भी इस मामले में भी सावधानी जरूर बरती जानी चाहिये। आधुनिक युद्धों में जितना महत्त्व उन लोगों का है, जो प्रत्यक्ष रणांगण में जाकर लड़ते हैं, उतना ही महत्त्व उन लोगों का भी होता है, जो गोला-बारूद तैयार करने वाले सरकारी कारखानों में काम करते हैं। किंबहुना, सेनाओं को गोला-बारूद या अन्य वस्तुएं मुहय्या करने वाले जितने भी विभाग हैं, उन सबका उतना ही महत्त्व है, जितना कि रणांगण में लड़ने वाले सैनिकों का होता है। अतः यहाँ भी जो सङ्गठन की स्वतंत्रता दी जाये, वह सीमित होनी चाहिए तथा उसके बारे मे सरकार को सावधानी से काम लेना चाहिये। सरकारी नौकरी चाहे मुलकी हो, चाहे लश्करी हो, बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण है। और इसीलिए इस क्षेत्र मे सङ्गठन तथा भाषण की उत्तनी स्वतन्त्रता नही होती, जितनी कि सामान्य जनता को हुआ करती है। सरकार के मुलकी कर्मचारियों को अधिक स्वतंत्रता होनी चाहिए, यह सिद्धांततः ठीक है। तथापि मुलकी नौकरी में भी किन्ही विभागों मे इस मामले में अधिक नियंत्रण की तथा अधिक सावधानी की जरूरत होती है। डाक-तार, रेलवे, हवाई यात्रा आदि ऐसी सेवायें हैं, जिनका सम्बन्ध देश की शांति एवं रक्षा से होता है तथा इन सेवाओं एवं इसी प्रकार की अन्य सेवाओ मे काम करने वाले लोगों को यदि सामान्य नागरिकों जितनी स्वतंत्रता दी जाए, तो उसका दुरुपयोग हो सकता है। १९४६ में डाक-तार विभाग में हड़ताल हुई थी। उन दिनो अभी भारत स्वतंत्र नही हुआ था। इस कारण राजनैतिक नेताओं ने उसका समर्थन किया था। १९५७ में उसी प्रकार की हड़ताल की नौबत आई थी। पर उसके बारे में जो परिस्थिति सामने आई, उससे भी प्रतीत हुआ कि उन्हें दी गई स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही हुआ है। १९६० में स्टेट बैंक के कर्मचारियों ने जो हड़ताल की थी वह अकारण थी और यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था कि स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही किया गया है और आज भी केन्द्रीय सरकार के मुलकी कर्मचारियों ने हड़ताल करने की ठानी है और यह सङ्गठन-स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। मुट्ठी भर सरकारी कर्मचारियो के कारण करोड़ों नागरिकों के जीवन मे उपद्रव मच जाए, राष्ट्र मुसीबतों में पड़ जाए तथा अराजकता की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाए, यह राष्ट्रविरोधी वस्तु ही कही जाएगी। जो वेतन उन्हें आज मिल रहा है, वह निजी क्षेत्रों में मिलने वाले वेतनों की तुलना में अधिक है। हड़ताल करने वालो का यह कृत्य अन्याय्य एवं अव्यावहारिक बातो को छाती पर पिस्तौल तानकर मनवाने जैसा है। सरकारी सेवा के मुलकी कर्मचारी स्वतंत्रता का दुरुपयोग नही करेंगे, ऐसा बार-बार कहा जाता है। पर कम-से-कम भारत मे जो अनुभव आ रहा है, वह एकदम भिन्न है। सरकारी काम जन-सेवा की दृष्टि से किया जाता है, किसी व्यक्ति के नफे के लिए नही होता। अतः जिस प्रकार निजी क्षेत्रो में कर्मचारियों के

काम लिया जाता है तथा उनके श्रम का दुरुपयोग किया जाता है, वैसा सरकारी नौकरी में नहीं होता। इसके अतिरिक्त आजकल के आधुनिक राज्यो में यदि सरकार एव सरकारी नोकरो के बीच झगडा उपस्थित हो जाये तो उसका फैसला करने के लिए मशीनरी होती है। केवल कर्मचारी ही स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हो, और सरकार कभी न करती हो, यह दावा नही किया जा सकता। सरकार गलती पर हो सकती है। पर उसे सुधारने का मार्ग भिन्न है। हडताल या काम मे टालमटोल करना वह मार्ग नहीं है।

सरकारी नौकरी में प्रवेश करने के कारण किसी नागरिक के नागरिकता के अधिकार नष्ट नही हो जाते। सामान्यतया निजी क्षेत्रों मे काम करने वाले कर्मचारियो को जो अधिकार प्राप्त है, वही अधिकार सरकारी कर्मचारियो को भी होने चाहियें, यह कहना अनुचित नही है। तर्कसंगत ही है। तथापि सरकारी नौकरी कोई साधारण नौकरी नही है। उसमे सम्मान तथा पैसे अवश्य मिलते हैं, तो भी उसमें सेवा एव त्याग की भावना काम करती है। अतः सरकारी नौकरी मे प्रविष्ट होते समय स्वतंत्रता का कुछ त्याग करना पड़ता है। सरकारी नौकरी में रहते हुए कोई व्यक्ति चुनाव में खडा नही हो सकता, यह व्यवस्था बहुतेरे राज्यो के सविधान मे है। किन्ही राज्यों मे, चुनाव में खड़े होने की अनुमति है तथा असफल हो जाने पर उसे फिर नौकरी मे ले लिया जाता है। स्वभावतः बहुतेरे सरकारी कर्मचारी चाहते हैं कि उन्हे चुनाव में खडा होने दिया जाये। पर इस बात की अनुमति देना अभीष्ट नही है। इस अनुमति के न देने से सरसरी तौर पर, स्वतंत्रता पर आक्रमण किया जा रहा है, ऐसा प्रतीत होता है तथापि सरकारी कर्मचारियो को यदि राजनीति मे प्रत्यक्ष भाग लेने तथा चुनाव मे खड़ा होने की छूट दे दी जाये, तो अनेक बखेड़े पैदा हो जायेंगे। मंत्री निर्वाचित हो, उसका सचिव निर्वाचित हो तथा ये दोनों सभा-गृह मे एक-दूसरे के विरुद्ध दृष्टिकोण अपना लें तो उसका क्या फल होगा, इस बात पर शांति से विचार किया जाना चाहिये। एक शासनाधिकारी होने के नाते, उस पर अनुशासन के बंधन रहेंगे। यदि वह उनका पालन करेगा तो वह जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा और यदि पालन न करेगा, तो वह निष्ठावंत शासक नही रह पायेगा। गुप्तता की शपथ का यदि वह पालन करेगा, तो वह सब नही बोल पायेगा। यदि पालन नहीं करेगा, तो सरकार का शासन सुरक्षा एवं सुचारुतापूर्वक नही चल सकेगा। निर्वाचन मे पराजित होने पर वह अपनी जगह वापिस आयेगा तथा जो बातें विधान मण्डलो द्वारा की जानी थी उन्हे कार्य-पालन द्वारा करने की ओर वह अग्रसर होगा। तात्पर्य यह कि सरकारी नौकरी मे प्रवेश करने के बाद उसे अपनी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं का त्याग कर देना चाहिये। जिस जगह शासन सम्बन्धी अधिकाधिक कार्यक्षमता की आवश्यकता है, वहां काम करने वाले कर्मचारी को राजनीति मे भाग नही लेना चाहिये। उन्हे राजनीति मे पूरी तरह अलग रहना चाहिये। राजनैतिक जीवन तथा तत्सम्बन्धी प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं रखनी चाहिये और यदि किसी शासक अथवा सरकारी कर्मचारी को राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करना हो या कीर्ति हासिल करना हो तो उसे सरकारी नौकरी छोड़ देनी चाहिये और यदि

चुनाव में वह हार जाये तो उसे फिर सरकारी नौकरी में नहीं लिया जाना चाहिये। अतः सरकारी कर्मचारी को त्याग की भावना से काम लेना चाहिये तथा सरकारी नौकरी की प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी सेवा भाव के खातिर राजनैतिक महत्वाकांक्षा को तिलांजलि देनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो शासक वर्ग पर तथा उसकी निष्पक्षता पर लोगों का विश्वास नहीं रह जायेगा। राजनीति में पड़ने वाले लोग समाज की दृष्टि में अधिक विश्वासार्ह नहीं रह जाते। शासकों पर जनता का थोड़ा-बहुत विश्वास रहता है। पर यदि वे लोग भी राजनीति में भाग लेने लगें तो यह विश्वास एकदम उठ जायेगा। सरकारी नौकरों को राजनीति में भाग लेने देना स्वतंत्रता की कल्पना के विरुद्ध होते हुए भी देश की राजनैतिक स्थिरता की दृष्टि से तथा लोगों को उचित न्याय प्राप्त कराने की दृष्टि से आवश्यक है। मुलकी नौकरों के बारे में यह अंकुश होना चाहिये। पर यदि रक्षा सेवाओं में काम करने वाले मुलकी कर्मचारियों की स्वतन्त्रता पर यह अंकुश न रखा जाये तो उनकी निष्ठा नानाविध पक्षों के प्रति हो जायेगी, राज्य के प्रति नहीं। जो लोग शासन-कार्य में लगे हैं, उन्हें तटस्थ रहना चाहिये। यदि यह तटस्थता न रहे और सरकारी कर्मचारी राजनीति में भाग लेने लगें तो राज्य में स्थिरता एवं सुव्यवस्था नहीं रह जायेगी। इससे सुराज्य नहीं रहने पायेगा।

सरकारी कर्मचारियों की पूर्ण तटस्थता का अर्थ यह है कि वे स्वयं चुनाव में न पड़े हों तथा राजनीति में किसी प्रकार का कोई सक्रिय भाग न लें। यदि शासन में काम करने वाले लोग पक्षनिष्ठ हो जायें तो राज्यकर्ताओं के लिये उन पर विश्वास करके काम करना सम्भव नहीं होगा तथा इसका फल यह होगा कि जो पक्ष अधिकारारूढ़ होगा वह पक्ष अपने पक्ष के लोगों को अधिकार पद पर नियुक्त करेगा। ऐसा होने से केवल मंत्रिमंडल ही नहीं बदला करेगा, चुनावों के परिणामों की घोषणा के अनुसार सरकारी कर्मचारियों में भी तबदीली हुआ करेगी। अतएव सरकारी कर्मचारियों के राजनीति में भाग लेने पर रोक लगाना ; कार्यक्षम, प्रामाणिक काम-काज की दृष्टि से अभीष्ट है तथा इसा अंकुश इन कर्मचारियों की स्वतंत्रता पर रखना देश की स्वतंत्रता की दृष्टि से अभीष्ट है। सरकारी नौकरी में भर्ती होते समय इस प्रकार का प्रतिबंध एक आवश्यक शर्त होना चाहिये। विशेषतः पुलिस तथा सब प्रकार की रक्षा-सेवाओं में भर्ती होने वाले सिपाहियों एवं सैनिकों के लिये ये प्रतिबंध और भी अधिक कड़े होने चाहियें। मुलकी नौकरी में भी बंधन होने चाहिये। पर वहाँ तनिक ढिलाई से काम लिया जा सकता है। किन्तु सैनिकों-सिपाहियों के बारे में की गई ढिलाई अनर्थावह हो सकती है। सैनिकों एवं सिपाहियों में दलगत राजनीति का प्रवेश उन की तटस्थता एवं राज्यविषयक निष्ठा को कलुषित कर देता है। सैनिकों तथा सिपाहियों के राजनैतिक दृष्टि से तटस्थ न रहने से राज्य का टिकना असम्भव हो जाता है। सैनिकों की चित्त-वृत्ति उचाट हो जाये या सेना में भी राजनीति के दाँव-पेंच शुरू हो जायें तो सैनिक भी राजनीति चलाने लग जाते हैं तथा ऐसा होने पर प्रजातंत्र का लोप हो जाता है। लश्करशाही के बल पर तानाशाही सिर उठाती है। बहुत बड़े पैमाने पर राज्य में अनास्था उत्पन्न हो जाती है। सैनिकों एवं सिपाहियों के तटस्थ न रहने की अवस्था में हर दल उनको अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता

है। इतना ही नहीं, पूँजीपति लोग भी उन्हे अपने जाल मे फँसाने की कोशिश करते हैं। सेना मे राजनीति के प्रवेश से क्या होता है, इस बात को देखने के लिये हम पाकिस्तान के उदाहरण को अपनी आँखो के सामने रख सकते हैं। अभी हाल मे जो बातें तुर्की मे हुई है, उनसे भी यही जाहिर होता है। कर्नल नासिर का उदय भी इसी बात की साक्षी उपस्थित करता है। सेना के राजनीति मे पक्षपात करने से राजनैतिक जीवन तथा विशेष रूप से प्रजातन्त्री जीवन असम्भव हो जाता है। जो लोग कहते हैं कि सेना तथा पुलिस को राजनीति मे भाग लेने देना चाहिये, वे इतिहास के अनुभवों को जानते हुए भी चुप नही बैठते। एक बार फौज ने राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया तो समझ लीजिये कि राज्यकर्त्ताओ को फौज के इशारो पर नाचना पड़ेगा और उस अवस्था मे फौजी शासन को बहुत देर तक टाला नहीं जा सकेगा। और फौजी शासन एक बार जोर पकड़ने लगा तो समझ लीजियेगा कि फिर राजनैतिक स्वतन्त्रता की खैर नही।

सैनिको एवं सिपाहियो का राजनीति मे तटस्थ रहना एवं उसमे उनका भाग न लेना समाज एव स्वतन्त्रता की दृष्टि से क्यो आवश्यक है, इस बात का विवेचन हम ऊपर कर आए हैं। फौज तथा पुलिस के समान ही महत्व राष्ट्र के उद्योग-धन्धों का भी होता है। देश की रक्षा एव सुव्यवस्था के लिये ये बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। आधुनिक युग मे युद्ध का तंत्र पूरी तरह बदल गया है। युद्ध-क्षेत्र मे एक सिपाही को कार्यक्षम बनाना हो तो राष्ट्र मे ४०० व्यक्तियो को खटना पड़ता है। अन्न पैदा करने वाला खेतिहर, यूनिफार्म तैयार करने वाली मिलें तथा दर्जी, गोला बारूद बनाने वाले कारखानो के मालिक, उसकी तन्दुरुस्ती का ध्यान रखने वाली डाक्टरी व्यवस्था, उसे पड़ाव से युद्ध-क्षेत्र पर पहुँचाने वाली वाहन व्यवस्था इत्यादि सब स्थानो पर भरपूर आदमी काम करते हो तथा वे सारे उद्योग एव व्यापार व्यवस्थित रूप से चलते हो; युद्ध-क्षेत्र मे वह सैनिक कार्यक्षम साबित हो सकता है। अत. युद्ध की दृष्टि से ये सारे उद्योग-धन्धे अत्यन्त महत्व के हो जाते हैं और यदि इन उद्योगो मे काम करने वाले लोगो को नि.सीम विचार स्वतन्त्रता तथा हड़ताल करने का अधिकार दे दिया जाय तो राष्ट्र के हित की दृष्टि से यह उचित नही होगा, ऐसी विचारधारा को गलत नही कहा जा सकता। प्रत्यक्ष फौज तथा सैनिको का जितना महत्व है, उतना महत्व इन्हें न भी हो, तो भी कम-से-कम युद्धकाल मे, इन क्षेत्रों मे काम करने वाले लोगो पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए, यह साफ है। युद्ध की दृष्टि से इन सब उद्योगों को 'आवश्यक उद्योग' (असैंशलइंडस्ट्रीज) घोषित किया जाता है और वह उचित है। पर प्रश्न अधिक महत्व का यह है कि शांति-काल मे, युद्ध-स्थिति न रहने के काल मे समाज जीवन के लिये आवश्यक उद्योगों को 'आवश्यक उद्योग' घोषित करने का अधिकार सरकार को हो या नहीं। 'आवश्यक उद्योग' अथवा 'सार्वजनिक सेवा क्षेत्र' (पब्लिक यूटिलिटी कन्सर्न) घोषित करने से होता यह है कि उन क्षेत्रो मे काम करने वाले लोगों की स्वतन्त्रता पर अंकुश आ जाता है, उनके हड़ताल करने के अधिकार पर अंकुश आ जाता है तथा एकबार हड़ताल के गैर-कानूनी घोषित हो जाने के बाद उसका ज्ञापन रखना अपराध हो जाता है। बिजली का सम्भरण, यातायात की व्यवस्था,

स्थानिक स्वराज्य गते स्वास्थ्य इत्यादि सब क्षेत्रों में अव्यवस्था मचने या हड़ताल हो जाने से सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। गैस तथा बिजली का सम्भरण एक दैनिक आवश्यकता है, उसमें यदि रुकावट पड़े तो समाज में हाहाकार मच जाता है। रेलों का आना जाना बन्द हो जाय तो उसमें ऐश-आराम की चीजों की सप्लाई बन्द हो जाती हो, सो बात नहीं; रोज की जरूरियात की चीजों की सप्लाई भी बन्द हो जाती है। डाक याड पर काम करने वाले मजदूर यदि हड़ताल कर बैठेंगे, तो अनाज के थैलों का उतारा जाना रुक जाएगा; बन्दरगाह में जहाजों की भीड़ हो जायगी, अन्य यातायात के काम में रुकावट पड़ेगी। तात्पर्य यह कि जो उद्योग या जो सार्वजनिक सेवाएं (पब्लिक सर्विस) रोजमर्रा की जिंदगी के लिए जरूरी हैं, उनके रास्ते में रुकावट पैदा करने का मतलब है व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवनों को परास्त कर देना; जीवन की मौलिक व्यवस्था पर हमला करना। इन क्षेत्रों में काम करने वालों को अधिक-से-अधिक सुविधाएं मिलें यह बात मानी जा सकती है तथापि उसे से यदि उन्हें सन्तोष न हो और यदि उन्हें हड़ताल करने तथा समाज की नाड़ियों को जकड़ डालने का अधिकार दे दिया जाय, तो फिर समाज समाज नहीं रह जायेगा। यदि ये उद्योग या ये सार्वजनिक सेवाएं निजी मालिकी की हों तो उन पर भी नियन्त्रण होना चाहिये। निजी क्षेत्रों में कोई बखेड़ा उठ खड़ा हो तो सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिये। और मालिक एवं मजदूरों के बीच के विवाद को दूर करने के लिए पंच की नियुक्ति करनी चाहिये। केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा कि मालिक और मजदूरों को खुद अपने विवाद का कोई उभयसम्मत निर्णय कर लेना चाहिए। अपनी मर्जी से समझौता करना चाहिए यह कहना ठीक है तथापि यदि वैसा न हो तो, हमें निजी क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा कहकर सरकार को सिर्फ शांति एवं व्यवस्था के काम से ही अपना सरोकार रखना चाहिये, यह विचारधारा आधुनिक युग में तथा आधुनिक राज्यों में नहीं चल सकेगी। अतः जब भी उचित अवसर दीखे सरकार को जबर्दस्ती एक पंच की नियुक्ति कर देनी चाहिए तथा उसके निर्णय को मंजूर करना दोनों दलों के लिए लाजमी होना चाहिए तथा उसके अनुसार सरकार को कार्यपालन करवाना चाहिए। जो उद्योग या जो सार्वजनिक सेवा समाज के जीवन के लिए आवश्यक है, उसके बारे में सरकार का कड़ाई से काम लेना अयुक्त नहीं कहा जा सकता। बहुत बार साधारण-साधारण उद्योग-धन्धे भी परिस्थितिवश समाज के जीवन के लिए आवश्यक हो जाते हैं। उस परिस्थिति में या असाधारण परिस्थिति में साधारण तथा कम महत्व के उद्योगों को अथवा सार्वजनिक सुविधाओं को 'आवश्यक' घोषित करने का अधिकार सरकार को होना चाहिये। इन सब परिस्थितियों में अर्थात् संकटकालीन परिस्थिति में समाज के हित की दृष्टि से सरकार द्वारा उठाये गए कदम क्षम्य होते हैं। सरकार के उन सब कृत्यों को जनता की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात बतलाना गलत होगा। जो उद्योग 'आवश्यक' स्वरूप के होते हैं तथा सरकारी क्षेत्र में होते हैं तो उन पर भी उतना ही सरकारी अंकुश होना चाहिए, जितना कि निजी क्षेत्रों के उद्योगों पर होता है। यदि आवश्यक स्वरूप के उद्योग निजी क्षेत्रगत मालिकों के हाथ में हों, तो वहां भी आपसी विवादों को दूर करने का मौका दिया जाना चाहिए।

और यदि उनका उपयोग न हो तो पंच की अपरिहार्य नियुक्ति सरकार को करनी चाहिए। मालिक लोग विवाद को निपटाने के लिए तैयार न हों ; या वे लोग तैयार हों किन्तु मजदूर लोग तैयार न हों, या दोनों के दोनों हठ पर उतारू हों, तो उस परिस्थिति में जनता की जो हानि होगी उसे सरकार क्या एक निष्क्रिय दर्शक की भांति ही देखती रहे ? पंच की अपरिहार्य नियुक्ति का विरोध होना नहीं चाहिए। और यदि विरोध हो भी तो भी उसका योग्य परिस्थिति में अवलंबन करना जनता का रक्षक प्रहरी होने के नाते सरकार का कर्तव्य हो जाता है। हड़ताल को पूरी तरह बन्द कर देना चाहिए ऐसा कोई नहीं कहता। जो हड़ताल होनी नहीं चाहिए पर वह होती ही तो उसे बन्द करवाने का प्रयत्न करना उचित है। परन्तु उसके हो जाने के बाद सरकार का शांत बना रहना भी उचित नहीं। सरकार को बीच में पड़ना ही चाहिए तथा जनता पर आने वाली विपत्ति को दूर करना ही चाहिए। हड़ताल अन्तिम उपाय है, प्रारम्भिक नहीं, यह मान कर यदि अन्तिम उपाय के रूप में भी इसका अवलम्बन किया गया हो, तो भी समाज के हित की दृष्टि से उसका बन्दोबस्त करना सरकार का पहला कर्तव्य है।

हड़ताल होने पर सरकार के अपने सारे साधनों को काम में लाने की अपेक्षा पहले ही सरकार को कदम उठाना चाहिये यह कहना युक्तियुक्त है। यह प्रश्न व्यापक स्वरूप का है तथा उसका विचार करते समय समाज की आर्थिक व्यवस्था एवं राजनैतिक संगठन दोनों का विचार करना चाहिये। देश में राजनैतिक संगठन की दृष्टि से लोकतन्त्रात्मक राज्यव्यवस्था हो तो सरकार को प्रत्येक काम लोकतन्त्रात्मक उपायों से ही करना पड़ता है। नीति निर्धारित करने से पहले जनमत को समझ लेना पड़ता है। जानकार लोगों की समितियाँ बनानी पड़ती हैं। उसके बाद बिल बनाना पड़ता है तथा संसदीय काम-काज की प्रणाली के अनुकूल विधान-मण्डलों द्वारा उसे पास करवाना पड़ता है। संसद् में अनेक हितसम्बन्धों वाले गुट होते हैं। उनके प्रतिनिधि लोग अपने-अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। विधान-मण्डलों से बाहर भी सम्बन्धित हितसम्बन्धों वाले दल आन्दोलन करते हैं तथा लोकमत को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इतने प्रयत्नों के बाद बिल पास होता है। पास होने के बाद उसे कार्यान्वित करते समय अनेक बाधायें अप्रत्याशित रूप से उठ खड़ी होती हैं। केवल इतने से काम चल जाय ऐसी बात नहीं। बहुत दफा मामला अदालत में भी जाता है तथा पास हुआ कानून संविधान की दृष्टि से उचित है या नहीं, इसकी चर्चा अदालत में होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोकतन्त्रात्मक रीति से काम में देर काफी लग जाती है। किसी हिटलर सरीखे व्यक्ति ने हुक्म जारी किया और एकदम उस पर अमल हो गया, यह बात प्रजातन्त्री शासन प्रणाली में नहीं होती। कानून बना, उस पर अमल होना शुरू हुआ तो भी चुनावों के आ जाने तथा उसमें सत्ताधारी दल के पराजित हो जाने से फिर उसी सारी प्रक्रिया को दुहराना पड़ जाता है। फिर स्लेट को धोकर नये सिरे से उस पर लिखना पड़ता है। गत १५ बरसों में इंगलैंड का इतिहास बताता है कि मजदूर दल ने शासन की बागडोर हाथ में आते ही राष्ट्रीयकरण (नेशनलाइजेशन) की नीति शुरू कर दी थी तथा सन् १९५२ में जब उसकी हार

हुई तब सारे पहिये उलटे घूम गये। जो उद्योग राष्ट्र के अधीन हो गये थे, वे पुनः निजी क्षेत्र के मालिकों के हाथ में आ गये। भारत में भी एक समय राष्ट्रीयकरण की नीति को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया था। तथापि कुल जमा भारत की आर्थिक नीति लचकीली है तथा होनी चाहिए ऐसा यहाँ के सत्ताधारी नेतागण कहते आये हैं। इस कारण यह लचकीलापन सम्बन्धित हितसम्बन्धों में खींचातानी करने को प्रेरित करता है। भारत में प्रजातन्त्र होने के कारण हर कोई आलोचना कर सकता है। इसका फल यह होता है कि निश्चित नीति तथा निश्चित कर-व्यवस्था क्या है, यह पता नहीं चलता। गत १२ वर्षों में प्रत्यक्ष-कर कम होते गये हैं तथा अप्रत्यक्ष-कर बढ़ते गये हैं। मुनाफे पर कर, आमदनी पर कर या प्रत्यक्ष-कर के स्थान पर अब अप्रत्यक्ष-कर लगाने की प्रवृत्ति दृष्टिगत हो रही है। इसका फल यह है कि सर्व-साधारण जनता पर करों का बोझ बहुत पड़ रहा है। अतः उद्योग क्षेत्रों में अर्थात् निजी क्षेत्रों में मजदूरों को न्याय दिलाने की कुछ व्यवस्था की जानी चाहिये। पर इन प्रयत्नों के सफल होने के मार्ग में देश का राजनैतिक संगठन कितनी बाधायें उत्पन्न करता है, गत १० वर्षों का भारत का इतिहास इस बात का गवाह है। मजदूरों को ज्यादा देकर संतुष्ट रखने का अर्थ है पूंजीपतियों को कम देना या उपभोक्ताओं से अधिक पैसा खींचना। मजदूर संगठित हैं। मालिक संगठित हैं। यदि कोई संगठित नहीं है, तो वह है उपभोक्ताओं का वर्ग। उनका कोई वाली नहीं है। उनका कोई संगठन हो भी नहीं सकता। अतः उनके हितों की रक्षा सरकार को करनी होती है। यह तो कहा ही जाता है कि मुनाफे पर अंकुश रखना चाहिये। मजदूरों के ज्यादा माँग करने पर जनता अपनी सहानुभूति उन्हें प्रदान करती है। पर उपभोक्ता की जेब पर जो कैंची चलती है, उसकी ओर सरकार ज्यादा ध्यान नहीं देती। ऐसी स्थिति में सरकारी तथा निजि क्षेत्रों के उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों को संतुष्ट रखने की व्यवस्था करना मुश्किल है। तथापि उद्योगपतियों को मिलने वाले मुनाफे पर अंकुश रखा जाना चाहिये। उसके बिना मजदूरों को उचित वेतन एवं उपभोक्ताओं को उचित कीमत दिलाने का इंतजाम नहीं किया जा सकता। मुनाफे पर नियंत्रण करने अर्थात् मजदूरों के हड़ताल करने के अधिकार पर नियंत्रण करने से लोगों को प्रतीत होता है कि सरकार न्याययुक्त आचरण कर रही है। मुनाफे पर नियंत्रण करने से या मजदूरों के हड़ताल पर प्रतिबन्ध लगाने से किसी की स्वतन्त्रता या सगठन की स्वतन्त्रता पर आँच आती है, ऐसा मानने की कोई वजह नहीं है। विवादों को निपटाने का उपाय होना चाहिये तथा उसमें परस्पर विचारों के आदान-प्रदान पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये। एक प्रकार की आचार संहिता (कोड ऑफ कण्डक्ट) होनी चाहिये। और यदि विवाद समझौते द्वारा न निपटाये जा सकें तो सारा मामला अदालत के सुपुर्द करने का अधिकार सरकार को होना चाहिये। योग्य परिस्थिति में पंच की अपरिहार्य नियुक्ति करना वास्तव में वरदान सिद्ध होता है। इन सब बातों पर भी यदि मजदूरों को संतोष न हो तो उन्हें हड़ताल करने का अधिकार होना चाहिये। तो भी इसके मानी ये नहीं कि उन्हें हड़ताल करना ही चाहिये। उस परिस्थिति में समाज के हित की दृष्टि से जो उचित हो वह सरकार को करना चाहिये। आज भी मजदूर-विषयक

टटों के बारे मे विविध कानून बने हुए हैं, विविध यत्रणाएँ बनी हुई हैं। बहुतेरे टटे सतोषजनक रूप से इन यंत्रणाओ के माध्यम से दूर किये जाते हैं। तथापि हड़ताल का वातावरण गत १२ बरसो से इस देश मे कायम है और उसका मुख्य कारण यह है कि बड़े पैमाने पर उद्योग-धधे निजी-क्षेत्रो मे है और वहाँ के हितसम्बन्धो को प्रजातन्त्री व्यवस्था अपने सकुचित एव स्वार्थी हितसम्बन्धो की रक्षा करने का एक साधन प्रतीत होता है तथा उस प्रकार विधानमडलो का तथा अन्य साधनों का वे उपयोग किया करते हैं। यदि हम चाहते है कि औद्योगिक क्षेत्रो मे टटे न हों तो उसके लिए या तो हमे औद्योगिक क्षेत्रों को सरकार के स्वामित्व मे लाना होगा या उन्हें सरकारी नियत्रण मे ले लेना होगा। सरकारी स्वामित्व अथवा नियत्रण एक प्रकार की गुलामगीरी है, ऐसा भारत मे बड़े ज़ोर-शोर से प्रतिपादित किया जाता है। समाज मे स्वतन्त्रता के होने का अर्थ पूँजीपतियो तथा धनिकों पर प्रतिबन्ध का न रहना माना जाता है। समाज मे कही भी उत्पादन, विभाजन या उपभोग आदि पर प्रतिबन्धों का न रहना सही मानो मे स्वतन्त्रता है। इस व्यवस्था मे गरीबो एव पददलितो को शीघ्र मरने की स्वतन्त्रता मिलती है। परन्तु इन स्वतन्त्रताओ की सृष्टि मे गरीबो को कोई नही पूछता। हर व्यक्ति को स्वतत्र होना चाहिये, इसके मानी होते है मुट्ठी भर लोगो का बहुसंख्यक लोगो पर अधिकार चलाना तथा यदि कुछ लोगो को गरीबी एव मुफलिसी मे दिन बिताने पड़ें तो उसमे समाज का कोई दोष नही है, ऐसा दैववाद बतलाना। सच्ची स्वतत्रता के ये मानी नही है। देश के प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो, इसके लिये स्वतत्रता पर किन्ही प्रतिबन्धो का होना जरूरी हो जाता है। और इसीलिये समाज के धनिकवर्ग पर, पूँजीपतियो पर, पूँजीवादी उत्पादन पर नियत्रण का होना जरूरी है। और यदि हम चाहते हैं कि यह नियत्रण प्रभावी हो तो समूचे औद्योगिक-क्षेत्र पर हमे इस नियत्रण को लागू करना होगा। इसके मानी ये हुए कि यदि हम चाहते हैं कि औद्योगिक झगड़े न हो तो हमे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को जड़मूल से बदलना होगा।

सरकार का प्रयोजन समाज का हित साधन है। और समाज के मानी मुट्ठी भर धनिक या वरिष्ठ श्रेणी के लोग नही है। इस बात को मान लेने के बाद समाज मे सम्पत्ति की निर्मिति पर पूर्ण नियत्रण का रहना अपरिहार्य हो जाता है। समाज को जिन वस्तुओं की जरूरत होती है, उनका उत्पादन होना चाहिये तथा उनका उचित विभाजन होना चाहिये। यह व्यवस्था केवल माँग और पूर्ति के सिद्धान्त से नही हो पाती। जिनके भाव ज्यादा होगे उनकी माँग होगी और उन्ही की पूर्ति की जायेगी यह पुराने अर्थशास्त्र का सिद्धान्त नई परिस्थिति मे लागू नहीं पड़ता। करार की स्वतन्त्रता के नाम पर जो पगार मालिक दे, उसे लिया जाय और उसमे सरकार किसी किस्म की दखलंदाजी न करे, यह बात अब नही चल सकती। राज्य ने अब हर एक को शिक्षा तथा रोजगार दिलाने का वचन दे रखा है। इस सन्दर्भ मे किसी को भी नौकरी मे ले लेने या किसी को भी नौकरी से हटा देने की स्वतन्त्रता यदि मालिकों को दे दी जाय तो सरकार के लिए अपने कर्त्तव्यो का पालन सभव नही हो सकेगा। नौकरी से हटा दिये जाने पर प्रत्येक को नौकरी मिलना सभव नहीं होता। किंबहुना,

हर किसी को हर काम करना नहीं आता है। इंजीनियर एक क्षण में वकील नहीं बन सकता। इसी प्रकार वकील तत्काल कथा-लेखक नहीं हो सकता। सिनेमा नटी की नौकरी चली जाय तो तत्काल नर्स नहीं बन सकती। अतः जिसकी जैसी योग्यता हो उसके अनुसार ही उसे रोजगार के क्षेत्र में स्थान दिया जाना चाहिये। नौकरी की गारण्टी होनी चाहिये। इसी में उसकी सच्ची स्वतन्त्रता है। जहाँ चाहे वहाँ नौकरी करने की छूट हो, पर नौकरी न मिले, ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति से यह कहना कि तू स्वतन्त्र है, एक प्रकार से उसका अपमान करना हुआ। अतः प्रत्येक व्यक्ति की गुणसंपदा को नष्ट न होने देने के लिये राज्य-सत्ता के समूचे आर्थिक जीवन का नियोजन करना चाहिये जिसमें किसी को बेकार न रहना पड़े, गायक को ड्रिलमास्टर का, मास्टर को ट्राम कंडक्टर का काम करने की सी-नौबत न आये। उस नियोजन में उचित स्थान पर नियंत्रण से काम लेना पड़ेगा। ये नियन्त्रण राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की सार्थकता के लिये बहुत जरूरी हैं। समाज का हित प्रथम वस्तु है तथा व्यक्ति की जरूरत या व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे नम्बर पर है, यह विचार प्रभावी होना चाहिये। नियोजनपूर्ण अर्थ-व्यवस्था से स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, ऐसा मानना ठीक नहीं। स्वतन्त्रता को सार्थक करने के लिये नियोजनपूर्ण अर्थ-व्यवस्था का होना बहुत जरूरी है। नियोजनपूर्ण अर्थ-व्यवस्था में निजी-क्षेत्रों के लिए भी गुंजायश है। इसी प्रकार नियोजन की तरफ प्रणाली का अनुसरण करने वाले मजदूरों एवं अन्य व्यावसायिकों के संघों के लिये भी गुंजायश है। उन्हें जो स्वतन्त्रता मिली हुई है, उसको नियोजन-व्यवस्था से आँच नहीं आती। इसके विपरीत नियोजन-व्यवस्था में समाज के समस्त हितसम्बन्धों को ध्यान में रखा जाता है। नियोजन की नीति एवं क्रियान्विति में सारे हितसम्बन्धों का स्थान रहता है। मजदूरों के संगठनों तथा अन्य सभी संगठित संघों को अपनी पसंद के बारे में कहने सुनने का अधिकार रहता है। इतना ही नहीं नियोजित अर्थ-व्यवस्था में उनके कहने-सुनने को अधिक सम्मान दिया जाता है। सामान्यतया मजदूर संघ यदि मजदूरों के बारे में विचार-विनिमय करें या अपने कार्यों को मर्यादित करें तो अधिक अच्छा होगा। एक तो वे अपने-अपने क्षेत्रों में तज्ञ होते हैं, और दूसरे वे अपने-अपने क्षेत्रों की कठिनाइयों को अच्छी प्रकार जानते भी हैं। अतः उनके कहने को नियोजन-व्यवस्था में अधिक मान दिया जाता है। सामान्यतया मजदूर संगठनों को अपने उद्योगों के तथा अन्य व्यवसाय संगठनों को अपने-अपने व्यवसायों के बारे में बोलना, प्रस्ताव पास करना तथा कार्य करना चाहिये। संगठन स्वतन्त्रता के नाम पर किसी भी संगठन को किसी भी विषय पर प्रस्ताव नहीं पास करना चाहिये। कोई अज्ञात संगठन उठे और अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर प्रस्ताव करने लगे तो वह हास्यास्पद सिद्ध होगा। साहित्यिकों का कोई संघ उठे और किसी फौजी मामले पर प्रस्ताव करने लगे तो वह भी पागलपन की बात होगी। इसी प्रकार मजदूरों का संगठन, चालू राजनैतिक मामलों पर, जिनका सम्बन्ध मजदूरों के साथ नहीं होता है, प्रस्ताव करे यह भी ठीक नहीं। जिस समय सचमुच ही राष्ट्र के सामने बहुत ही महत्त्व का विषय मौजूद हो, उस समय राष्ट्र के विविध क्षेत्रों के संगठित संघों द्वारा किया गया मत प्रदर्शन क्षम्य हो सकता है, परन्तु यों ही अपने उद्देश्यों से असम्बन्धित मामलों

पर प्रस्ताव पास करना, मत प्रदर्शन करना या कुछ सक्रिय कार्य करना उचित नहीं होगा तथा उस दृष्टि से राज्य यदि उन पर कुछ अकुश रखे तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। तथा ऐसे अकुशों से उनकी स्वतन्त्रता पर आँच आती है, ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है।

कौनसा कार्य संघ के उद्देश्यों के अनुरूप है, कौनसा नहीं, यह ठहराना आसान नहीं है। कोई संघ संगठित हो गया है, कानून के अनुसार उसकी रजिस्ट्री हो गई है, उसका हिसाब-किताब सुव्यवस्थित है, इत्यादि बातों से उसे हर किस्म का प्रस्ताव पास करने का अधिकार नहीं मिल जाता। यो दूरान्वय द्वारा किसी मामले में कुछ कर देना क्षम्य माना जा सकता है। मजदूर संगठनो का उद्देश्य मजदूरो की स्थिति को सुधारने के लिये कार्य करना है। उद्योगो की स्थिति अच्छी रहेगी तो मजदूरो की भी स्थिति अच्छी रहेगी। उद्योगो की स्थिति देश की आर्थिक नीति से जुडी रहती है। और आजकल के युग मे देश की आर्थिक नीति देश की परराष्ट्रीय-नीति से निगडित रहती है। इस दृष्टि से यदि कभी देश की परराष्ट्रीय-नीति पर मजदूर संघ कोई प्रस्ताव पास करे तो उसे एकदम अनुचित नहीं कहा जा सकता। तथापि यदि कोई नाटक पार्टी परराष्ट्रीय नीति के बारे मे कोई प्रस्ताव पास करने लगे तो उसे अनुचित ही कहा जायेगा। यदि कभी मजदूर संघ उठकर कहने लगे कि प्रतिमापूजन बुरी चीज़ है, अतः सारे देवालयो को सरकार अपने कब्जे मे ले ले, तो वह मजदूर संघ के उद्देश्यो के साथ मेल नहीं खायेगा तथा वह पागलपन साबित होगा। देश मे नाना प्रकार के क्लब रहते हैं, उनका उद्देश्य होता है मनोरजन। अनेक विरोधी राजनैतिक मतो वाले लोग भी मनोरजन एव क्रीडा के लिये इकट्ठा होते है। उन स्थानो पर चालू राजनैतिक समस्याओ पर प्रस्ताव लाना अनुचित है। किंबहुना, क्लब की दृष्टि से भी हानिकारक होता है। तात्पर्य यह है कि संघ का जो उद्देश्य हो, उसका व्यतिक्रम करके अथवा उससे असगत कोई काम करना, संविधान द्वारा दी गई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। अतः वैसा न हो, इसके लिये सरकार को सजग रहना चाहिये। सरकार जो अकुश रखती है वे सार्वकालिक नहीं हो सकते। परिस्थिति के अनुसार उनमे परिवर्तन करना होता है। आज जिसे हम स्वेच्छाचारिता कहते हैं, कल वही सदाचार बन जाता है। आज जो अनुचित प्रतीत होता है कल वही उचित हो जाता है। समाज एक लगातार बहने वाला प्रवाह है। समाज का जीवन निर्जीव नहीं होता, यह प्रतिक्षण अनुभव मे आता है। तथा अनुभवो के अनुरूप नयी प्रथाएँ निर्मित होती है। नये आचरणों के नियम बनते और प्रस्थापित होते हैं। अतः संगठन की स्वतन्त्रता पर अंकुश रखते समय सरकार को व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए, यह जाहिर है। समाज के आत्यतिक हित के लिए अकुश रखे जाने चाहियें तथा समाज के आत्यतिक हित के लिए उनमे परिवर्तन किया जाना चाहिये। संविधान द्वारा दी गई स्वतन्त्रता मे अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये एव अनुचित ढील भी नहीं दी जानी चाहिये।

उल्लिखित विवेचन मे इस बात पर विचार किया गया कि सामान्यतया संगठन की स्वतन्त्रता की सीमाएँ क्या हो तथा किन-किन परिस्थितियो मे सरकार हस्तक्षेप करे। तो भी प्रश्न यही उठता है कि संगठनो के भीतरी मामलो मे सरकारी हस्तक्षेप उचित

है या नहीं और यदि हस्तक्षेप आवश्यक हो जाय तो किस परिस्थिति मे किया जाय। सामान्यतया हर संगठन को अपने भीतरी मामलों में पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। शंकराचार्य का मठ एक संगठित संस्था है। उसकी व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप उचित होगा? इसी प्रकार अन्य धार्मिक संस्थाओं एवं देवालयों के मामलों में सरकारी हस्तक्षेप उचित होगा? देवालयों की व्यवस्था परम्परागत कल्पना के अनुसार चलती है। देवता का दर्शन किसे हो, किस जगह से हो, वह हरिजनों के लिये खुला हो या नहीं, देवता की पूजा कौन करे, देवालय की आय का इन्तजाम कौन करे इत्यादि अनेक सवाल पैदा होते हैं। एक जमाना था जब सरकार इन मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया करती थी और जो परम्परागत व्यवस्था वाला संगठन होता था वही प्रभावी माना जाता था। पर अंग्रेजों के शासन के पश्चात् एक नई जाग्रति आई तथा अनेक देवालयों की व्यवस्था में सरकार ने हस्तक्षेप किया। किंबहुना, यह हस्तक्षेप जनता की इच्छा से प्रेरित होकर सरकार ने किया है। अनेक स्थानों पर देवालय सम्बन्धी कानून बने हैं। प्रबन्धक कमेटियाँ नियुक्त की गई हैं। उस मामले में नियुक्ति एवं निर्वाचन की व्यवस्था कानून के अनुसार होती है। सामाजिक सुधार के युग के उदयकाल के पश्चात् जाति विषयक व्यवस्था में पहले जितनी कड़ाई नहीं रह गई है। सामाजिक समता के घोष ने सदसद्विवेक बुद्धि को चुनौती दी तथा आज सार्वजनिक मन्दिर सबके लिये खुल गये हैं। मन्दिर यदि सार्वजनिक न हों तो सरकार उनमें हस्तक्षेप नहीं करेगी, यह जाहिर है। तथापि निजी स्वामित्व के मामलों में जो कानून सरकार बनायेगी, वे निजी देवालयों के लिए भी लागू होंगे यह भी उतना ही जाहिर है। सार्वजनिक देवालयों पर सरकारी नियंत्रण का अर्थ यह नहीं कि सम्बन्धित संगठनों एवं संघों की स्वतंत्रता में कुछ कमी आ गई। इसी प्रकार सार्वजनिक संस्थाओं—उन सार्वजनिक संस्थाओं में, जिन्हें सरकारी मदद मिलती है, हर किसी को अबाधित प्रवेश मिलना चाहिये। इसी प्रकार जिन संस्थाओं में पढ़ाई-लिखाई का प्रबन्ध किया जाता है उनमें भी सबको प्रवेश होना चाहिये। किसी विशेष धर्म एवं सम्प्रदाय की शिक्षा वहाँ नहीं दी जानी चाहिये। सरकार द्वारा इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने से धार्मिक स्वतंत्रता या संगठन स्वतंत्रता पर कोई हमला नहीं होता। उल्लिखित मामलों का, जिनमें सरकार हस्तक्षेप करती है, सम्बन्ध चूँकि सार्वजनिक जीवन से होता है, अतः इस प्रकार का हस्तक्षेप क्षम्य सिद्ध होता है। परन्तु जो मामले सार्वजनिक स्वरूप के नहीं हैं, संस्था अथवा संघ के अपने भीतरी मामले हैं, उनमें सरकार का हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। टेनिस क्लब में किसे खेलने के लिये बुलाया जाय यह क्लब का अपना निजी मामला है, सरकार को उनमें नहीं पड़ना चाहिये। यदि कोई सभासद भीतरी मामले के बारे में कोई शिकायत करता है, तो अदालत उसका फैसला करेगी। पर इसे सरकारी हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकेगा। गाड़ी में बैठने के बाद टिकट लेना पड़ता है; परन्तु ऐसा भी कुछ कम नहीं होता, जब गाड़ी में बैठे बगैर भी टिकट लेना पड़े। अगर फरियाद अदालत में या सरकार के पास न जाय तो सरकार भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करे, यह मुख्य सूत्र होना चाहिये। सामान्यतया आधुनिक राज्यों में काम करने वाली सभी संस्थाएँ कानून के मुताबिक रजिस्टर्ड होती हैं। उनके कामकाज के नियम संस्था के

संविधान में दिये जाते हैं। जहाँ वे नही दिये जाते, वहाँ कामकाज के सर्वमान्य नियम लागू होते हैं। रजिस्टर्ड होने के कारण उनके नियम खुल्लम-खुल्ला सरकार विरोधी नही होते। राज्य का तख्ता उलटने अथवा समाज रचना को उलट-पलट करने के उद्देश्य से कोई संस्था उत्पन्न नही होती, ऐसी बात नही। पर वे संस्थाएँ इस उद्देश्य से उत्पन्न हुई हैं, ऐसा बताया नही जाता अथवा उन उद्देश्यो को लेकर उनकी रजिस्ट्री नही कराई जाती। ऐसी संस्थाएँ सामान्यतया अपनी रजिस्ट्री नही कराती तथा गुप्त रूप से काम किया करती हैं। लोग इकट्ठा हुए, उन्होंने अपना संगठन तैयार किया, संस्था का उद्देश्य समाज विरोधी है, राज्य विरोधी है इन बातों का पता चलने के बाद केवल संगठन स्वतंत्रता की दुहाई देकर सरकार का चुपचाप बैठा रहना कैसे उचित कहा जा सकता है ? पाँच डाकू एक होटल मे जमा हैं। पुलिस उन्हे पकड़ने जाती है। उस समय यदि वे डाकू कहने लगें कि यह हमारी संगठन स्वतंत्रता पर आक्रमण है, तो उसे आप कैसे उचित कह सकते हैं ? उद्देश्य अवैध हो या उद्देश्यो के वैध होने पर भी उन्हें प्राप्त करने का मार्ग खुल्लम खुल्ला अवैध हो, तो इन दोनो अवस्थाओं मे समाज की रक्षा के लिये हस्तक्षेप करने का सरकार को पूरा अधिकार है। मान लीजिये सभा हो रही है; बीच में किसी ने 'सॉप-सॉप' कहकर चिल्लाना शुरू कर दिया; फलस्वरूप सभा मे गड़बड़ मच गई, और हाथापाई तक की नौबत आ पहुँची; उस समय यदि किसी ने उस चिल्लाने वाले से पूछा कि 'भैया' तुम काहे को चिल्ला रहे थे ? वह जवाब दे कि हमे भाषण की पूरी स्वतंत्रता है, मैं अपने उस अधिकार को काम मे ला रहा था, तो क्या कोई उसे माफ कर देगा ? अत: अनेक स्थानो पर गैर-कानूनी काम होने से पहले ही, उस पर प्रतिबंधक अंकुश लगाना उचित सिद्ध होता है। डाका डालने से पहले होटल मे जमा हुए डाकुओं को पकड़ना न्याय्य एवं योग्य होता है तथा उसमे व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा संगठन स्वतंत्रता पर किसी किस्म का हमला नही होता। यही बात प्रतिबंधक नजरबंदी के बारे मे भी कही जा सकती है। यह कहना कि व्यक्ति को तब पकड़ना चाहिये, जब वह प्रत्यक्ष कोई कृति करे, ऊपर-ऊपर देखने से सही जान पडता है। तथापि यदि ऐसी स्थिति पैदा हो, जबकि यदि व्यक्ति को पकड़ा न गया तो उसकी तैयार की हुई योजना निश्चित रूप से सफल हो जायगी, तो व्यक्ति को नजरबंद करना ही चाहिये। हाथ मे पलीता लिये कोई व्यक्ति वेग से बारूद के कोठार की ओर दौड़ा जा रहा है। यदि उसे आग लगाने के बाद पकड़ा जाय तो यह पागलपना होगा। पलीते के आग लगते ही या लगाना आरम्भ करते ही उसे पकड़ना चाहिये। सभा मे दंगे की पूरी संभावना हो, तो जिन लोगो के भाषण ज्यादा भड़कीले होते हो, उन्हे पहले बोलने दिया जाय तथा भाषण होने के बाद पकड़ा जाय, इसके मानी होंगे घोडे के तबेले से बाहर भाग जाने के बाद तबेले के दरवाजे को बंद करना। उचित परिस्थिति मे प्रतिबंधक कार्रवाई सरकार को करनी चाहिये। सरकार का ऐसा करना उचित ही कहा जायेगा। अत: उन संस्थाओं या व्यक्तियो को जो सरकार का तख्ता उलट देना चाहते हैं, समाज मे हिंसात्मक उपायो से परिवर्तन लाना चाहते हैं, अपने पैर जमाने का मौका देना एक प्रकार से अराजकता को न्योता देना हो जायेगा। व्यक्ति की भाँति राज्य को भी आत्मरक्षा का

अधिकार है तथा रक्षा की दृष्टि से प्रहार करने के बाद ढाल आगे करने के अधिकार के समान ही आवश्यकता पड़ने पर स्वयं पहले से प्रहार करने का भी अधिकार है। भाषण एवं संगठन की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य को विनष्ट करने अथवा समाज का विध्वंस करने की स्वतंत्रता भी मिल सकती है। अतः ऐसे प्रयत्नों को समय रहते कुचल देना उचित होता है। वर्धिष्णु शत्रु तथा वर्धिष्णु रोग की उपेक्षा करने वाले नाश को प्राप्त होते हैं, यह अनुभव सर्वत्र प्रसिद्ध है।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि राज्य के अस्तित्व के विरुद्ध अथवा उसके वर्तमान स्वरूप के विरुद्ध उठ खड़े होने वाले व्यक्तियों अथवा संस्थाओं का प्रतिकार करना बहुत जरूरी है। आज संसार के अनेक देशों में विशेष वृत्तियुक्त-ध्येय की संस्थाओं एवं दलों पर रोक लगी हुई है। दल यदि खुल्लमखुल्ला काम करता हो, मौजूदा कानून के अनुसार उसकी रजिस्ट्री हुई हो, तो उसके बारे में कार्रवाई करने में कठिनाई नहीं होती। जब सरकार देखेगी कि वह संस्था आक्षेपार्ह काम करती है, तो वह उसके अस्तित्व को कानूनी तरीके से खत्म कर देगी। तथापि बहुत से देशों में लुकछिप कर काम करने वाली तथा हिंसात्मक उपायों से समाज में क्रान्ति लाने वाली संस्थाएँ काम करती हैं। उनके कामों तथा आन्दोलनों पर रोक लगाना आसान नहीं है। जब तक संस्था के उद्देश्य देखने में सीधे सादे एवं वैध हैं तब तक उन पर सरकार को रोक नहीं लगानी चाहिये यह कहना ठीक है। उद्देश्य लिखित रूप में कुछ और हैं तथा आचरण में कुछ और, एवं इस बात की पुष्टि करने वाले प्रमाण पास में मौजूद हों तो सरकार का उनके खिलाफ कार्रवाई करना उचित होगा। प्रत्यक्ष प्रमाण तो न हों, पर कुछ संदेह हो, तथा उसे मानने के लिये कुछ आधार भी हो, तो भी उसी से उनके खिलाफ कार्रवाई करना या मुकद्दमे चलाना ठीक नहीं। मुकद्दमे या खिलाफ की जाने वाली कार्रवाई केवल इसी आधार पर नहीं होनी चाहिये कि अमुक एक मत प्रतिपादित हो रहा है। विचार एवं मत की स्वतन्त्रता के मानी ये हैं कि किसी भी विचारधारा पर अथवा मत पर प्रतिबन्ध नहीं है। उस मत एवं ध्येय की प्राप्ति के लिये किस मार्ग का प्रचार किया जाता है, यह महत्त्व की बात है। यदि अवैध तथा हिंसात्मक मार्ग का प्रचार किया जा रहा हो तो सरकार का उसके बारे में कार्रवाई करना उचित ही होगा। यदि कोई कहे कि देश में कहीं भी सेना, पुलिस तथा अदालतें नहीं होनी चाहियें, सब कहीं एक-दूसरे के सौजन्य एवं सद्भावना पर आश्रित होकर समाज को काम करना चाहिये, तो उस पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। इस कहने में समाज में अराजकता फैलने की संभावना भले ही रहती हो, पर इस प्रतिपादन का उद्देश्य सर्वोदय समाज स्थापित करना है, ऐसा प्रतीत होने पर भी यदि सरकार इसके विरुद्ध कोई कार्रवाई करती है तो उसका अर्थ होगा कि सरकार मानवीय मन ही को बन्धन में डालना चाहती है। पर यदि कोई यह प्रचार करना शुरू कर दे कि इस प्रकार की समाज रचना के लिये हिंसात्मक उपायों से काम लेना चाहिये तो उस पर रोक लगा दी जानी चाहिए। यदि कोई यह सिद्धान्त प्रतिपादित करे कि, जिनके पास अधिक है, उन्हें अपने में से कुछ दान कर देना चाहिये, इससे समान विभाजन एवं संतोषजनक विभाजन हो सकेगा, तो ऐसा

कहना गुनाह नही होगा। प्रस्थापित अर्थव्यवस्था का विरोधी मानकर इस विचार को नष्ट करने का प्रयत्न करना उचित नही होगा। सम्पत्ति का बँटवारा समान एव न्यायोचित हो तथा इस काम के लिये जिसके पास आवश्यकता से अधिक है, उससे उतना छीन लेना चाहिये, यह तत्वज्ञान कहना कुछ अनुचित नही होगा। यदि दान से काम न चलता हो तो कर लगाकर अधिक पैसा हासिल करने की बात कहने मे भी कोई बुराई नही है। परन्तु दान के बदले डरा-धमका कर पैसा निकाल लेने की तथा कर एवं कानून की जगह लाठी से काम लेने की बात करना नि सदेह अनुचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक लोगो के मत को परिवर्तित करने के इरादे से कोई बात कही जाती है, कोई नया सिद्धान्त पेश किया जाता है, तब तक सरकार को कुछ नहीं करना चाहिये। पर जब वह विचार अथवा वह तत्त्व-प्रणाली विचारो की अवस्था से उठकर उच्चारण की अवस्था मे आ जाती है एव जब प्रत्यक्ष क्रिया को जन्म देने लगती है, तब उस क्रिया द्वारा मौजूदा हित सम्बन्धो पर प्रहार होता है। और यदि उस क्रिया मे प्रचलित व्यवस्था को नष्ट कर देने तथा उखाड कर फेंकने का निश्चय नजर आने लगे तो सरकार का उस क्रिया के खिलाफ हथियार उठाना ठीक रहता है। बहुत दफा हम देखते हैं कि अनेक सस्थाएँ दुरगी राजनीति से काम लेती हैं। ऊपर से कानून की चौखट मे रहते हुए आन्दोलन के ताने बाने ठीक करके सगठन का जाल व्यापक करती रहती हैं और गुप्त रूप से अथवा भूमिगत पद्धति से एक नया सगठन तैयार किया करती है तथा उचित अवसर की प्रतीक्षा किया करती हैं। दिखाने को समाज की सेवा के लिये स्वयसेवक तैयार किया करती हैं; उन्हें फौजी शिक्षा देती हैं। तथापि भले ही वे दिखायें कि यह सब समाज सेवा के लिए किया जा रहा है, वास्तव मे वे लोग उस क्षण की प्रतीक्षा मे रहते है, जब वे सारे राज्यतन्त्र को बदल कर उसे अपने कब्जे मे ले सकें। ऐसी अवस्था मे सरकार का क्या कर्त्तव्य है? यह सब होता हुआ देखकर वह चुप-चाप बैठे या इसका कोई अगाऊ बदोबस्त करे। अगाऊ बंदोवस्त करना हो तो उसके लिये भरपूर प्रमाण होने चाहियें। बहुत दफा ऐसा होता है कि प्रमाण तो होते हैं पर वे अदालत मे अपराध को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नही माने जाते। ऐसी हालत मे सरकार क्या करे? यदि हर बात मे कानूनी प्रमाणो के लिए आग्रह किया जाने लगे तो बडी मुश्किल का सामना करना पडेगा। किसी दल के उद्देश्यों मे हिंसा की गन्ध न आती हो, पर उसकी नीति एव कार्यपद्धति मे हिंसा का निषेध न दिखाई देता हो, किंबहुना, मुँह से अहिंसा एव वैध उपायों की घोषणा करता हो पर उसके हृदय मे हिंसा का हलाहल भरा हो, तो सरकार को, इस बात का पक्का यकीन होने पर, प्रतिबधक उपायों से अवश्य काम लेना चाहिये। एक बात अवश्य स्पष्ट होनी चाहिये कि सम्बन्धित दल का उद्देश्य, उसके समूचे इतिहास को देखने पर, राज्य का तख्ता उलटना है, समाज मे क्रान्ति लाना है। इस बात के स्पष्ट हो जाने पर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना राजनीतिज्ञता के विरुद्ध है। यदि कोई दल केवल यही कहता हो कि किसी विशेष कानून को मत मानो, कोई विशेष कर मत दो, मोर्चो एवं जुलूसों पर रोक लगी हो तो उसका भग करो, तो इस प्रकार के कहने भर मे उस दल के विरुद्ध कार्रवाई करना उचित नहीं।

तथापि यदि यह दिखाई दे कि कोई दल कानून की अवज्ञा, अथवा लगान न देने की बात एक विशिष्ट दृष्टि से कह रहा है, उसके एक विशिष्ट कार्यक्रम का वह एक हिस्सा है, तो सरकार का चुपचाप बैठे रहना उचित नहीं। कोई दल सरकार के विरुद्ध है, सरकारी नीति की आलोचना करता है, संगठित होकर वैसा प्रचार करता है, यह देखकर उस दल के विरुद्ध कार्रवाई करना गलत होगा। तथा वैसा कुछ कर बैठना कानून तथा सत्ता का दुरुपयोग करना होगा। प्रजातन्त्र में विरोधी दल को आलोचना करने तथा सरकार के विरुद्ध प्रचार करने का पूरा अधिकार है और होना भी चाहिये। सरकार नालायक है, मंत्री भ्रष्ट हैं, मंत्रियों की नीति राष्ट्रविरोधी है, इत्यादि स्वरूप की आलोचना राजद्रोह नहीं हो सकता। किंवा इस प्रकार की आलोचना करने वाला दल राष्ट्रविरोधी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो बात अपने को अप्रिय लगती है, वह बुरी एवं अनिष्टकारक है, ऐसा गहीत जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में गलत साबित होता है, उसी प्रकार राष्ट्र के जीवन में भी गलत साबित होता है। कभी गलती न करने वाला व्यक्ति नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार कभी गलती न करने वाला दल अभी तक तो उत्पन्न हुआ नहीं है। अतः केवल अप्रिय बोलने तथा लिखने की वजह को लेकर ही किसी दल की अथवा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को दबाने की चेष्टा करना अनुचित एवं अनुत्तरदायित्वपूर्ण है। सत्ताधारियों को लगता है कि जो कोई उनकी विचारधारा के विरुद्ध बोलता है, वह राष्ट्रविरोधी है। जो उनसे मिलकर काम नहीं करते, वे राष्ट्रविरोधी हैं। सत्ताधारियों को लगता है कि उनकी बात सबको मंजूर करनी चाहिये। और यदि कोई उनकी बात का विरोध करे तो उन्हें उसमें अपनी अप्रतिष्ठा नजर आती है। प्रजातन्त्र में सत्ताधारियों को उत्तरदायी होना चाहिये। बार-बार उनकी जाँच की जानी चाहिये। उन्हें अपनी बात विरोधियों को भी ग्राह्य प्रतीत करानी चाहिये। तात्पर्य यह कि प्रजातन्त्र में विचार-प्रदर्शन अथवा संगठित होकर काम करने वाले संगठनों की स्वतंत्रता की दृष्टि से सरकार को बहुत कम हस्तक्षेप करना चाहिये। और जो भी हस्तक्षेप किया जाय, वह समाज के पारमार्थिक हित को सामने रखकर किया है, इस बात का विश्वास जनता को दिलाया जा सकना चाहिये। मौजूदा कानून के विरुद्ध आलोचकों अथवा दलों ने कुछ किया हो, तो सिर्फ उसी आधार पर व्यक्ति एवं संगठनों की स्वतन्त्रता को कुचलने की कोशिश उचित नहीं कही जा सकती। सम्बन्धित आलोचना एवं कृत्य तभी कुचलने योग्य समझे जाने चाहियें, जब उसमें राष्ट्र के लिये खतरा पैदा होता हो, या उसमें अराजकता निर्माण होती हो।

लोगों का इकट्ठा होने तथा अपनी मर्जी से संगठित होने का अधिकार मौलिक है। "लोगों को इकट्ठा होकर अपने विचारों को प्रकट करना चाहिये। अपने मन में आई हुई कल्पनाओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना चाहिये। अपनी विचारधारा को लोगों का समर्थन प्राप्त हो इस उद्देश्य से उन्हें अपना प्रचार करना चाहिये। अपने दुःखों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये आवश्यक आवाज बुलन्द करनी चाहिये। आवश्यक क्रिया करनी चाहिये। ऐसी सामान्य स्थिति राष्ट्र में होनी चाहिये। पर लोगों को राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न करने, शांति भंग करने तथा

राज्य और अपने बीच सघर्ष उत्पन्न करने का कोई मौलिक अधिकार व्यक्तिशः या संघशः नही है। समाज की दृष्टि से यह निश्चित होना भी आवश्यक है कि लोगो को क्या करना चाहिये तथा किस सीमा तक व्यवहार करना चाहिये। सरकार से जबर्दस्ती कुछ कराने के उद्देश्य से जुलुम या मोर्चा निकालने अथवा हड़ताल करके समाज की रसद को रोक देना नागरिक स्वतंत्रता की कक्षा मे नही बैठता। ऐसा करने से हिंसात्मक वातावरण उत्पन्न होता है या उत्पन्न होने की सभावना होती है। अतः जिम्मेदार नागरिको एव सस्थाओ को ऐसा नही करना चाहिये। जिन कारणो को लेकर ऐसा किया गया हो, वे कारण महत्त्वपूर्ण हो या महत्त्वहीन हो, पर यदि उससे अशांति उत्पन्न होना निश्चित हो तो उसे बद कर देना चाहिये। इस बात की गारटी देना कि समाज के नागरिक शातिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते है, उसमे कोई बाधा नही आयेगी, सरकार का पहला कर्तव्य है। यदि किसी नागरिक को लगे कि घर से बाहर निकलने पर उसकी खैर नही तथा घर मे भी दगाइयो से बचने की कोई उम्मीद नही तो कहना होगा कि सरकार ने अपना कर्तव्य नही किया। यदि शान्ति भंग होने का कोई खतरा न हो तो सभा, भाषण तथा जुलूस आदि पर रोक लगाना उचित नही। केवल मत प्रदर्शन या विरोधी मत प्रदर्शन की वजह से उस पर रोक लगा देना एक प्रकार से उसकी ओर लोगो का ध्यान आकर्षित करके उसका महत्त्व बढाना है। रोक लगाना समस्या का समाधान नही है। उससे जहाँ लोगो के विचार दबाये नही जाते वहाँ समाज के अन्य लोगो में उनके प्रति कौतूहल आरम्भ हो जाता है तथा सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। समाज मे कुछ लोग प्रचलित एवं प्रस्थापित वस्तुओं के पहरेदार बने फिरते हैं। उन वस्तुओ के विरुद्ध यदि कोई बोले तो उनके गुस्से की सीमा नही रहती। प्रचलित वस्तुओ के विरुद्ध मतभेद इन लोगो को अपराध प्रतीत होता है। और केवल मत को लेकर मुकदमे करने का फल यह होता है कि वे विचार दबते तो नही हैं, उलटे उनका समाज मे और ज्यादा प्रचार हो जाता है। सन् १६२१ मे अलीबधुओ पर यह कहकर मुकद्मा चलाया गया कि उन्होने एक विशिष्ट प्रस्ताव पेश किया तथा उस पर भाषण दिया। इसका फल यह हुआ कि वह आक्षेपार्ह प्रस्ताव हिन्दुस्तान मे हजारो सभाओ द्वारा पास किया गया। स्वराज्य शब्द का उच्चारण करने भर से अदालत मे मुकद्मा चलाया जाता था, सजा होती थी। पर फल यह हुआ कि 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' यह घोषणा लाखो मुखो से बाहर निकलने लगी। क्रान्ति का पोषक द्रव्य क्रान्तिकारको के प्रयत्नों की अपेक्षा क्रान्तिविरोधियो की छटपटाहट अधिक है। जिस ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता उसी बात पर सरकारी प्रतिबन्धो के कारण लोगो का ध्यान केन्द्रित हो जाता है। जब तक कोई विषय अदालत मे नही पहुँचता, तब तक वह सार्वजनिक चर्चा का विषय नहीं हो पाता। और एक बार वह विषय अदालत मे पहुँच गया कि लोग अधिक प्रयत्न मे उस विषय म दिलचस्पी लेने लगते हैं। सजा देकर जो बात सिद्ध करना थी, वह तो होती नही, उलटा ही फल सरकार को भुगतना पड़ता है। और यदि सामान्य अदालत के स्थान पर विशेष अदालत द्वारा फैसला करने की कोशिश की गई तो क्रान्तिकारको का प्रचार और अधिक होगा। अतः जहाँ केवल मत

की प्रदर्शित किया गया है, वहाँ सरकार को कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिये तथा अदालत मे मामले को ले जाकर अपनी दुर्गति नहीं करवानी चाहिये। समाज में जब किसी एक आदमी के मन मे अन्याय की भावना उत्पन्न हो जाती है, तब वह अपने मन की बात कहने में हिचकिचाता नहीं। पर जब वैसे ही विचार औरों के मन में भी आने लग जाते हैं, तब मनुष्य बडी तीव्रता के साथ बदलने लगता है। उसका रोष, अन्याय के विरोध की तीव्र भावना, शनैः-शनैः समाज के मन में बैठने लगती है। वह फिर वैयक्तिक न रहकर सामाजिक हो जाती है। अतः उस व्यक्ति की भावना के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि समाज पर उसका परिणाम क्या होगा ? राज्य द्वारा की जाने वाली जोर-जबर्दस्ती से समाज मे राजकीय शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

जब पूरी ईमानदारी से परन्तु भावावेशपूर्वक मत प्रदर्शित किया जाता है, उस समय सरकार को उसके पीछे की भावना को ठीक से समझ लेना चाहिए तथा उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग मुक्त करके अपने आचरण की दिशा निश्चित करनी चाहिए। यदि भावनाओं का सम्मान न किया गया तथा विचारों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की कोशिश की गई, तो समाज मे उत्पन्न असन्तोष और अधिक भयानक स्वरूप धारण करता है। समाज मे व्यक्तियों को इकट्ठा होकर संगठन बनाने की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, सरकार बिलकुल एकपक्षीय संस्था हो जाएगी। और एकपक्षीय संस्था का आगे चलकर तानाशाही में रूपान्तर हो जाएगा। समाज मे जो संस्थाएँ होती हैं, वे इसलिए जन्म नही लेतीं कि सब काम सरकार की मर्जी के अनुसार ही किया करें। उनका अस्तित्व सरकार की कृपा पर अवलम्बित होता है, यह बात सही नहीं है। राज्य की कल्पना के उदय से पहले व्यक्ति मौजूद थे। समाज भी राज्य का अग्रज अर्थात् राज्य से पहले का जन्मा हुआ है। राज्य आयेंगे और जायेंगे पर व्यक्ति कायम रहेगा। सरकार आयेगी और जायेगी पर राज्य कायम रहेगा। अतः सरकार को सदा समझ रखना चाहिए कि व्यक्ति का जीवन उसकी मर्जी पर अवलम्बित नहीं है। अतः राज्य या सरकार अमर्याद रूप से कोई भी बात व्यक्ति अथवा संगठन पर नहीं लाद सकता। समाज मे व्यक्ति व्यक्ति के बीच समाधान-कारक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए राज्य व्यवस्था का जन्म हुआ है। राज्य व्यक्ति के लिए है पर व्यक्ति पूरी तरह से राज्य के लिए हो ऐसी बात नहीं। राज्य के रहने से व्यक्ति का विकास होता है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच सहयोग एवं व्यक्ति के कार्यों के संकलन के हेतु राज्य मुख्यतया कार्य किया करता है। बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जिन्हें अलग-अलग होकर व्यक्ति नही कर सकते। अतः उन व्यक्तियों की ओर से संगठित रूप में उन्हें करने का काम राज्य किया करता है। तथापि जो काम राज्य व्यापक क्षेत्र में किया करता है, उसे सीमित क्षेत्रों में व्यक्ति एवं व्यक्तियों के समुदाय किया करते हैं। ये समुदाय किन क्षेत्रों में काम करें, इसका नियमन राज्य का कार्य है, यह सही है; पर उसका यह अर्थ नही कि राज्य का चतुर्मुखी नियन्त्रण व्यक्ति पर स्थापित हो जाय। जब तक संगठनों का उद्देश्य राज्य के विरुद्ध नहीं होता तब तक संगठनों के कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सरकार यह कहे

तात्पर्य यह कि यदि हम चाहते हैं कि राज्य मे स्वतन्त्रता का सही वातावरण बना रहे तो हमें इस सायुज्यता को लाना होगा।

ऊपर हमने संगठन स्वतन्त्रता तथा तत्सम्बन्धी मतस्वतन्त्रता का अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया है। मत-स्वतन्त्रता के साथ-साथ थोडा-सा आचार-स्वतन्त्रता का भी विचार किया है। सामान्यरीत्या व्यक्ति को जो योग्य प्रतीत होता है, उसके करने का अधिकार अथवा स्वतन्त्रता होनी चाहिये। वह क्या खाये, क्या पहरे, कैसी पोशाक रखे, इन बातो की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अनेक लोगों को अनेक किस्म के शौक होते है। उनके पूरा करने की भी छूट होनी चाहिए। कइयों को कई किस्म के व्यसन होते हैं। उनके बारे में कितनी छूट रहे यह सवाल पैदा होता है। खाने-पीने, पहरने-ओढने आदि के बारे में जो मर्यादाएँ होती हैं, वे समाज के मौजूदा आदर्शों एव परम्पराओ के अनुसार होती हैं। एक समय था जब लहसन और प्याज निषिद्ध माना जाता था। वही हालत टमाटरो के बारे मे भी थी। अब लहसन, प्याज तथा टमाटर के बिना खाने मे मजा नही आता। एक समय था जब कुछ एक वर्ग पूरी तरह से शाकाहारी थे। आज उन वर्गों मे भी विशुद्ध शाकाहारी लोग अपवाद की भाँति नजर आते हैं। और यह सारी प्रगति या परिवर्तन समाज के विचारो मे हुए परिवर्तनो के साथ साथ होते चले गये। पोशाक की अवस्था यह है कि पहले लोग अंगरखे पहनते थे अब उनकी जगह शर्ट आ गये हैं। शर्ट से लोग बुशर्ट पर आगये है। धोती कभी की प्रचलन से उठ चुकी है। अब उसकी जगह पायजामा और पेंट आ गये हैं। पहले सिर पर पगडी, टोपी आदि कुछ-न-कुछ जरूर पहना जाता था। इन्हें पहने बिना बाहर जाना असभ्यता मानी जाती थी। अब सिर पर टोपी पहनने वाला हजारो मे एक नजर आता है। पुराने ढग की पगड़ी तो अब सग्रहालयो मे ही दिखाई देती है। स्त्रियो के वेश-विन्यास मे भी ऐसे ही परिवर्तन हुए हैं। नौगजी साडी चली गई और उसकी जगह गोल साड़ी आ गई। चोली के आकार भी आकुचित हो गये। केश-भूषा, जो पहले सभ्य स्त्रियों मे दृष्टिगोचर नही होती थी, अब सभ्यता का मुख्य लक्षण बन गया है। खाने-पीने व पहरने, ओढने से सम्बन्धित सदाचार कहाँ खत्म होता है और स्वैराचार कहाँ शुरू होता है, यह कहना कठिन हो गया है। पहले हम जिसे चालचलन कहा करते थे, वह अब नही रह गया है। सभ्यता ने नये-नये रूप धारण कर लिये हैं। किंबहुना, क्षण-क्षण जो नव स्वरूप धारण करती है वही सभ्यता है, ऐसा कहने की नौबत आ गई है। कवि की प्रतिभा की भाँति नावीन्य अब उसका मुख्य लक्षण माना जाता है। ५०-६० वर्ष पूर्व बडे बड़े शास्त्री पंडित शाभवी पीकर विद्वत्ताप्रचुर प्रवचन किया करते थे तथा शाभवी के व्यसन को व्यसन नही माना जाता था। उत्तर भारत में अफीम तथा शाभवी के व्यसन को लत नही माना जाता था। गाजा पीने वाले लोग ५० वर्ष पूर्व पढे-लिखो के समाज मे कुछ कम नही थे। तमाखू ... तथा पीने वाले भी बहुत बडे पैमाने मे मौजूद थे। पर आज सिगरेट का व्यसन ... समाज का तथा सभ्य समाज का भूषण हो गया है। शराब, गांजा तथा ...र ने रोक लगा दी है। काफी बडे पैमाने पर उस पर अकुश लगा रखा ...ह पैदा होता है कि सामाजिक आचरण मे तथा वैयक्तिक आचरण में

समाज को किस सीमा तक हस्तक्षेप करना चाहिए। कुछ चीजें निःसन्देह बुरी हैं उनसे शरीर एवं मन दोनों की तन्दुरस्ती बिगड़ती है। ऐसी चीजों पर व्यक्ति के हित के लिये रोक लगाई जाय या नहीं। आज अफीम और गाजे पर लगाई गई रोक का किसी ने विशेष विरोध नहीं किया। पर यदि धूम्रपान पर रोक लगा दी जाय तो स्कूल के विद्यार्थियों से लेकर हिमालय के स्वामियों तक सब के सब विरोध करने को उठ खड़े हो जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। समाज की धारणा हो चली है कि धूम्रपान व्यसन नहीं है। और इसी कारण सरकार उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता या यह एक भ्रम है। लोग मानते हैं कि खान-पान, पोशाक तथा कुछ एक छोटी मोटी आदतों पर रोक लगाना व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आक्रमण करना है, मदिरापान पाप है—पंच महापापों में से एक है, यह स्मृतियां तथा इस्लाम धर्म की हिदायतें बताती हैं। यद्यपि किन्हीं धर्मों की दृष्टि से सुरापान अधार्मिक कृत्य नहीं है, तथापि इस बात में सबका मतैक्य है कि मनुष्य के जीवन के लिए यह हानिकारक है। तथापि जो लोग कहते हैं कि सद्गुण मध्यम मार्ग है एवं दुर्गुण किसी बात की अति करना है, उनकी दृष्टि से थोड़ी मात्रा में मदिरा सेवन बुरा नहीं है तथा ऐसे मदिरा-पान पर रोक लगाना स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार पर आक्रमण करना है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो कहते हैं कि समाज की स्वस्थता एवं समाज के नैतिक जीवन की दृष्टि से इस किस्म के मामलों में हस्तक्षेप करना सरकार का एक कर्तव्य है। वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण के बारे में कोई भी आग्रहपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यह सही है और यह गलत है उपरिनिर्दिष्ट सदाचार एवं स्वैराचार में भेद करना आसान नहीं है। अच्छा आचरण कहाँ खत्म होता है तथा व्यसन कहाँ से शुरू होता है, यह बताना कठिन है। हफ्ते में किसी दफा सिनेमा देखना ज्ञान एवं मनोरंजन का साधन होता है तथा किसी दफा देखना व्यसन हो जाता है, यह बताना आसान नहीं है। तथापि कभी कभी आचरण में अतिरेक न होने पर भी वह समाज को अप्रिय होता है। तो क्या सिर्फ इस बिना पर कि वह समाज को प्रिय नहीं है सरकार उस पर रोक लगा दे ? जहाँ कोई कृत्य अतिरेकपूर्वक करने से व्यसन हो जाता है, तथा समाज को उससे उपद्रव होता है एवं व्यक्ति की दृष्टि से भी वह घातक साबित होता है वहाँ अतिरेक न होने देने के लिये उस पर रोक लगाना समाज हित की दृष्टि से अभीष्ट ही रहता है तथा उससे किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होता। स्वतन्त्रता का अर्थ जो जी में आये सो करने की छूट कोई भी मंजूर नहीं करेगा। इस दृष्टि से संपूर्ण शराबबंदी लोकमत को पसंद हो तो करना चाहिये पर यदि लोकमत को पसंद न हो तो उस पर नियंत्रण करना चाहिए। हर कोई कहने लगेगा कि अमर्याद शराब पीने से बुराई होती है, पर जब तक मुझे वैसा अनुभव नहीं आएगा तब तक मुझे शराब पीने की पूरी छूट होनी चाहिए, तो राज्य को यह बात मंजूर नहीं करनी चाहिए। हर व्यक्ति अनुभव हासिल करे और उसकी कीमत अदा करे, यह अयोग्य नहीं है तथापि किन्हीं क्षेत्रों में पहले के तथा अन्यों के अनुभवों को ध्यान में रखकर राज्य किन्हीं प्रमेयों को सिद्ध साबित करता है तथा उस दृष्टि से अंकुश रखे जाते हैं। हर कोई अनुभव हासिल करते-करते अपने सर्वस्व को गँवा बैठे

तो उसका कुछ दोष सामाजिक व्यवस्था एवं राज्य-सत्ता पर भी आता है। अतः हरेक को इस बारे में अनुभव हासिल करने का मौका न दिया जाए तो उससे कुछ बिगड़ता नहीं। जिन मामलों में समाज की प्रतिक्रिया गुत्थमगुत्था सामाजिक जीवन में नज़र आती है, उसके बारे में सरकार को पूरा विचार करके रोक लगानी चाहिए। सामान्यतया जुए को एक व्यसन माना गया है। स्मृतियों ने द्यूत को एक महापातक गिना है पर यह भी कहा है कि सच्चा क्षत्रिय द्यूत तथा युद्ध के बुलावे को कभी अस्वीकार नहीं करता। सीधा जुआरियों के अड्डे में जाकर ताश के पत्ते खेलना अथवा अन्य तरह से जुआ खेलना स्पृहणीय नहीं है तथापि घोड़ों की रेस को अनुमति देकर जुए को इस देश की सरकार ने मनोरंजन की प्रतिष्ठा प्रदान की है। क्लबों में ताश खेला जाता है तथा उसमें पैसे भी लगाए जाते हैं। क्या वहाँ रोक लगाना ठीक होगा? या यदि वहाँ रोक लगा दी गई तो घर-घर में वही होना शुरू हो जायेगा, यह सोचकर उसकी उपेक्षा की जाये? तात्पर्य यह कि सामाजिक आचरण के बारे में निश्चय के साथ यह कहना कि अमुक वस्तु दोषार्ह है कठिन है। अतः जो बातें स्वभावतः ही बुरी हैं, उनके किये जाने पर सज़ा का दिया जाना उचित ही होगा। इसी प्रकार जो काम अतिरेक-पूर्वक किया जाता है वह भी सज़ा का पात्र होता है, यह सही है तथापि अंकुश लगाते समय सारासार विचार, मनुष्य स्वभाव, सामाजिक इतिहास तथा परम्परा आदि बातों को भी ध्यान में रखना चाहिये। किन्हीं धर्मों में विवाह के अवसर पर मदिरापान करना आवश्यक समझा जाता है। किन्हीं सम्प्रदायों में मदिरापान करना पूजा का अंग माना जाता है। अतः सब बातों का विचार करके अंकुश लगाना चाहिये। और जो अंकुश लगाया जाय उस पर ठीक से अमल किया जाना चाहिये।

ऊपर हमने बताया कि योग्य सेवन तथा अतिरेकी सेवन की सीमाओं को निश्चित करना कठिन है। सामान्यतया कितना योग्य तथा कितना अतिरेकी इसके सम्बन्ध में मानदण्ड निश्चित करना असम्भव होते हुए भी आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, कितना मदिरापान करने से आदमी बेहोश नहीं होता या उसकी तन्दुरुस्ती पर बुरा असर नहीं होता इस बारे में कोई-न-कोई मानदण्ड निश्चित किया जा सकता है पर उसके साथ यह भी सही है कि मनुष्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इस मिकदार को कम अधिक करना भी न्यायोचित रहता है। आज भारत के अनेक क्षेत्रों में मदिरा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा हुआ है। पर अपवाद रूप से डाक्टर की सिफारिश पर परमिट दिये जाते हैं और वे पीने वालों की प्रकृति को देखकर दिए जाते हैं। पर किसके लिए सेवन उचित मिकदार में है, किसके लिये नहीं, यह ठहराना सम्बन्धित व्यक्ति का ही काम होना चाहिए। कम देने पर व्यक्ति छटपटाता है तथा कभी-कभी पागल भी हो जाता है। अधिक देने से बेहोश हो जाता है तथा समाज के लिए एक सिरदर्द बन जाता है। व्यक्ति के जीवन में अनेक क्षेत्रों में योग्य एवं अयोग्य का निर्णय करने की छूट रहती है। कितना खाया जाय, कितने कप चाय पी जाय, इन बातों पर सरकार नियन्त्रण नहीं लगा सकती। ढेर सारी आइसक्रीम खाकर कुछ व्यक्ति मर गए, पर इस बात को लेकर सरकार का आइसक्रीम खाने पर प्रतिबन्ध लगा देना उचित नहीं होगा। खाने, कपड़े-लत्ते, तथा मनोरंजन के सम्बन्ध में व्यक्ति ही अपने लिए

निर्णय ले सकते हैं। सर्वसामान्य समाज में जो योग्य माना जाता है, सभ्यतायुक्त माना जाता है, वहीं तक नियंत्रण सीमित रहना चाहिए। एक समय था, जब हर घर में तथा विद्यार्थियों के कमरों में देवी-देवताओं के चित्र लगे रहा करते थे। उसके बाद ऐसा समय आया जब उनकी जगह देश-भक्तों के चित्र नजर आने लगे। पर आज कल यह अवस्था है कि सवेरे-सवेरे चित्रपट की किसी नायिका अथवा नायक का चित्र रूप में दर्शन न मिले तो अनेकों को दिनभर कुछ सूझ नहीं पड़ता। देश-भक्तों या नेताओं की लोकप्रियता में कमी आ गई हो सो बात नहीं, हाँ, चित्रपट की नायिकाओं एवं नायकों की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई है, यह जरूर सत्य है। किसी समाचार-पत्र का अंक उनके फोटो के बगैर नहीं बिकता। हफ्ते में यदि एक बार भी उनके बारे में रोचक समाचार पढ़ने को न मिले तो उस पत्र के पाठकों की संख्या घट जाती है, यह समाचार-पत्रों का अनुभव है। ये सब कुछ बहुत अच्छे लक्षण नहीं हैं, यह भले ही सत्य हो, तो भी सरकार द्वारा इन बातों पर नियंत्रण लगाया जाना अभीष्ट नहीं तथा उसका फल उलटा ही होगा, यह भी उतना ही सत्य है। और सरकार को भी जब सामाजिक आचरण के बारे में नियंत्रण लगाना हो, तब पूरा विचार करना चाहिये। और जो उद्देश्य इन नियंत्रणों के लगाने में सोचे गए हों, वे सचमुच पूरे हो पायेंगे या नहीं, इसका पक्का निश्चय कर लेना चाहिए। नियन्त्रण लगाने से व्यक्ति की अपनी उत्तरदायिता में कमी आ जाती है। उसे तब अधिक विचार करने की जरूरत नहीं रह जाती। जो प्रतिबन्धित नहीं है, वहीं खाना, पीना, देखना तथा काम में लाना उसका काम रह जायेगा। पर साथ ही मनुष्य की बुद्धि भी चौकन्नी हो जाती है। उसने अपने मन में जो छिपाया हुआ हो, उसको देखने की कामना उसके मन में उत्पन्न हो जाती है। जो वाङ्मय आक्षेपार्ह हो उसे पढ़ने की उसकी उत्सुकता तीव्र हो जाती है। उसके जीवन-पथ में जो वस्तु नहीं आई थी, वही अब प्रतिबन्ध लगाने के बाद आने लग जाती है और उधर उसके मन का खिंचाव उत्पन्न होने लगता है। बहुत दफा जो बातें प्रतिबन्धित होती हैं, उन्हीं को करने की भावना उसके मन में उत्पन्न होती है तथा वैसा करना स्वाभाविक हो जाता है। यदि मनुष्य को प्रलोभनों से दूर रखा जाये, अनेक बातों के अनुभव पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो, मनुष्य का अपना मूल-चरित्र विकसित नहीं हो पाता। विकास तब होता है, जब प्रलोभनों के विद्यमान होने पर भी उनसे दूर रहने की बुद्धि उसमें उत्पन्न की जाती है। चोरी का कभी मौका ही नहीं मिल पाया, इसलिए चोरी नहीं की, इस प्रकार की सुजनता अभावात्मक है। किसी ने प्रेम ही नहीं किया इसलिए मैं ब्रह्मचारी ही रह गया हूँ, इस कहने में जो नैतिकता है, वह अभावात्मक है। इसके विपरीत, प्रलोभनों के रहते हुए भी जिसने संयम से काम लिया हो तथा प्रवृत्ति के लिये तीव्र प्रेरणा के रहते हुए भी जिसने निवृत्ति से काम लिया हो, उसी व्यक्ति का शील सच्चा है, कसौटी पर खरा उतरा है, यह कहा जा सकता है। अत: समाज को व्यक्ति पर कुछ उत्तरदायित्व अवश्य डालना चाहिए। श्रेष्ठ नैतिक आदर्शों की जानकारी व्यक्ति के मन को करानी चाहिए तथा प्रतिबन्ध की व्यवस्था की रचना करते समय सारासार का विवेक करना चाहिए। व्यक्ति को उचित मात्रा में अनुभव प्राप्ति की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। अपने

चलेगा, वह कहीं गिरेगा भी। इन सब बातों का मौका उसे मिलना चाहिए। कांच के घर में रहने वाले पौधे की भाँति उसके जीवन की अवस्था नहीं होनी चाहिए। मनुष्य केवल खा-पीकर ही जीवित नहीं रहता। उसकी सजीवता उसके जीवित रहने पर ही अवलंबित नहीं रहती। जिंदा रहना है तो उसे सजीव रहना होगा, उसका मन उल्लसित होना चाहिए, उसके विचारों पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहना चाहिए, और जो भी नियंत्रण उसके विचारों पर हो वह उसके अपने अनुभव द्वारा खोज कर निकाला गया होना चाहिए। दूसरों के अनुभवों के आधार पर अपने जीवन को व्यतीत करना अपने जीवन के विकास को कुण्ठित करना सिद्ध होगा। अपने खुद के अर्जित अनुभव के बल पर जब वह व्यवहार करता है तब वह उत्तरदायित्वपूर्वक काम करता तथा उसके व्यवहार में गौरव प्रतिष्ठित होता है। अन्यों की भाँति व्यवहार एवं विचार करने का उपदेश देना उस व्यक्ति को गुलाम बनाना है। मनुष्य किसी भी देवता का भजन कर सकता है, पर उस पर इस बात की सख्ती की जाय कि हर एकादशी को उसे देवालय में जाना ही चाहिए, तो वह वहाँ जायेगा, उसका शरीर वहाँ रहेगा पर उसके मन में किसी अन्य ही देवता का प्रवेश हुआ होगा। यदि बाह्य नियमों द्वारा उसके मन पर जबर्दस्ती की जाय तो मन की विचारशीलता विलुप्त हो जायेगी। हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से विचार करने की आदत होनी चाहिए। और वह आदत हर क्षण तथा हर कहीं नियम एवं प्रतिबंधों के निर्माण से उत्पन्न नहीं होती। व्यक्ति अपने खुद के अनुभवों के आधार पर जो संयम स्वीकार करेगा, वही वास्तव में उपयोगी सिद्ध होगा। जो चोरी करना पाप है, ऐसा मन से मानता है, वह चोरी नहीं करेगा। जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति इसके विपरीत होगी वह, जब तक सामने पुलिस खड़ी है या अन्य कोई व्यक्ति उसे देख रहा है, तब तक चोरी नहीं करेगा; पर ज्यों ही ये लोग हट जायेंगे वह चोरी किये बगैर नहीं रहेगा। अतः व्यक्ति को स्वयं अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए। उससे उसके भीतर की विवेक वृत्ति जागती है, उससे उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति को अपने जीवन का दृष्टिकोण निश्चित करने का मौका दिया जाए तो उसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों ही का अधिकतम लाभ है।

व्यक्ति को उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के जीवनों में अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए, इससे वह अधिक उत्तरदायित्वयुक्त नागरिक बनता है, ऐसा हम ऊपर कह आये हैं। कानून से सामाजिक आचरण के बारे में कुछ नियमन करना हो तथा उसे पूर्ण सफल करना हो तो यह काम बहुत ही विचारपूर्वक किया जाना चाहिए। पहली बात यह होनी चाहिये कि यह नियमन सामान्यतया सब लोगों को प्रिय होना चाहिये। जिन-जिन लोगों के जीवन इन नियमों एवं निर्बन्धों से प्रभावित होने वाले हैं, कम-से-कम उन्हें तो अवश्य इन नियमों एवं निर्बन्धों के औचित्य का अनुभव होना चाहिये। जिस कानून को लोगों का समर्थन—स्वयं प्रेरित समर्थन—नहीं मिलता तथा जिसके तत्त्वों के बारे में जनता उदासीन रहती है या जिसका विरोध करती है, उस कानून का पालन केवल दण्ड के भय से किया जायेगा ऐसा पहले ही से मान कर चलना खतरे से खाली नहीं है। उससे कुछ

लोग उस कानून को मान लें तो मान लें; पर वह कानून एकदम गलत है, यह स्वीकार करना ही होगा। जहाँ सारासार का विचार नहीं किया गया, ऐसे कानून के भंग करने की ओर शनैः शनैः लोगों की प्रवृत्ति होने लगती है। कानून के पालन की प्रतिष्ठा कम हो जाती है तथा कानून के भंग करने की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। समाज में यदि कानून की अवज्ञा करने वाले का अधिक सम्मान होने लगे तो निश्चय ही कानून का समाज में होने वाला आदर लुप्त हो जायेगा तथा समाज को धारण करने वाले अनेक बन्धनों में से कुछ टूट जायेंगे। कानून की अवज्ञा करने वालों को लगने लगता है कि ये लोग कोई उत्तम काम, कोई शूरवीरता का काम कर रहे हैं। समाज की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रगति का आधार कानून है। कानून इन सब बातों का संरक्षक एवं प्रेरक होता है। कानून पर होने वाला कुठाराघात समाज के मूल पर ही होता है। समाज जड़-मूल से थरथरा उठता है। समाज का जीवन कानून के पालन के बल पर टिका रहता है तथा समृद्ध होता है। कानून का प्रतिनिधि होता है पुलिस वाला। उसके बारे में जो सम्मान एवं भय होना चाहिये, वही लुप्त हो जाता है तथा लोगों के मन में यह धारणा घर कर लेती है कि पुलिस वाला नागरिकों का शत्रु है, उनकी स्वतन्त्रता में विघ्न उत्पन्न करने वाला दुश्मन है। यह धारणा निश्चय ही हितावह नहीं है। आज उन लोगों का जहाँ-तहाँ सम्मान होता है, जो शराबबन्दी के कानून की अवज्ञा करते हैं। हाथ-भट्ठी लगाना एक कला समझी जाने लगी है तथा हाथ-भट्ठी की शराब चुआने एवं उसकी बिक्री करने के काम में बहुत-से लोग अपना कौशल खर्च करने लग गये हैं। इसे एक पराक्रम का क्षेत्र माना जाने लगा है। और जो लोग ऐसा करते हैं, उनकी बढ़कर प्रशंसा की जाती है कि वे लोग कानून की यह अवज्ञा समाज की सेवा के लिये एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये कर रहे हैं। जो प्रशंसा देशभक्त क्रान्तिकारियों, स्वातन्त्र्य चाहने वाले सत्याग्रहियों को मिलनी चाहिये, वह प्रशंसा एवं ख्याति निम्न श्रेणी के ये समाचार-पत्र इन शराबबन्दी का कानून भंग करने वालों को दे रहे हैं। हाथ-भट्ठी के समाचार तथा पुलिस वालों की इस काम में होने वाली फजीहत का चटखदार वर्णन जब लोग अखबारों में पढ़ते हैं, तो समाज का एक वर्ग शराबबन्दी के कानून के विरुद्ध होने वाले आचरण को अच्छा समझने लगता है। चोरी-छिपे शराब पीना शूरवीरता का काम समझा जाने लगा है। तथापि यह भी विचार करने योग्य है कि इस कानून को बनाते समय इस बात का विचार नहीं किया गया कि समाज को यह कानून कहाँ तक मान्य हो सकेगा। शराब-बन्दी के इस काम को यदि थोड़े से विवेक से किया जाता तो इस काम में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो जाती, आज गाँव-गाँव में विधिपूर्वक शराब चुआने की जो भट्ठियाँ हो गई हैं, वे न होतीं। इस गैर-कानूनी पेशे में पड़कर सीधे-सादे व्यक्ति भी गुण्डे हो गये हैं। सीधे तरीके से शराब पीना सम्भव न होने के कारण अनेक व्यसनी लोग वाममार्गी हो गये हैं। यदि शराबी को हम निर्व्यसनी बनाना चाहें और उसकी ओर से सहयोग न मिले तो हम कुछ नहीं कर पायेंगे। अतः हमें उसके सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता है। यदि शराब को एकदम बंद करने के बजाय थोड़ा-थोड़ा करके शराब की मात्रा कम करते तो कदाचित् हमें उसका

सहयोग प्राप्त हो जाता और उसे हम इस व्यसन से मुक्त कराने में समर्थ हो पाते। कुछ दिन हम केवल हफ्ते में एक दिन के लिये शराब-बंदी करते। उसके बाद दिन में केवल एक निश्चित समय में तथा एक निश्चित स्थान पर ही मिलेगी ऐसी व्यवस्था करते। इससे हम उसे इस दुर्व्यसन से बचाने में सफल हो पाते। पर एकदम अविवेक से, अव्यावहारिकतापूर्वक शराब-बंदी करने से कुछ मात्रा में अच्छे फल अवश्य मिले होंगे तो भी कुछ बुरे फल भी निश्चित ही हुए हैं। अनेक सामान्य लोग अपराधजीवी हो गये हैं। आज बम्बई में एक ऐसा जग तैयार हो गया है, जिसे 'अण्डर वर्ल्ड' (भूमिगत जगत्) कहा जाता है। संगठित अपराधों की संख्या बढ़ गई है। इन सब बातों को टाला जा सकता था। शराब-बंदी से सद्गुणों की वृद्धि हो, जीवन अधिक सुखी एवं संयमयुक्त हो, यह उद्देश्य बहुत ही कम मात्रा में पूरा हो पाया है। समाज में किसी भी व्यसन की ओर देखने की जो एक नैतिक दृष्टि आवश्यक होती है, वह कम हो गई है तथा सर्वसामान्य वातावरण असंयत जीवन की ओर ले जाने वाला हो गया है। समाज की नैतिकता की रीढ़ खत्म गई है तथा समाज का नैतिकता से सम्बन्धित सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो गया है।

समाज में उत्पन्न हुई उपरिनिर्दिष्ट स्थिति समाज के नेताओं के लिये विचार करने योग्य विषय है। सरकार को वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, उसके ऐसा करने के कारण ही सब हुआ है, ऐसा कहना सर्वांश में सत्य नहीं है। पहले महायुद्ध के बाद नवीन विचारों की लहर सारे समाज में फैल गई तथा नई पीढ़ी पर नवीन विचारों की एक छाप बैठ गई है। पुराने नेता तथा पुराने लोग राष्ट्र का उपयोग वर्गविशेष के स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया करते हैं। देश के तरुणों की प्रेरणा को मुट्ठीभर लोगों के स्वार्थ के लिए काम में लाया जाता है। समाज के बहुसंख्यक लोग वस्तुतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में गुलाम हो जाते हैं और उन्हें गुलामी में ही बनाये रखने के लिये संस्कृति, तत्त्वज्ञान एवं साहित्य का उपयोग किया जाता है। समाज का आर्थिक एवं सांस्कृतिक विरोध स्थूल रूप लेता चला जाता है। सार्वतन्त्र-स्वतन्त्र इस आर्थिक व्यवस्था में मालदार लोग और ज्यादा मालदार होते जाते हैं। गरीब लोग और ज्यादा गरीब होते जाते हैं। समाज में ऐसा कोई विचार अवशिष्ट नहीं रह जाता, जो उनमें समन्वय की स्थापना कर सके। ऐसी परिस्थिति बना दी जाती है, जिसमें मेहनत करने वाले ज्यादा मेहनत करें तथा पूंजीपतियों के हाथ में असीम सम्पत्ति पहुँच सके। सम्पत्ति एक ऐसी सनद है, जो शासनसत्ता पर भी अपना प्रभुत्व जमा सके। इसका फल यह होता है कि समाज में अन्याय बढ़ जाता है, संघर्ष की वृद्धि होती है तथा जो कुछ मौजूद है, उस सब को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की वृत्ति बढ़ जाती है। और तब यह वृत्ति पुराने सामाजिक संयम एवं अनुशासन को कबूल नहीं करती। पुराने के प्रति आदर घट जाता है। पुरानी दुनिया मार्ग दर्शक नहीं रह जाती। यह समझ कर कि जो कुछ मौजूद है, उसकी तरफदारी करने से अन्याय को बरकरार रखने जैसा ही जाता है, लोगों के मन उसे दूर करने के लिये अधिक निर्भीक हो जाते हैं। वे खुल्लमखुल्ला अनुत्तरदायिता से काम लेने लग जाते हैं। ऐसी अवस्था में सरकार द्वारा लोगों के जीवन में लोकमत के विरुद्ध किये

गये हस्तक्षेप का फल यह होता है कि समाज के सारे नैतिक बन्धनों का एवं सामाजिक अनुशासन का पूर्णतया उच्छेद हो जाता है। अतः संक्रमण के काल में, जबकि नवीन विचारों की जलधारा बहुत वेग से बहा करती है, यदि कानून का परिपालन करना है तो कानून को अधिकाधिक मात्रा में जनमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। यदि सरकार अपराध के स्वरूप की ओर ध्यान न देते हुए सजा की मात्रा निश्चित करने लगे, परिस्थिति और अधिक बिगड़ जाती है। न्याय के सम्बन्ध में लोगों के मन में आदर नहीं रह जाता तथा जो सजा दी जाती है, उसके अनौचित्य को लेकर और अधिक चिढ़ पैदा होती है। समाज में ऐसी अवस्था का रहना अभीष्ट नहीं है। यदि अप्रिय कानून को लादा गया तथा सख्ती से उसका परिपालन कराया गया तो उसके विरुद्ध जो भावना पहले ही मौजूद थी वह और अधिक होने लगती है। और उस समय बलिदान देने की एवं हुतात्मा होने की वृत्ति बहुत बड़े पैमाने पर समाज में उत्पन्न होती है। या कहिये उत्पन्न की जाती है। और उस समय कानून का परिपालन एक टेढ़ी खीर हो जाती है। इस प्रकार के सारे अनुभव को ध्यान में रखकर, कानून बनाते समय सरकार को जनता की भावनाओं का अधिक सम्मान करना चाहिये। कानून न बनाने से स्वतन्त्रता का किसी मात्रा में दुरुपयोग किया जाएगा तथा कानून बनाने से जो दुष्परिणाम होंगे, वे किस प्रकार के होंगे, इसका हिसाब लगाकर सरकार को कदम उठाने चाहिये। बहुत दफा कानून का उपहास होता है। साफ-साफ विरोध न भी हो तो भी उसे इतना तुच्छ गिना जाता है कि खुल्लमखुल्ला कानून का भंग करने से समाज में जो परिणाम दृष्टिगत हुआ करते हैं, वही परिणाम कानून का उपहास करने तथा उसे तुच्छ समझने से भी होने लगते हैं। इसी प्रकार सरकार को भी चाहिए कि व्यक्ति के किन्हीं कृत्यों को तान्त्रिक दृष्टि से दोषार्ह समझ कर तत्काल सजा का हथौड़ा अपराधी के सिर पर न चलाये। बहुत दफा उपेक्षा करने तथा तुच्छता प्रदर्शित करने से जो परिणाम होते हैं वे सजा से भी ज्यादा अच्छे होते हैं। सत्याग्रहियों के विरुद्ध की जाने वाली सरकारी कार्रवाई से बढ़ने वाली प्रतिष्ठा को देखकर कुछ एक महानुभावों ने सिर्फ अपनी प्रतिष्ठा के लिये सत्याग्रह के सिद्धान्त में विश्वास न होते हुए भी सत्याग्रही बनने का नाटकीय साहस किया और हूँठ सरकार ने भी उन्हें १ रु० जुर्माना करके या आगे से ऐसा मत करना यह उपदेश देकर छोड़ दिया। फल यह हुआ कि उन लोगों के प्रति लोगों का धेला-भर भी विश्वास नहीं रह गया। कहने का अभिप्राय यह है कि कानून का परिपालन कब किया जाय, किस चतुराई से किया जाय इन बातों का विचार विवेकपूर्वक किया जाना चाहिये। व्यक्ति की स्वतन्त्रता अधिक महत्व की वस्तु है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा राज्य की प्रतिष्ठा का एक अंश है। आजकल बड़ी छोटी छोटी बातों को लेकर आमरण उपवास की घोषणा की जाती है। ऐसी घोषणाओं का जवाब उपेक्षा से देना ठीक रहता है। परन्तु उसका उद्देश्य यदि महत्त्वपूर्ण हो तो उस मामले में बड़ी चतुराई से काम लेना चाहिए। अन्न-सत्याग्रह द्वारा किसी अप्रिय वस्तु को करने के लिये बाधित करना एक प्रकार से हिंसा का ही आश्रय लेना है और बहुत दफा अन्न सत्याग्रह की बात मान लेने से कानून की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है। वैसा

होने का मतलब यह हुआ कि कुछ-एक व्यक्तियों के हठ या पागलपन के लिए बहुसंख्यक लोगों की स्वतन्त्रता की अवगणना करना। यदि सामान्यतया बहुमत द्वारा कोई कानून पास हुआ है, तो अन्न-सत्याग्रह की चुनौती को स्वीकार करना चाहिये। बार-बार सत्याग्रह होने लगे तो लोग भी उसकी मजाक उडाने लगते हैं तथा उस शस्त्र की प्रतिष्ठा एवं पवित्रता भी नष्ट हो जाती है। अन्न-सत्याग्रह की स्वतन्त्रता हर किसी को है। तथापि यदि उस स्वतन्त्रता का असर सारे समाज पर पड़ता हो, तो सरकार को उचित कार्रवाई करनी चाहिये। यदि बात मान लें तो वह नैतिक गलती होगी, तथा वैधानिक दृष्ट्या एक अनुचित बात होगी। और यदि उसे वैसे ही मरने दिया जाय तो अज्ञानी तथा भावुक वृत्ति वाला लोकमत क्रुद्ध हो उठेगा और कुछ ऐसी बात हो जाती है, जिसकी उम्मीद तक नहीं की गई थी तथा उसका फल होता है सामाजिक असन्तोष। तात्पर्य यह कि कानून इस प्रकार के होने चाहिये, जो अधिक-से-अधिक लोकमत के अनुकूल हों। लोगों की भावना को बहुत अधिक ठेस न पहुँचाने वाली सरकारी नीति तथा उसका परिपालन होना चाहिए।

सामाजिक क्षेत्र में जिन बातों पर सरकार ने रोक लगा रखी है या अंकुश लगा रखा है, उनके बारे में यदि लोकमत बहुत अधिक विरुद्ध हो तो जनता को उन वस्तुओं को प्राप्त कराने के लिये वाम-मार्ग का आश्रय लिया जाता है। शराब सीधे रास्ते से सरकार नहीं देती तो हाथ-भट्टियाँ शुरू हो जाती हैं तथा वाम मार्ग से निषिद्ध वस्तु का सम्भरण एक फायदेमन्द धन्धा ही हो जाता है। और इस धन्धे में पड़नेवाले सीधे-सादे लोग भी उपरिनिर्दिष्ट रीत्या साहसी बन जाते हैं। अच्छे कार्य के लिए होने वाले कानून के उल्लंघन को समय-असमय लोगों द्वारा आश्रय मिलते रहने से उस मार्ग का अवलम्बन करने की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो जाती है। वह शस्त्र लोकप्रिय हो जाता है। उसमें लोगों की ख्याति भी बढ़ती है। उसके पीछे की उत्तम भावना तो एक ओर हट जाती है और समाज का गुण्डागर्दी करने वाला तत्त्व उसका उपयोग सरकार के विरुद्ध करने लग जाता है। कानून का उल्लंघन संगठित रूप से होने लगता है। शराब-बन्दी के बाद शराब की बिक्री का उद्योग-गैर-कानूनी उद्योग कितना संगठित हो गया है, इसका अनुभव बम्बई राज्य के लोगों को बहुत अच्छा है। दवा के नाम पर शराब की बिक्री की जाती है। अनेक मनोरंजन संस्थाएँ, बाहर से मनोरंजन एवं भीतर से मदिरा-पान करती हैं। शराब-बन्दी न होती तो शराब की बोतल के जो दाम होते प्राय उससे कई गुना दाम उसके मिलते हैं। अधिक मुनाफे की वजह से लोग अधिक खतरा भी मोल लेने के लिये तैयार हो जाते हैं। इंग्लैंड तथा अमेरिका में निषिद्ध वस्तुओं की बिक्री करने वाले व्यापारी लखपति हो गये हैं। यह बात नहीं कि उन्हें सजा नहीं मिलती। पर जेल जाने में उन्हें कोई खास तकलीफ नहीं होती। किंबहुना, उस उद्योग की वह एक सामान्य अवस्था मानी जाती है। रजिस्टर्ड न हुई पर उतनी ही कार्यक्षम एवं संगठित ये अवैध व्यापार करने वाली संस्थाएँ होती हैं तथा बारी-बारी से जेल में जाने को उनकी तैयारी होती है। पुलिस भी यह सब जानती है तथा राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी भी इस चोर-बाजारी में शामिल रहते हैं। उनके बीच एक किस्म का समझौता हुआ रहता है। इन सब उद्योग-धन्धों

सारी गेली नित्यनवीसोगें माली' (अर्थात् पुराने रीति-रिवाज सब चले गये और उनकी जगह नये-नये स्वांग आने लगे) यह ५० वर्ष पूर्व का रचा गया पद मुझे लगता है सनातन हो गया है। आज भी उसका उपयोग किया जाता है और अनन्त काल तक किया जाता रहेगा। लोकतन्त्र के युग मे लोगो को इकट्ठा होने की छूट है। लोगों के संगठित होकर किये गये प्रयत्नों को यों सफलता न भी मिले तो भी प्रसिद्धि तो उन्हें कुछ-न कुछ मिल ही जाती है। समाज में चर्चा होती है। समाचार-पत्रों मे उनके बारे मे वाद-प्रतिवाद होता है। येन केन प्रकारेण इन महानुभावों द्वारा अनभीष्ट ठहराई गई बातें सर्वसाधारण जनता की आँखों के सामने आ जाती है। ज्ञान के क्षेत्र मे किए गए नए-नए आविष्कार उनकी दृष्टि में उत्पात मचाने वाले सिद्ध होते हैं तथा धार्मिक मामलो मे युक्तिवाद को थोडा-सा भी स्थान दिया गया तो इनके माथे ठनक उठते हैं। देवता के सम्बन्ध मे किए विनोद को ये लोग समझ नही पाते हैं तथा एकदम कहने लगते हैं कि सरकार को इन लोगों के विरुद्ध कार्रवाई करना चाहिये। कम्यूनिस्ट लोगों का तत्वज्ञान इन्हें सुहाता नहीं। समाजवादी लोगों का तत्त्वज्ञान इन्हे सुहाता नही। प्रयत्नवाद इन्हे पचता नहीं। पुरानी हिन्दू धर्म की कल्पना के अनुसार समाज के सब लोगों को सीढ़ी की भांति काम व्यवहार करना चाहिए, ऐसा वे लोग कहते हैं। हरिजनो का मन्दिरों मे जाना वे लोग बर्दाश्त नही कर सकते। साथ बैठकर भोजन करने को वे लोग महापाप समझते हैं। और जब कोई बात उनके मन के मुताबिक नही होती तो कहते हैं कि कालचक्र ही उलट गया है। भैया, कलियुग है क्या किया जाय। ऐसा कहकर मुश्किल से प्रचलित बातो के साथ अनुकूलता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। यह सनातनी प्रचलितवादी, घिसी-पिटी, सड़ी-गली मनोवृत्ति केवल भारत में ही हो ऐसी बात नही, सभी देशो और सभी कालो मे यह रहती है। उसका मुख्य लक्षण है, नये विचारों एव नये प्रयोगों से अरुचि। और इसीलिए इन लोगो की जिद के आगे सिर झुका कर राज्य-सत्ता का कुछ-का-कुछ कर बैठना अनुचित एवं प्रगतिशील स्वतन्त्रता की दृष्टि से अहितकर है।

समाज में हर व्यक्ति को मत की तथा विचार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। और यदि यह स्वतन्त्रता न हो, तो मनुष्य एव मानव यह पदवी यथार्थ नही हो सकती। दोनो शब्दो मे मन् धातु है। उसका अर्थ है विचार करना। जो विचार करता है, वही मनुष्य या मानव हो सकता है। अत. मानव के मुख्य लक्षण विचार करने से असगत वातावरण, समाज मे नही रहना चाहिये। मनुष्य के मन मे जो विचार आते हैं, उनका सम्बन्ध उसके चारो ओर की परिस्थिति के साथ होता है। किसी शोसल में मनुष्य विचार नही किया करता। उसके विचारों का जन्म उसके चारो ओर उपलब्ध होने वाली परिस्थिति मे से होता है। समाज की परिस्थिति विविध प्रकार की होती है। कोई बहुत सुखी होता है तथा कोई दु:खी होता है। कहीं खाने और पहनने की सीमा नहीं होती तो कहीं दर दर भटकने एव घुटने मे सिर छिपाकर सर्दी बिताने की नौबत रहती है। भर्तृहरि के कथनानुसार विरोध से भरा हुआ यह जग सुसमय है या दु:समय है, यह कोई नही

सकता। और जिसे जिस किस्म का अनुभव आया होगा, तथा जिस हालत में वह जीवन बिता रहा होगा, उस हालत के अनुसार ही वह व्यक्ति विचार करेगा। अतः सब लोगों को एक ही नवैने से नापना ठीक नहीं। कोई बात ऊपर के दर्जे के लोगों को प्रिय लगती है, तो वह नीचे के सभी दर्जों को प्रिय लगनी चाहिए ऐसी एकरूपता से जीवन में काम नहीं चलता। किसी को स्वयंवर नाटक में रुक्मिणी के शालीन एवं लालित्यपूर्ण हाव-भाव अधिक भाएँगे तो किसी को तमाशों में नाचने वाली किसी कौशल्या का ऊबड़-खाबड़ अभिनय ही अच्छा लगेगा। जहाँ अभिरुचि की यह अवस्था हो, वहाँ यह कहना कि फलाँ बात ऐसी होती तो अच्छा होता या बुरा होता, केवल बड़े मिजाज वालों का दिखावा भर होगा। अतः ऐसे मिजाज वालों का दबदबा रहे तो समाज की कलात्मक प्रगति उत्कृष्ट कोटि की नहीं हो सकती। मानसिक स्वतन्त्रता के वातावरण में कला का उत्तम विकास होता है। साहित्य प्रतिक्षणरमणीयता एवं रसोत्कर्ष दिखलाता है। बहुत अधिक सोज्ज्वलता प्रगतिकारक समाज के राह में रोड़ा अटकाने वाली है। निरर्थक लम्बी नाक वाले आलोचक साहित्य-क्षेत्र में उछल-कूद मचाने लग जाएँ तो रसिकता संकुचित हो जाती है और कभी-कभी लुप्त तक हो जाती है। श्रेष्ठ साहित्यिक व्यक्तियों के जीवनों के लिए तथा श्रेष्ठ कलाकारों की कला के लिए इस प्रवृत्ति के व्यक्ति राहु एवं केतु का काम करते हैं। अतः समाज की सर्वाङ्गीण प्रगति के लिए समाज में मानसिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। विचारों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। साथ ही उपरिनिर्दिष्ट स्वरूप की विचारधारा के भूतों को समाज एवं सरकार की ओर से उपेक्षा एवं दुर्लक्ष द्वारा शान्त कर दिया जाना चाहिये। सामान्यतया व्यक्ति अपने व्यवसाय से बाहर अधिक नहीं झाँकता। नवीन विचारों का वह स्वागत किया करते हैं तो भी सब को इस बात का अहसास नहीं होता कि उनके लिए कुछ त्याग करना चाहिए अथवा अधिक जागरूक रहना चाहिए। अपना घर फूंक कर औरों के घर की आग बुझाने का धन्धा सिर्फ बेकार की उखाड़-पछाड़ करने वाले लोग ही किया करते हैं, ऐसा माना जाता है। अतएव सरकार को ही सावधानी बरतनी चाहिए। लोगों के मनों पर जो परम्परागत संस्कारों का बोझ लदा हुआ है, उन्हें हलका करने के सारे प्रयत्नों को सरकार को स्वागतार्ह मानना चाहिये तथा प्रतिक्रियावादी शोर-शराबे के सामने सिर झुकाकर मत-स्वतन्त्रता एवं विचार-स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं लगाना चाहिए। स्वतन्त्रता चूंकि एक मौलिक प्रवृत्ति एवं अवस्था है, अतः यही मान कर चलना चाहिए कि उसका सदुपयोग ही होता है। स्वतन्त्रता के मानी स्वैराचार नहीं है यह सिद्ध करना उन लोगों का काम है जो इसका विरोध करते हैं। जो लोग कहते हैं कि स्वतन्त्रता को अंकुश लगाया जाना चाहिए, उनका यह उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वे सिद्ध करें कि स्वतन्त्रता का जो उपयोग किया जा रहा है, वह दुरुपयोग है। और जब तक यह सामान्य जनता की बुद्धि में नहीं उतरता कि वास्तव में स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया जा रहा है तब तक सरकार को विचलित होने की आवश्यकता नहीं। स्पष्ट शब्दों में स्वतन्त्रता के विरोधी लोग कभी नहीं कहेंगे कि वे मत-स्वतन्त्रता किंवा विचार-स्वतन्त्रता के विरोधी हैं।

क्योंकि वह स्वतन्त्रता उन्हें भी अभीष्ट होती है। तथापि वे कहेंगे कि समाज के हित के लिये हम चाहते हैं कि स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाये जायें। मानो समाज के हित का सारा ठेका उन्होंने लिया हो। चूंकि वे लोग अधिक जोर से चिल्लाते है, अत. उनकी बात मानी जाय, या उनका कथन समूचे समाज का कथन है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नही। चूंकि देश के सारे समाचार-पत्र एकमत होकर किसी विचार-धारा अथवा आचरण पर टूट पड़ें तो उसे उसी रूप मे ठीक समझकर तत्काल उसके विरुद्ध सरकारी कार्रवाई करना उचित नहीं होगा। सम्बन्धित बात की असामाजिकता एवं अनौचित्य का पता सरकार को स्वतन्त्र रूप से चला लेना चाहिये। और तभी उसके विरुद्ध कोई उपाय किया जाना चाहिए, जब पक्का विश्वास हो जाय कि वह बात वस्तुत. असामाजिक एवं अनुचित है। सारी दुनिया का अनुभव यह बताता है कि विचार-स्वतन्त्रता से ही ज्ञान की उन्नति हुई है। राजकीय एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता इसी स्वतन्त्रता की कोख से पैदा हुई है। यदि यह स्वतंत्रता नहीं होगी तो लोकतंत्रात्मक शासन-पद्धति का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता, इतना ही क्यों, समूचे जगत् का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकेगा, मत-प्रदर्शन तथा संगठन का अधिकार ये दोनों स्वतन्त्रता की श्वासनलिका (लंग्ज़ ऑफ फ्रीडम) हैं, यह महात्मा गांधी-कथन सत्य है।

प्रकरण—३

स्वतन्त्रता तथा सामाजिक अंकुश

पहले प्रकरण मे हम स्वतन्त्रता के अर्थ के सम्बन्ध में सामान्य रूप से निरूपण कर आये हैं तथा यह भी विशद कर चुके हैं कि व्यक्ति की उन्नति तथा उसके मानसिक विकास के लिये स्वतन्त्रता की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही समाज की धारणा के लिये भी उसकी आवश्यकता है। दूसरे प्रकरण में हमने बताया कि स्वतंत्रता की व्यापक कल्पना मे विविध क्षेत्रो की स्वतन्त्रताओं का अन्तर्भाव होता है। उनमे से विचार स्वतन्त्रता तथा उसका आविष्कार जिसके द्वारा है, उस व्यक्तिगत मत-स्वतन्त्रता एवं सङ्गठन स्वातन्त्र्य का विवेचन किया। अब हम पहले स्वतन्त्रता का विचार सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से करने जा रहे हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति को अपने सुख एवं जीवन की परिपूर्णता की अनुभूति के लिए अभीष्ट एवं आवश्यक है। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ बतलाते हुए हमने यह बताया कि मनुष्य के सुख के मार्ग मे जो प्रतिबन्ध या सीमाएँ रुकावट बनकर आती हैं, उनके अभाव को स्वतन्त्रता कहा जाता है। व्यक्ति के सुख का अर्थ लोग करते हैं कि व्यक्ति को होने वाली इस बात की अनुभूति कि जो कुछ उसके पास है, वह उसी के लिए है। पर यह कसौटी ठीक नही। व्यक्ति के सुख के सम्बन्ध मे विचार करते हुए समाज के सन्दर्भ को एव परिस्थिति को आंखो के सामने अवश्य रखना चाहिए। यदि मनुष्य का प्रत्येक विचार कार्यान्वित हो जाए, या उसकी प्रत्येक इच्छा परिपूर्ण हो जाए, तो समाज मे उपद्रव खड़ा हो जायेगा। क्योंकि अनेकों की इच्छाएं अन्य अनेक व्यक्तियो की इच्छाओं के साथ टकरा जाती हैं, अतः विविध जनो की इच्छाओं के बीच समन्वय की आवश्यकता होती है तथा उसके लिए किन्ही मानको एवं पैमानो की जरूरत होती है। भावण स्वातन्त्र्य न हो तो स्वतन्त्रता नही रह सकती, यह सिद्धान्त आधुनिक विश्व मे सर्वमान्य हो चुका है। इसी प्रकार समाज के किन्ही इने-गिने या खास-खास लोगो को ही खास-खास अधिकार देकर अन्यों को उनसे वंचित रखना भी स्वतन्त्रता की कल्पना से मेल नही खाता। इसी प्रकार थोड़े-से लोगो ने जिन बातो को मंजूर किया हो, उन्हें सब पर लादना, या किसी विशिष्ट विचारधारा को सब पर लादना अथवा किसी परम्परागत विचारधारा को ही समाज की वैचारिक सृष्टि मे सर्वाधिक शक्तिशाली बना डालना—आदि बातें भी स्वतन्त्रता के अस्तित्व के अभाव को ही सूचित करती हैं। तालाब मे पानी ढेर-सारा हो, पर उसका अस्तित्व तभी सार्थक है, जब वह प्यासो की अंजलि में पहुँच जाये और उससे प्यासा अपनी प्यास बुझा सके। यही बात सामाजिक जीवन के बारे में भी सही है। मनुष्य के अपने व्यक्तिगत जीवन मे जो अनुभव आयेंगे उन्ही को वह अपनी आँखो के सामने रखेगा तथा उन्ही के आधार पर वह अपनी धारणाएँ बनायेगा। इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करने तथा उनके अनुसार अपने मत या धारणाओं के बनाने की एवं उन्हें अभिव्यक्त करने की उमे

पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि इस क्षेत्र मे किन्ही खास मतों एवं धारणाओ को ही शक्तिशाली बनने दिया गया तो उनके विरुद्ध आवाज उठाने अथवा अपने मत को प्रगट करने का अवसर कानून से मिलने पर भी यदि समाज मे प्रचलित प्रथा या परम्परा के कारण मुश्किल हो जाये तो इसका अर्थ यही होगा कि वहाँ स्वतन्त्रता नही है। भले ही किसी ने नाक बन्द न की हो, मुँह बन्द न किया हो, तो भी किसी-न-किसी ने दम जरूर घोट रखा है, ऐसा कहना होगा। रास्ता खुला है, पर उस पर चलने का मन को साहस नही होता, ऐसा कहना होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजसत्ता की भांति समाज की सत्ता भी सिंहासन पर बैठकर लोगो पर हुकूमत करती है। राजसत्ता युद्ध नही करती, किसी किस्म की रुकावट नही डालती तो भी बगैर यूनिफार्म का लोकमत का फौजदार लोगों को डराना-धमकाता ही रहता है और लोग उससे डरते रहते है। 'लोगों की न सही मन की लाज तो महसूस होनी ही चाहिए' यह कहावत यहाँ उलटी हो जाती है: मन निर्लज्ज न भी हो, तो भी निश्चयी बन जाता है; पर लोकमत का हौआ उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है और बहुसंख्यक लोग उसके सामने डर जाते हैं, गड़बड़ा जाते हैं। 'सामाजिक पशु' होने के कारण मनुष्य का सब कुछ समाज से बँध जाता है। समाज के वातावरण से संलग्न हो जाता है। वह कितना भी चाहे, अपनी इच्छा के अनुसार खुलकर बोल नही सकता, व्यवहार नहीं कर सकता। इस मामले मे राज्य की ओर से उस पर कोई पाबन्दी नही रहती, पर वह पाबन्दी रहती है लोकमत नामक एक अदृश्य किन्तु अत्यधिक शक्तिशाली सिपाही की ओर से। राह पर चलते वक्त यातायात का नियन्त्रण करने वाला पुलिसवाला न भी हो तो भी वह अपनी इच्छा के अनुसार कहीं जा-आ नही सकता। सभा के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं, तो भी जमा हुए लोगों के सामने वह अपनी इच्छा के अनुसार कुछ बोल नहीं सकता। यदि हम कहें कि उसका मन सामाजिक नियमो से डरता है, तो कोई अत्युक्ति नही होगी। इसका कारण यह है कि उसने अपने जीवन को दूसरों के जीवन के साथ एक कर दिया है तथा अन्यों के जीवन उसके जीवन के साथ एक हो गए हैं। जब बाघ और आदमी एक-दूसरे के नजदीक आते हैं तो दोनो के दोनों मन-ही-मन एक-दूसरे से डरते हैं। ऐसी ही कुछ स्थिति यहाँ भी है। समाज में शान्ति बनी रहे, उसमें उत्पात न हो, तथा उस उत्पात से समाज को बचाने के काम मे हमे अपनी जिम्मेदारी को समझना चाहिए यह भावना अनजाने हर व्यक्ति मे सामान्यतया उत्पन्न होती है। यह भावना ही है, जो मनुष्य की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करती है और इस कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता निरपेक्ष नहीं हो पाती। यह भावना समाज मे समाज को प्राप्त हुए अनुभवो के आधार पर उत्पन्न होती है और चूँकि व्यक्ति समाज का ही एक अंग है; अतः उसके भीतर भी इस भावना का पैदा होना अनिवार्य हो जाता है। दूध से भरे कटोरे मे चीनी मिला दी जाये तो दूध की हर बूँद में चीनी की मिठास आ जायेगी। यदि पानी से भरे गिलास में नींबू निचोड़ दिया जाये, तो पानी के हर कतरे में नींबू की खटास आ जायेगी। इसी प्रकार समाज में जो कुछ होता है, वह चाहे अच्छा हो या बुरा, लाभदायक हो या हानिकारक, उसका प्रभाव समाज के अंगभूत हर व्यक्ति पर

पड़ेगा तथा इस प्रकार समाज में जो परम्पराएँ जन्म लेती हैं, जो आदर्श सामने आते जाते हैं, ये सहज ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से बन्धनकारक हो जाते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत ऐसे बहुत से बन्धन आगे चलकर कानून का रूप ले लेते हैं तथा उनका स्वरूप 'हुक्म' सा-सा हो जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि सरकार अथवा राजसत्ता जिन परम्पराओं अथवा आदर्शों को मान ले, वे पूरी तरह से उचित अथवा श्रेष्ठ हैं। 'हुक्म हुआ है' अतः वह उचित है। ऐसा मर्यादित रूप से मान लेना ठीक नहीं कहा जा सकता। पर स्वतन्त्रता की रूपरेखा उस पर लगे प्रतिबन्धों की रूपरेखा के जानने से स्पष्ट होती है, यह मानना पड़ेगा। सूत्र के अर्थ को स्पष्ट रूप से ही जानने के लिए उसकी टीका को देखना पड़ता है। ऐसा ही कुछ मामला यहाँ भी समझना चाहिए।

यों स्वतन्त्रता तथा उस पर लगे प्रतिबंध परस्पर विरोधी शब्द प्रयोग होते हैं। तथापि, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हमें यह मानना ही होगा कि स्वतन्त्रता तभी सही है, जब उस पर कुछ प्रतिबन्ध हो। अर्थात् बन्धन ही में मुक्ति निहित है, ऐसा कहना होगा। भाषा की रूपरेखा तथा शब्दों के अर्थों को ठीक ठीक जानने के लिये जिस प्रकार व्याकरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्वतन्त्रता की रूपरेखा को ठीक ठीक जानने के लिये बन्धनों की भी आवश्यकता है। जो बन्धन एवं प्रतिबन्ध समाज स्वयं निर्माण करता है, उनके पीछे अनुभव का एक बहुत बड़ा संचय काम करता है। समाज के दीर्घकालीन अनुभवों के आधार पर जो बंधन अथवा प्रतिबन्ध जन्म लेते हैं, उन्हे स्वीकार करने मे नैतिकता एवं स्वाभिमान की कोई हानि नहीं है। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में परीक्षा करने के बाद जो सिद्धान्त स्थिर हो जाते हैं, उनके बारे में फिर से संदेह प्रकट करना उचित साबित नहीं होता। तथा उन सिद्धान्तों को स्वयंसिद्ध मान कर आगे विचार किया जाता है, अगले परीक्षणों की योजना बनाई जाती है। इसी प्रकार समाज के अनुभवों, किन्हीं आदर्शों को स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है, क्योंकि समाज के जीवन में वे पूरी तरह स्थापित हो जाते हैं। एक दृष्टि से उन्हे सनातन रूप प्राप्त हो जाता है, तथा उन्हे सर्वसम्मत तथा विरोधहीन मान कर नागरिक लोग अपने जीवन की मंजिल की ओर बढ़ते हैं। रास्ते में, जहाँ रास्ते कई दिशाओं में जा रहे हों, वहाँ यदि कौन सा रास्ता कहाँ जा रहा है, यह बताने वाली पट्टियाँ लगी हों, तो यात्री को बहुत सुविधा हो जाती है। उसे यह जानने के लिये परेशान या व्याकुल होने की जरूरत नहीं रह जाती कि कौन-सा रास्ता कहाँ जा रहा है। तथा उसके बाद उसका ध्यान रास्ते की मुसीबतों को दूर करने, *अपनी चाल को तेज या धीमी करने के मामलों में फैसला करने और यह निश्चय* करने मे लग जाता है कि उसे उस रास्ते पर पैदल जाना है, साइकिल से जाना है, रेल से जाना है या मोटर से जाना है। पर उसे इस बारे में शंका नहीं रह जाती कि रास्ता उसे कहाँ ले जायेगा। वह रास्ता कहाँ जायेगा, यह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार संसार के अथवा जीवन के रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति की अवस्था भी समझनी चाहिये। जीवन में प्राप्त अनुभव तथा उन पर आधारित आदर्श तथा परम्पराएँ उसे स्पष्ट रूप से बताते है कि जीवन

का यह रास्ता कहाँ जा रहा है। इतना ही वे आदर्श उसे यह भी बताते हैं कि उसे किस मार्ग पर जाना चाहिये। यह व्यक्ति की अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है कि वह उन आदर्शों की बात को स्वीकार करे या नहीं। उसे यह भी प्रेरणा हो सकती है कि वह अपने लिए कोई नया ही रास्ता खोज निकाले। उसे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है, वह जो कुछ करने जा रहा है, उसका अन्त क्या होगा तथा उसने अपने लिए जो रास्ता चुना है वह अन्त में उसे कहाँ ले जायेगा। जो अनुभव औरों को आया है, सामान्यतया वह अनुभव उसे भी आयेगा। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसके अनुभव में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहेगी। जिस रास्ते की कानून ने मनाही की है, उसका अनुसरण करने से समाज के लोगों द्वारा पुरस्कार मिलने के स्थान पर उसे कानून के पुलिस के डंडे मिलेंगे। लोगों के अनुभव को वह मानेगा नहीं तो उसे अपने द्वारा उपार्जित अनुभव की कीमत चुकानी होगी। उसे समाज की उपेक्षा, विरोध तथा बदनामी का पात्र बनना होगा। कानून को न मानने के कारण जो प्रायश्चित्त उसे भोगना पड़ेगा, उसी से काम चल जाय, ऐसी बात नहीं है। अतः कानून का उल्लंघन न करके सीधे रास्ते पर चलने में ही उसका फायदा अधिक है। यदि वह मन में यह पक्का निश्चय कर ले कि मुझे समाज के विरोध की पर्वाह नहीं करना है, समाज एवं लोकमत की सीमाओं को नहीं मानना है तथा अपने मौलिक अधिकारों की प्रेरणा से उसे स्वतन्त्रता का उपभोग करना है, तो वह कुछ समय के लिए, वैसा कर सकता है। पर ज्यों ही उसकी स्वतन्त्रता एवं कानून में विरोध उत्पन्न हो जायेगा त्यों ही कानून के बन्धन उसे निष्क्रिय बना डालेंगे, इसमें सदेह नहीं। तब स्वतन्त्रता का अर्थ एक दृष्टि से यह हो जायेगा कि कानून के अनुसार चलते हुए तथा कानून का विरोध न करते हुए, जो उपलब्ध हो, सिर्फ वही स्वतन्त्रता है।

सच्ची स्वतन्त्रता वही है, जो मौजूदा कानून के खिलाफ न जाय। इतना ही नहीं, कानून तथा स्वतन्त्रता में जितनी अधिक सुसंगति रहे, स्वतन्त्रता के उपभोग में उतना ही अधिक स्वारस्य रहेगा। पर यहाँ कानून का अर्थ, उसे किसी अधिकृत संस्था अथवा व्यक्ति ने बनाया है, ऐसा संकुचित नहीं है। यहाँ कानून का अर्थ---कानून का महावस्त्र व्यक्ति एवं समाज के अनुभव रूपी ताने-बाने से बुना है, ऐसा---व्यापक है। कानून का वर्ग, उसकी घोषणा कौन करता है, इस पर आधारित नहीं है, वरन् क्या घोषित किया जाता है, इस पर आधारित है। जनता की सहमति उसे प्राप्त होनी चाहिए यह मुख्य सूत्र है। यदि उस कानून के पीछे जनता की सहमति की मंगल-भावना नहीं रहेगी तो उसमें लोगों की स्वतन्त्रता की सुसंगति नहीं रहेगी, यह स्पष्ट है। समाज के नाना-विध पूर्वग्रह, विविध अनुभव, एवं अभिप्राय तथा एक-दूसरे से मेल न खाने वाले हित सम्बन्ध आदि बातों की प्रतिक्रिया में से उस वस्तु का निर्माण होता है, जिसे लोकमत की संज्ञा दी जाती है। और ऐसे सार्वजनिक लोकमत का स्वतन्त्रता से सम्बन्ध आता है। ऐसे लोकमत में तथा स्वतन्त्रता की मौलिक कल्पना में जितने सुसंगत एवं मेल खाने वाले सम्बन्ध रहेंगे, उतना ही उत्तम होगा। नागरिक---विशेष करके प्रजातन्त्र का नागरिक---का स्थान राज्यव्यवस्था में तथा समाजव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण होता है। उसका इतना ही कर्तव्य कर्म नहीं कि वह राज्य की आज्ञा

एवं समाज की परम्परा को चुपचाप मान ले। उसे समाज मे निर्माण होने वाले नाना प्रकार के सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों की ओर भी ध्यान देना होता है, उनके बारे में विचार करना होता है तथा अपने विचारपूर्ण अभिप्राय से समाज के कल्याण की दृष्टि से मार्गदर्शन करना चाहिए। और यदि वह यह नही करेगा तो अपने नागरिक होने का कर्तव्य पूरी तरह से पालन नही कर पायेगा। और तब अपनी दृष्टि मे उसे जो योग्य प्रतीत होता है, वह करना उसका क्रमप्राप्त कर्तव्य हो जाता है। अतः उसे ऐसी परिस्थिति अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए, जिसमे विचार करना तथा योग्य अभिप्राय व्यक्त करना उसके लिए सम्भव हो सके। वह विचारपूर्वक जो अभिप्राय व्यक्त करता है, उसका यह तात्पर्य नही कि वह केवल तत्कालीन परिस्थिति के आधार पर हो, अथवा किन्ही भावनाओ के अधीन होकर ही अपना अभिप्राय व्यक्त करता है वरन् उसका तात्पर्य है दीर्घ दृष्टि से विचार करके व्यक्त किया गया अभिप्राय। इस अभिप्राय व्यक्त करने की क्रिया में वह बहुत गहराई के साथ विचार करता है। उसकी विचारधारा उथली नही होती। वास्तविक सत्य एवं महत्वपूर्ण वस्तु का वह विचार करता है। किसी की कही अथवा लिखी बात के आधार पर दिया गया अभिप्राय विचारयुक्त अभिप्राय नही कहा जा सकता। मनन किये बगैर दिया गया मत सच्चा मत नही है। सत्य का पता चलाने के लिए सूक्ष्म दृष्टि से जाँच करनी होती है। उसकी आँखो के सामने अथवा मन में मौजूद धारणाओ की ठीक से छानबीन करना होती है। जो विकृत एवं आग्रही वृत्ति से प्रकट किया गया हो, उसमे से उसे सत्य एव प्रमाण युक्त वस्तु को ढूंढ़ना होता है और तब किसी न्यायाधीश की भाँति सत्य का पता चला कर अपना मत निर्धारित करना होता है। सच यह है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार विचार करके व्यवहार करने लगे तो समाज मे दुःख के लिए कोई स्थान नही रह जायगा। तथापि नागरिकों को इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, यह आदर्श बार-बार लोगों के सामने उपस्थित किया जाय यह भी उतने ही महत्व की वस्तु है। केवल बाह्य शान्ति एवं सुव्यवस्था को देखकर ही समाज मे शान्ति एव सुव्यवस्था की कल्पना कर लेना ठीक नही होता। वास्तविक शान्ति वह है, जो समाज के मानसिक क्षेत्र मे हो। इसी प्रकार समाज का अपना एक बौद्धिक जीवन होता है। उसमे यदि सतुलन एवं सामंजस्य हो, तो समझना चाहिए कि समाज मे सुव्यवस्था है। सर्वत्र परस्पर विरुद्ध विचार प्रकट किये जाते हैं, वैचारिक उपद्रव मचा हो, क्या सम्भव है तथा क्या असम्भव है इसका विचार न करके जो मन मे आया सो कह दिया ऐसी स्थिति हो अर्थात् 'वचने का दरिद्रता' यह न्याय प्रबल हो तो पहले समाज मे वैचारिक अराजकता मच जाती है और उसके बाद 'आज करै सो काल कर' की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से विचार करते हुए कहना होगा कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सामने आने वाली घटनाओ तथा वस्तुस्थिति का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करना चाहिए।

सत्य तथा प्रचार (प्रॉपेगेण्डा) एक-दूसरे से मिले रहते हैं; अतः उन्हें ठीक से परख कर प्रचार के भूसे को दूर कर सत्य के अनाज के कणों को इकट्ठा करना

चाहिए। कितनी बड़ी जिम्मेदारी एक नागरिक पर आती है? स्वतन्त्रता का दावा करना बहुत आसान है; पर उसके साथ आने वाली जिम्मेदारी को भी स्वीकार करना चाहिए।

ऊपर कही जिम्मेदारी को निभाना मुश्किल काम है। समाज में सत्य तथा असत्य, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, क्षणिक तथा चिरस्थायी—इनके स्वरूप को ठीक से समझ कर इनमें से जो सत्य हो, प्रस्तुत हो, जो दीर्घ-दृष्टि से उपयुक्त हो, उसे एक ओर निकाल कर उस पर अपनी बुद्धि को स्थिर करना तथा उसके आधार पर अपने आदर्शों को निश्चित करना तथा उनको सुरक्षित रखकर उन्हें बढ़ाना—आदि मामलों में नागरिक के व्यक्तित्व एवं कर्तव्य को चमकने का अवसर मिलता है। बहुत सी बातों को—जैसा हम पीछे कह आये हैं—स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानकर काम करना होता है। कभी-कभी पुराने गहनों को नया मुलम्मा देना पड़ता है। इसी प्रकार पहले से मान लिए जाने वाले सिद्धांतों तथा स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को भी आधुनिकता की कसौटी पर परखना पड़ जाता है। पूर्वग्रह (धारणाएं) कैसे बनते हैं, बताना मुश्किल है। तथापि कभी जाने तथा कभी अनजाने हर व्यक्ति को इनका अनुभव प्राप्त होता है। और यदि कोई व्यक्ति के इन पूर्वग्रहों के विरुद्ध कुछ कह बैठे तो उसे स्वभावतः बुरा लगता है। जितनी-जितनी हवा ज्यादा तेज बहने लगती है, उतना-उतना ही मनुष्य अपने ओढ़े हुए दुशाले को अधिकाधिक अपने साथ चिपटाने लगता है, वैसी ही उसके मन की भी स्थिति होने लग जाती है। और यदि कोई उसके पूर्वग्रह के विरुद्ध सामान्य प्रमाण पेश करने लगे तो उसका उपहास करने की प्रवृत्ति होती है। जहाँ वस्तुस्थिति को 'करतलामलकवत्' सिद्ध नहीं किया जा सकता, वहाँ पूर्वग्रह विलीन नहीं हो पाते, बदलते नहीं। पूर्वग्रहों का सम्बन्ध उनके मतों एवं दृष्टिकोणों के साथ जितना अधिक हो उतना ही उन्हें दूर करना कठिन हो जाता है। यदि किन्हीं पूर्वग्रहों में सत्य का अंश कम तथा प्रचार का अंश अधिक रहे तो उनके विरुद्ध निरन्तर एवं अधिक मात्रा में प्रचार करने से वे गुप्त हो जाते हैं। और तब वे सत्य एवं वस्तुस्थिति की मात्रा में सीमित हो जाते हैं। परन्तु जहाँ पूर्वग्रहों का निर्माण होता ही प्रचार से है, वहाँ सिर्फ विरोधी प्रचार से वे दूर नहीं होते। और तब मनुष्य, मैं उस प्रचार का शिकार बन गया हूँ, ऐसा कहने को तय्यार नहीं होता। सत्यनिष्ठा की अपेक्षा अभिमान अधिक शक्तिशाली साबित होता है। न्यायानुसार काम करने की अपेक्षा अपने अज्ञान पर पर्दा डालने की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है। थोड़ा सा भी सत्य ऐसे असत्य प्रचार के रहस्य पर से पर्दा उठा देता है। इन बातों का अनुभव तब होता है, जब समाज में किसी घटना के सम्बन्ध में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो जाता है या किसी बड़े राजनैतिक अथवा सामाजिक प्रश्न के सम्बन्ध में गहरा असंतोष उत्पन्न हो जाता है। संयुक्त महाराष्ट्र के आन्दोलन के समय सीधी-सादी बातों को किस तरह तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया तथा सरल मार्ग से चलने वालों को किस प्रकार विकृत बुद्धि का बताया गया, यह अनुभव तो हाल ही का है। आधुनिक जगत् में प्रकट रूप में भी प्रचार किया जाता है। समाचारपत्रों एवं सभाओं के द्वारा तो प्रचार होता ही है, पर वह ट्राम में, लोकल ट्रेन में, होटलों में, पान तथा बीड़ी की दुकानों में, केशकर्तनालयों में,

वाचनालयों में भी किया जाता है। तथा वह अधिक जहरीला होता है। यदि कहीं झूठे प्रचार को कोई झूठा बताने का प्रयत्न करे तो वह खुद ही झूठा साबित हो जाता है। कोई भी व्यक्ति ईमानदारी से सचाई का तथा वस्तुस्थिति का विचार नहीं करता। सर्वसामान्य जनता तो यही समझती है कि समाचारपत्रों में जो कुछ छपता है, वह सच ही होता है। झूठी चीज छप ही नहीं सकती। यह ठीक है कि अधिकांश जनता को सचाई को तोड़-मरोड़ कर पेश करना या उसे दबा देना या झूठ को बढ़ा-चढ़ाकर कहना अनुचित तथा अनैतिक प्रतीत होता है। परन्तु उस पर आँख मूँदकर विश्वास करने वालों की संख्या आज भी कम नहीं है। यद्यपि हर व्यक्ति के लिए प्रत्येक वस्तु की छानबीन करके अपनी सम्मति बनाना उचित है तथापि हम देखते हैं, ऐसा होता नहीं है। फलां समाचार फलां अखबार में छपा है, फलां सम्मति फलां व्यक्ति ने प्रकट की है इत्यादि बातों को ठोस सत्य मानकर ही लाखों लोग समाज में व्यवहार करते हैं। तथा स्वयं विचार करने का कष्ट करने को तैयार नहीं होते। साथ ही यह भी सच है कि, यदि उनके सामने कोई वास्तविकता को बार-बार पेश करता रहे, तो उनकी सम्मति तबदील हो जाती है। इसी कारण समाज में अधिक भाषण एवं लेखन की स्वतंत्रता का होना जरूरी है। और जब विरोधी सम्मतियों के पीछे की सचाई जाहिर हो जाती है, तब अत्यधिक हठी एवं दुराग्रही व्यक्ति भी अपनी सम्मति को शनैः-शनैः बदलने की ओर प्रवृत्त होने लगता है। जब किसी बड़ी धरनी को दीमक लग जाती है, तो वह भीतर ही भीतर खोखली हो जाती है, और अंत में कोई जोर का धक्का लगता है, तब वह टूटकर गिर पड़ती है। यही अनुभव विचार सृष्टि में भी आता है। हम जिस बात को पूर्णतया सच मानकर उसके साथ चिपके रहते हैं, उसके बारे में यदि थोड़ा-सा भी संदेह उत्पन्न हो जाय, तो मन उस संदेह का शिकार बन जाता है। मन की दृढ़ता धीरे-धीरे कम होती जाती है, तथा जैसे जैसे विचारों की लहरी उसके मन में उत्पन्न होती है, वैसे वैसे उसका दृढ़ विश्वास कम होता चला जाता है तथा जब अंत में समाज में विक्षोभ उत्पन्न होता है, तीव्र वाद-विवाद शुरू हो जाता है। तब व्यक्ति की अवस्था पंचतन्त्र की कथा के उस ब्राह्मण की-सी हो जाती है, जिसे इस बात का विश्वास

तथा विस्फोटकता कल्पनातीत होती है, यह भुलाया नहीं जा सकता। 'दोनों को उचित मर्यादा में रखते हुए, उनके सदर्भ को ध्यान में रखते हुए समाज में सत्य का अन्वेषण करना होता है और यदि उस काम के लिए सारा वातावरण द्वेष के कारण विषाक्त हो गया हो, पूर्वग्रहों द्वारा ग्रस्त हो, तो सत्य का पता चलाना एक मुश्किल काम हो जाता है। तथापि समाज की भलाई के लिए सत्य का पता चलाना ही पड़ता है। समाज की शक्ति इस कोशिश में रहती है, कि जो तैयार है, या जिसे जान-बूझकर तैयार किया गया है, उसे सब के गले के नीचे उतरवा दिया जाय। गुजराती लोग पक्के व्यापारी होते हैं, अत. हर मामले में वे होशियारी से काम लेंगे ऐसा मान कर उनके प्रत्येक कृत्य एवं विचारों को परखा जाता है। महाराष्ट्रीयों को झगड़ालू, लूट-खसोट करने वाला तथा दूसरों की भावनाओं को न समझने वाला माना जाता है। अत. उनकी प्रत्येक क्रिया को इसी पूर्वग्रह के मापदण्ड से नापा जाता है। तथा ऐसा करने से समाज की धारणा के लिए आवश्यक सन्तुलन बिगड़ जाता है। अत. विचारशील एवं सन्तुलनशील नागरिक जो हर सिक्के को ठोक बजा कर ही कबूल करने वाले होते हैं, जिस समाज में जितने अधिक होंगे, वह समाज उतना ही अधिक सुस्थिर, सन्तुलनयुक्त एवं प्रगतिशील होगा।

समाज में हम देखते हैं कि दोनों प्रकार के लोग होते हैं, जो समाचारपत्रों में खबरों तथा वक्तव्यों को सही मानते हैं तथा जो सही नहीं मानते। और ऐसा होना समाज में सन्तुलन कायम रखने के लिए आवश्यक भी है। साधारण रूप से वस्तु-स्थिति समाज के सामने उपस्थित होती है और उसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इसमें सत्य तो समाज की आँखों के सामने रहता है; पर उसकी व्याख्या में मतभेद होता है। परन्तु जहाँ सत्य एव वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में ही निश्चय नहीं होता तथा सब मामला गड़बड़ में पड़ जाता है, वहाँ मतस्वतंत्रता है, यह कहना कठिन हो जाता है। जहाँ समाचारपत्र सीधी-सादी बातों को भी तोड़ मरोड़ कर पेश करते हों, तथा कभी अतिशयोक्ति से काम लिया जाता तथा कभी उसे घटा कर पेश किया जाता है, वहाँ सत्य का आकलन ठीक से नहीं हो सकता। जानबूझ कर ही नहीं किया जाता। तब ऐसी परिस्थिति में मतदान की स्वतंत्रता एक थोथी बात हो जाती है। अत: व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे सत्य का स्वरूप लोगों के सामने यथार्थ रूप में आ सके। दलगत राजनीति में यह होता है कि, 'इस समय जो युद्ध हो रहा है, वही सत्य है', ऐसा लोगों के सामने पेश किया जाता है। तथा जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी के लोंदे को अपनी इच्छानुसार शक्ल देता है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है। आजकल की समाचार-पत्र सृष्टि में इस प्रकार के कुलाल भरे पड़े हैं तथा समाज उनको आदर प्रदान करता है। सत्य यह है कि ये लोग असत्य के थोक व्यापारी होते हैं। दुनिया में जो हुआ ही नहीं, उसके कल्पित समाचार छाप दिये जायेंगे। महाराष्ट्रीय जनता का तो अभी हाल का अनुभव बताता है कि किस प्रकार के कल्पित समाचार उन्हें पढ़ने को मिलते थे। सभा हुई भी नहीं, पर छप गया कि सभा हुई, पर समिति वालों के डर से वह तत्काल विसर्जित हो गई। जिस शहर की जनसंख्या एक लाख के भीतर-भीतर है,

और जिस सभास्थान मे १० हजार से अधिक लोग समा नही सकते वहाँ एक लाख से अधिक श्रोताओ की उपस्थिति बता कर कलकत्ता की अँधेरी कोठरी का प्रयोग करने का जादू मराठी समाचार पत्रो ने करके दिखलाया है। झूठी खबरें छाप कर लोगों के मन पर भावुकता जन्य प्रक्षोभ का इतना प्रभाव डाला जाय कि जनसामान्य को सोचने तक की फुर्सत न मिल सके, यह भी अनुभव जनता को आ चुका है। १९२४ में इंगलैंड मे जो निर्वाचन हुए उनमे होनोवाव के पत्र ने सारे निर्वाचन पर इसी प्रकार का प्रभाव डाला था। वास्तव मे, वह एक खाली कागज था। तथापि उसका कितना प्रभाव पडा यह प्रसिद्ध है। अतः समाज मे समाचार नाम की जो वस्तु प्रसारित होती है या की जाती है, उसका तथा विचारस्वतन्त्रता एवं मत-स्वतन्त्रता का घनिष्ठ सबध है। जब लोगो के सामने इस प्रकार के दल-निर्मित सत्य अथवा बढ़ा-चढा कर कहे जाने वाले सत्य पेश होते हैं, तब सामान्य जनता हतबुद्धि हो जाती है। महाभारत मे कहा है—'सत्य न तद् यच्छलमभ्युपैति' अर्थात् सत्य वह नही है, जिसमें कपट का अश रहता है। सो जो सत्य कपट से युक्त है, उसे समाज मे प्रसृत नही होने दिया जाना चाहिए। ऐसा इन्तजाम किया जाना चाहिए, जिससे ऐसे सत्यो के फैलने पर रोक लगाई जा सके। इसी प्रकार समाचारपत्रो मे विशेष 'प्रमाण' नाम से जो बात कही जाती है, वह वास्तव 'प्रमाण' न होकर किसी के मस्तिष्क की मौलिक उपज होती है, जिसे मिर्च-मसाला लगाकर लोगो के सामने पेश किया जाता है। मनुष्य कितने विकृत रूप मे लिख सकता है, इसका उदाहरण मेयो की किताब है। तथा इस प्रकार का साहित्य सगठित हित संबन्धो वाले लोग प्रसारित किया करते हैं। उसका बहुत बडे पैमाने पर प्रचार किया जाता है। छोटे-मोटे कारखाने के मालिको को पूँजीपति कहकर उनके विरुद्ध वातावरण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार सीधी सादी वेतन की माँग को क्रांति की घोषणा का रंग दिया जाता है। ऐसी अवस्था मनुष्य को जिन सत्यो के आधार पर अपनी सम्मति बनानी होती है, उन्ही के सत्य से दूर चले जाने पर उनकी सम्मति विचार स्वतन्त्रता से प्रेरित सम्मति नही कही जा सकती। आजकल की दुनिया मे पत्रकारिता एक व्रत न होकर एक व्यापार हो गया है। जिस प्रकार लोग पदार्थों मे मिलावट (एडल्टरेशन) करते हैं, उसी प्रकार पत्रकार भी वैचारिक सृष्टि मे मिलावट करने वाले व्यापारी बन गये है। जो सत्य है, वही कहूँगा, जो न्याय है, उसी का समर्थन करूँगा, सत्य ही की प्रतिष्ठा को स्वीकार करूँगा, लोगो के प्रोपेगण्डा का दास नही बनूँगा—इस श्रेष्ठ भूमिका को लेकर काम करने वाले पत्रकार आज की दुनिया में 'मनुष्याणा सहस्रेषु' कोई एक दो ही दृष्टिगोचर होते हैं। 'वस्तुस्थिति पवित्र है तथा टीका उन्मुक्त है' (फैक्ट्स आर सेक्रेड कामेण्ट्स आर फ्री) ये जो वर्तमान सृष्टि के उपनिषदों के महावाक्य हैं, उनकी उपेक्षा की जाती है। समाचारपत्रो के एक व्यापार बन जाने के कारण अनेक पूँजीपति लोग इस उद्योग मे अपना पैसा लगाते हैं तथा उस पर नफे की उम्मीद करते हैं। और तब जिसकी माँग अधिक हो, उसी को लिखने की ओर पत्रकारो की वृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार जो मालिक कहे, वह लिखा जाय, ऐसा उन पर दबाव भी रहता है। जिस प्रकार आजकल सिले सिलाये

कपड़े खरीदने की लोगों की रीति हो गई है, वैसा ही कुछ मत के सम्बन्ध में हो गया है। बने-बनाये मत पाठकों को समाचारपत्रों के द्वारा दिये जाते हैं। और प्रचार द्वारा जनता के ऊपर इन पूँजीपतियों के समाचारपत्रों का कब्जा पुलिसवालों से भी ज्यादा हो जाता है। जो कुछ लोगों के सामने आता या पेश किया जाता है वह इतना आकर्षक या इतना भयानक दिखाया जाता है कि सामान्य मनुष्य सम्भ्रमित हो जाता है तथा अधिक विचार न करके जो कुछ समाचार पत्र में लिखा है, उसे सही मान लेता है। जादू टोना करके लोगों के मन को वश में करने की जो विद्या थी उसी का आधुनिक रूप संगठित एवं पद्धतियुक्त प्रोपेगंडा है, ऐसा कहा जा सकता है। अपनी ओर से मनुष्य कुछ भी नहीं कह सकता। जिस प्रकार गोल गुम्बद में एक जगह कोई आवाज की जाय तो वह सब कहीं फैल जाती है तथा सबके कानों में वही आवाज पहुँचती है, उसी प्रकार एक ही मालिक के अधिकार में यदि बहुत से समाचारपत्र हों तो उन सब में एक ही प्रकार की विचारधारा आपको पढ़ने और सुनने को मिलेगी तथा ऐसी कोशिश की जाती है कि लोगों को उससे भिन्न कुछ सुनने को मिले ही न। अनेक दृष्टिकोण, अनेक विकल्प लोगों के सामने नहीं आते। चुनाव करने के क्षेत्र सीमित होते जाते हैं। बल्कि, चुनाव के वास्ते कुछ रह ही नहीं जाता। जो कुछ सामने आता है, उसे लोग अपने आप स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि नागरिकों को विचारों तथा मत की स्वतन्त्रता प्राप्त है, ठीक नहीं। उनके मन विचार विमुख हो जाते हैं। कैदियों की यह अवस्था होती है कि जो कुछ उनकी थाली में परोसा जाता है, वही उनको खाना पड़ता है, अन्यथा भूखे ही रहना पड़ता है। सो समाज की भी यही अवस्था होती है। ज्ञान के साधन में मनमाने ठेकेदारी शुरू होने लगती है। अतः लोगों के सामने वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करने की व्यवस्था किसी एक के हाथ में नहीं रहनी चाहिए। समाचारपत्र यदि सरकार के हाथ में चले जायें या उनके नियंत्रण में चले जायें, तो यही कुछ होता है। अतः समाचार-पत्र न तो पूँजीपतियों के हाथ में होने चाहिएँ, न सरकार के। जो कुछ कोई कहना चाहता है, उसके कहने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अत: समाचारपत्रों को न तो व्यापार का रूप धारण करना चाहिये न सरकारी विभाग का। इन दोनों में से कोई भी हालत हो जाय, तो समाज में घटित होने वाली घटनाओं तथा उनके समाचारों पर पूरी तरह नियंत्रण हो जाता है तथा लोग अपने को भले ही स्वतन्त्र मानते हों, पर उनकी वह स्वतंत्रता अर्थशून्य हो जाती है।

समाज में ज्ञान प्रचार के साधन व्यक्तिगत होते हुए भी यदि पूँजीपतियों द्वारा नियन्त्रित हों, तो लोकमत एक ही साँचे में ढल जाता है तथा सारे समाचार-पत्रों में उसी रूप में छप जाता है। फलत: सत्य का स्वरूप एक ही नम्बर के माल की तरह हो जाता है। उसमें जीवन की मौलिक श्रद्धाओं में सिकोड़ आने लगता है।

स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करते समय मनुष्य का मन विकसित होता है, उसकी श्रद्धाएँ अधिक गहरी होने लगती हैं तथा समूचे व्यक्ति-विकास को चालना मिलती है। पर जहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से व्यक्ति के सामने ऐसी चीज आती हो, जो सच न होते हुए बहुत सजाकर पेश की जा रही हो, वहाँ सामान्य रूप से व्यक्ति उसे स्वी-

और जिस सभास्थान मे १० हजार से अधिक लोग समा नही सकते वहाँ एक लाख से अधिक श्रोताओ की उपस्थिति बता कर कलकत्ता की अँधेरी कोठरी का प्रयोग करने का जादू मराठी समाचार पत्रो ने करके दिखलाया है। झूठी खबरें छाप कर लोगो के मन पर भावुकता जन्य प्रक्षोभ का इतना प्रभाव डाला जाय कि जनसामान्य को सोचने तक की फुर्सत न मिल सके, यह भी अनुभव जनता को आ चुका है। १९२४ में इंगलैंड मे जो निर्वाचन हुए उनमें झीनोवाफ के पत्र ने सारे निर्वाचन पर इसी प्रकार का प्रभाव डाला था। वास्तव मे, वह एक जाली कागज था। तथापि उसका कितना प्रभाव पड़ा यह प्रसिद्ध है। अतः समाज में समाचार नाम की जो वस्तु प्रसारित होती है या की जाती है, उसका तथा विचारस्वतन्त्रता एवं मत-स्वतन्त्रता का घनिष्ठ सबंध है। जब लोगों के सामने इस प्रकार के कल्प-निर्मित सत्य अथवा बढ़ा-चढ़ा कर कहे जाने वाले सत्य पेश होते हैं, तब सामान्य जनता हतबुद्धि हो जाती है। महाभारत मे कहा है—'सत्य न तद् यच्छलमभ्युपैति' अर्थात् सत्य वह नही है, जिसमे कपट का अश रहता है। सो जो सत्य कपट से युक्त है, उसे समाज मे प्रसृत नही होने दिया जाना चाहिए। ऐसा इन्तजाम किया जाना चाहिए, जिससे ऐसे सत्यों के फैलने पर रोक लगाई जा सके। इसी प्रकार समाचारपत्रो मे विशेष 'प्रमाण' नाम से जो बात कही जाती है, वह वास्तव 'प्रमाण' न होकर किसी के मस्तिष्क की मौलिक उपज होती है, जिसे मिर्च-मसाला लगाकर लोगो के सामने पेश किया जाता है। मनुष्य कितने विकृत रूप मे लिख सकता है, इसका उदाहरण मेयो की किताब है। तथा इस प्रकार का साहित्य सगठित हित सबन्धों वाले लोग प्रसारित किया करते हैं। उसका बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार किया जाता है। छोटे-मोटे कारखाने के मालिको को पूँजीपति कहकर उनके विरुद्ध वातावरण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार सीधी सादी वेतन की मांग को क्रांति की घोषणा का रग दिया जाता है। ऐसी अवस्था मनुष्य को जिन तथ्यों के आधार पर अपनी सम्मति बनानी होती है, उन्ही के सत्य से दूर चले जाने पर उनकी सम्मति विचार स्वतन्त्रता से प्रेरित सम्मति नही कही जा सकती। आजकल की दुनिया मे पत्रकारिता एक व्रत न होकर एक व्यापार हो गया है। जिस प्रकार लोग पदार्थो मे मिलावट (एडल्टरेशन) करते है, उसी प्रकार पत्रकार भी वैचारिक सृष्टि मे मिलावट करने वाले व्यापारी बन गये है। जो सत्य है, वही कहूँगा, जो न्याय है, उसी का समर्थन करूँगा, सत्य ही की प्रतिष्ठा को स्वीकार करूँगा, लोगो के प्रोपेगण्डा का दास नही बनूँगा—इस श्रेष्ठ भूमिका को लेकर काम करने वाले पत्रकार आज की दुनिया मे 'मनुष्याणा सहस्रेषु' कोई एक दो ही दृष्टिगोचर होते हैं। 'वस्तुस्थिति पवित्र है तथा टीका उन्मुक्त है' (फैक्ट्स आर सेक्रेड कामेण्ट्स आर फ्री) ये जो वर्तमान सृष्टि के उपनिषदो के महावाक्य है, उनकी उपेक्षा की जाती है। समाचारपत्रो के एक व्यापार बन जाने के कारण अनेक पूँजीपति लोग इस उद्योग मे अपना पैसा लगाते हैं तथा उस पर नफे की उम्मीद करते हैं। और तब जिसकी मांग अधिक हो, उसी को लिखने की ओर पत्रकारो की वृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार जो मालिक कहे, वह लिखा जाय, ऐसा उन पर दबाव भी रहता है। जिस प्रकार आजकल सिले सिलाये

कपड़े खरीदने की लोगों की रीति हो गई है, वैसा ही कुछ मत के सम्बन्ध में हो गया है। बने-बनाये मत पाठकों को समाचारपत्रों के द्वारा दिये जाते हैं। और प्रचार द्वारा जनता के ऊपर इन पूँजीपतियों के समाचारपत्रों का कब्जा पुलिसवालों से भी ज्यादा हो जाता है। जो कुछ लोगों के सामने आता या पेश किया जाता है वह इतना आकर्षक या इतना भयानक दिखाया जाता है कि सामान्य मनुष्य सम्भ्रमित हो जाता है तथा अधिक विचार न करके जो कुछ समाचार पत्र में लिखा है, उसे सही मान लेता है। जादू टोना करके लोगों के मन को वश में करने की जो विद्या थी उसी का आधुनिक रूप सगठित एवं पद्धतियुक्त प्रोपेगंडा है, ऐसा कहा जा सकता है। अपनी ओर से मनुष्य कुछ भी नहीं कह सकता। जिस प्रकार गोल गुम्बद में एक जगह कोई आवाज की जाय तो वह सब कहीं फैल जाती है तथा सबके कानों में वही आवाज पहुँचती है, उसी प्रकार एक ही मालिक के अधिकार में यदि बहुत से समाचारपत्र हों तो उन सब में एक ही प्रकार की विचारधारा आपको पढ़ने और सुनने को मिलेगी तथा ऐसी कोशिश की जाती है कि लोगों को उससे भिन्न कुछ सुनने को मिले ही न। अनेक दृष्टिकोण, अनेक विकल्प लोगों के सामने नहीं आते। चुनाव करने के क्षेत्र सीमित होते जाते हैं। फलतः, चुनाव के वास्ते कुछ रह ही नहीं जाता। जो कुछ सामने आता है, उसे लोग अपने आप स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि नागरिकों को विचारों तथा मत की स्वतन्त्रता प्राप्त है, ठीक नहीं। उनके मन विचार विमुख हो जाते हैं। कैदियों की यह अवस्था होती है कि जो कुछ उनकी थाली में परोसा जाता है, वही उनको खाना पड़ता है, अन्यथा भूखे ही रहना पड़ता है। सो समाज की भी यही अवस्था होती है। ज्ञान के साधन में मनमाने ठेकेदारी शुरू होने लगती है। अतः लोगों के सामने वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करने की व्यवस्था किसी एक के हाथ में नहीं रहनी चाहिए। समाचारपत्र यदि सरकार के हाथ में चले जायें या उनके नियंत्रण में चले जायें, तो यही कुछ होता है। अतः समाचार-पत्र न तो पूँजीपतियों के हाथ में होने चाहिएँ, न सरकार के। जो कुछ कोई कहना चाहता है, उसके कहने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अतः समाचारपत्रों को न तो व्यापार का रूप धारण करना चाहिये न सरकारी विभाग का। इन दोनों में से कोई भी हालत हो जाय, तो समाज में घटित होने वाली घटनाओं तथा उनके समाचारों पर पूरी तरह नियंत्रण हो जाता है तथा लोग अपने को भले ही स्वतंत्र मानते हों, पर उनकी वह स्वतन्त्रता अर्थशून्य हो जाती है।

समाज में ज्ञान प्रचार के साधन व्यक्तिगत होते हुए भी यदि पूँजीपतियों द्वारा नियन्त्रित हों, तो लोकमत एक ही साँचे में ढल जाता है तथा सारे समाचार-पत्रों में उसी रूप में छप जाता है। फलतः सत्य का स्वरूप एक ही नम्बर के माल की तरह हो जाता है। उनके जीवन की मौलिक श्रद्धाओं में मिरोड़ आने लगता है।

स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करते समय मनुष्य का मन विकसित होता है, उसकी श्रद्धाएँ अधिक गहरी होने लगती हैं तथा समूचे व्यक्ति-विकास को चालना मिलती है। पर जहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से व्यक्ति के सामने ऐसी चीज आती हो, जो सच न होते हुए बहुत सजाकर पेश की जा रही हो, वहाँ सामान्य रूप से व्यक्ति उसे स्वी-

और जिस सभास्थान में १० हजार से अधिक लोग समा नहीं सकते वहाँ एक लाख से अधिक श्रोताओं की उपस्थिति बता कर कलकत्ता की अँधेरी कोठरी का प्रयोग करने का जादू मराठी समाचार पत्रों ने करके दिखलाया है। झूठी खबरें दार कर लोगों के मन पर भावुकता जन्य प्रक्षोभ का इतना प्रभाव डाला जाय कि जनसामान्य को सोचने तक की फुर्सत न मिल सके, यह भी अनुभव जनता को आ चुका है। १९२४ में इंगलैंड में जो निर्वाचन हुए उनमें झिनोवाव के पत्र ने सारे निर्वाचन पर इसी प्रकार का प्रभाव डाला था। वास्तव में, वह एक जाली कागज था। तथापि उसका कितना प्रभाव पड़ा यह प्रसिद्ध है। अत समाज में समाचार नाम की जो वस्तु प्रसारित होती है या की जाती है, उसका तथा विचारस्वतन्त्रता एवं मत-स्वतन्त्रता का घनिष्ठ संबंध है। जब लोगों के सामने इस प्रकार के मन-निर्मित सत्य अथवा बढ़ा-चढ़ा कर कहे जाने वाले सत्य पेश होते हैं, तब सामान्य जनता हतबुद्धि हो जाती है। महाभारत में कहा है—'सत्य न तद् यच्छलमभ्युपैति' अर्थात् सत्य वह नहीं है, जिसमें कपट का अंश रहता है। तो जो सत्य कपट से युक्त है, उसे समाज में प्रसृत नहीं होने दिया जाना चाहिए। ऐसा इन्तजाम किया जाना चाहिए, जिससे ऐसे सत्यों के फैलने पर रोक लगाई जा सके। इसी प्रकार समाचारपत्रों में विशेष 'प्रमाण' नाम से जो बात कही जाती है, वह वास्तव 'प्रमाण' न होकर किसी के मस्तिष्क की मौलिक उपज होती है, जिसे मिर्च-मसाला लगाकर लोगों के सामने पेश किया जाता है। मनुष्य कितने विकृत रूप में लिख सकता है, इसका उदाहरण मेयो की किताब है। तथा इस प्रकार का साहित्य संगठित हित सबन्धों वाले लोग प्रसारित किया करते हैं। उसका बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार किया जाता है। छोटे-मोटे कारखाने के मालिकों को पूँजीपति कहकर उनके विरुद्ध वातावरण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार सीधी सादी वेतन की माँग को क्रान्ति की घोषणा का रंग दिया जाता है। ऐसी अवस्था मनुष्य को जिन सत्यों के आधार पर अपनी सम्मति बनानी होती है, उन्हीं के सत्य से दूर चले जाने पर उनकी सम्मति विचार स्वतन्त्रता से प्रेरित सम्मति नहीं कही जा सकती। आजकल की दुनिया में पत्रकारिता एक व्रत न होकर एक व्यापार हो गया है। जिस प्रकार लोग पदार्थों में मिलावट (एडल्टरेशन) करते हैं, उसी प्रकार पत्रकार भी वैचारिक सृष्टि में मिलावट करने वाले व्यापारी बन गये हैं। जो सत्य है, वही कहूँगा, जो न्याय है, उसी का समर्थन करूँगा, सत्य ही की प्रतिष्ठा को स्वीकार करूँगा, लोगों के प्रोपेगण्डा का दास नहीं बनूँगा—इस श्रेष्ठ भूमिका को लेकर काम करने वाले पत्रकार आज की दुनिया में 'मनुष्याणां सहस्रेषु' कोई एक दो ही दृष्टिगोचर होते हैं। 'वस्तुस्थिति पवित्र है तथा टीका उन्मुक्त है' (फैक्ट्स आर सेक्रेड कामेण्ट्स आर फ्री) ये जो वर्तमान सृष्टि के उपनिषदों के महावाक्य हैं, उनकी उपेक्षा की जाती है। समाचारपत्रों के एक व्यापार बन जाने के कारण अनेक पूँजीपति लोग इस उद्योग में अपना पैसा लगाते हैं तथा उस पर नफे की उम्मीद करते हैं। और तब जिसकी माँग अधिक हो, उसी को लिखने की ओर पत्रकारों की वृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार जो मालिक कहे, वह लिखा जाय, ऐसा उन पर दबाव भी रहता है। जिस प्रकार आजकल सिले सिलाये

वातावरण अवश्य होना चाहिए। प्रचार, धोखेबाजी, पूर्वग्रह तथा असम्भव घोषणाओं के बाजार में सत्य को बेचा नहीं जाना चाहिए। और यदि ऐसा कोई ग्राहक टकर जाय, तो उसे मूर्ख समझा जाना चाहिए।

हमने ऊपर जो उदाहरण दिये हैं, उनसे यह साफ जाहिर होता है कि आज की दुनियाँ में प्रचार में कितनी शक्ति है। सत्य को दबा देने के लिए इससे भी कहीं अधिक प्रयत्न आज की दुनियाँ में किये जाते हैं। बैल मस्ती न कर सके, इसके लिये जैसे बचपन में ही उसे बधिया कर देते हैं, उसी प्रकार आदर्श के नाम पर लोगों के मनों को बधिया बना डालने के कुछ प्रयत्न बचपन ही से किये जाते हैं। आधुनिक राज्यों को शिक्षा का महत्त्व अच्छी प्रकार ज्ञात है। इस कारण बचपन ही में बालकों के मन पर ऐसे संस्कार डालने की कोशिश की जाती है कि आगे चल कर उनके मन एक निर्धारित लीक को पीटने वाले बन सकें तथा उनके विचार एक निर्धारित नमूने के हो सकें। शिक्षा-पद्धति में ऐसे दृष्टिकोण से काम लिया जाता है कि विद्यार्थियों के मन एक विशेष आकार धारण करते चले जाएँ। उसे जो इतिहास पढ़ाया जाता है, वह निष्पक्ष नहीं होता। उसमें सच को छिपाया जाता है। झूठी बातें कही जाती हैं। व्यापक शिक्षा द्वारा बच्चों में ज्ञान की लालसा उत्पन्न करके उनकी बुद्धि को चतुरस्र बनाने के स्थान पर उसे मोड़ दिया जाता है कि उन्हें जो कुछ कहा जायगा, उसे वे सच मान लेंगे तथा उसके बारे में इतने कठमुल्लापन से काम करेंगे कि उनके मन में इस बात की शंका तक नहीं आयेगी कि जो कुछ उन्होंने सीखा या पढ़ा है, उसके आगे भी कुछ और सत्य हो सकता है। ज्ञान इस रीति से नहीं दिया जा जाता जिससे कि उनके मन में किसी प्रकार की चतुरस्रता उत्पन्न हो और जो उनके सामने आये, उसको ठीक से परख सकें। 'बाबावाक्य प्रमाणम्' यह एक श्रेष्ठ आदर्श प्रतीत होने लगता है। वयस्क होने के उपरान्त स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग करने के लिए, जिस वृत्ति की आवश्यकता है, वह उत्पन्न नहीं हो पाती। मत-स्वतन्त्रता तथा विचार-स्वतन्त्रता का क्या महत्त्व है, यह बचपन में ही बच्चों को थोड़ा बहुत बता देना चाहिए। ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे लोग स्वतन्त्रता के प्रति रुचि अनुभव कर सकें, स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की उन्हें आदत पड़ जाय, मन में प्रयोगशीलता उत्पन्न हो, तथा वे ऐसी दृष्टि से काम लें, जो उनकी अपनी हो। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा का स्वरूप क्या हो, यह नागरिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बिलकुल बचपन से बच्चे के मन पर यह प्रभाव डाला जाय कि अपने देश में जो कुछ हुआ था या जो कुछ हो रहा है, वह सब श्रेष्ठ ही है, अपने देश का इतिहास श्रेष्ठ कर्त्तव्यों का इतिहास है, अपने पूर्वजों ने जो कुछ किया है, वह सब बहुत ही समझदारी का ही काम था, तो इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके निकला हुआ व्यक्ति एक प्रकार का यांत्रिक नागरिक हो जाता है। वह निष्ठावान् रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु समाज की वैचारिक सम्पत्ति में वह अपने विचारों से कोई नयी वृद्धि नहीं कर सकेगा। वह निःसंशय आज्ञाकारक बनेगा, पर उसके पास कोई स्वयप्रज्ञा नहीं रहेगी। जिसे उपक्रमशीलता (इनिशिटी) कहते हैं, वह उसमें ज्यादा

कार कर लेता है तथा स्वतन्त्ररीत्या सत्य का अन्वेषण अथवा मद्विषयक विचार करने का श्रम वह नही करता। जैसे तोता रटाई हुई बात बोलता है, उसी प्रकार व्यक्ति के मन का तोता भी वही बोलने लगता है, जो समाज मे उसे बारबार सुनाये जाते हैं। तथा व्यापारी दृष्टि से चलाये गए समाचारपत्र या दलीय समाचार पत्र उस के मन के चारों तरफ अपने प्रचार का घेरा मजबूत करते रहते हैं। उसके बाद समाज में जो भी शब्दों के सिक्के चल पड़ते हैं, उन्हें वह बगैर खरे-खोटे की परख किये, बगैर अनुभव पर बजाये, स्वीकार कर लेता है। बार-बार वही शब्द, वही वाक्य प्रयोग, वही नारे कान में आने जाते हैं, जिसका फल यह होता है कि उसकी अपनी भाषा भी वही हो जाती है। उस समय प्रत्येक कांग्रेसी उसे गुंडा प्रतीत होने लगता है। सरकार के हर काम मालदारों के हक में मालूम होते हैं। शान्ति के लिए जारी किया गया हर हुक्म उसे तानाशाही प्रतीत होता है। इतना ही नही, उसे अपनी धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त, अपनी घोषणा एकमात्र सत्य तथा अपना मत ही उसे जन-मत प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार यदि सरकार का या सरकार के माध्यम से किया गया प्रचार उसके मन पर छा गया हो, तो सरकार की आज्ञा को वह वेदाज्ञा समझता है। सरकार के किसी भी कृत्य को वह अनुचित नहीं मानता। यदि कोई मत स्वतन्त्रतापूर्वक सरकार की आलोचना कर बैठे, तो उसे लगता है समाज की शान्ति को भग करने वाली तथा सरकार का तख्ता उलटने वाली कोई क्रान्तिकारी बात की जा रही है। उस अवस्था मे उसे लगता है कि ऐसे आलोचकों को सीधी राह पर लाना समाज की दृष्टि से वाछनीय है। कोई सच्ची बात कहने लगे तो उसे उसमे राज-द्रोह प्रतीत होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी एक पक्ष एव उस पक्ष के तत्त्व ज्ञान के कारण उसकी स्वतन्त्र विचारशक्ति लुप्त हो जाती है तथा वह हठी बन जाता है। अपना स्वतन्त्र अनुभव प्राप्त करने की क्षमता उसमे नही रह जाती। अपनी मतस्वतन्त्रता एव विचार-स्वतन्त्रता के अधिकार को वह खो बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि विचार करने की उसकी आदत ही छूट जाती है। अत. समाज मे किसी निर्धारित साँचे मे ढले मत को मानना सच्ची विचार स्वतन्त्रता का विरोधी है। आप अपने दल की दृष्टि से जो कहना चाहते है, कहें; पर आपके उस कहने मे सत्य का अंश अवश्य रहना चाहिए। भड़कीले या सचाई के बारे मे भ्रम उत्पन्न करने वाले प्रचार से साधारण व्यक्ति चक्कर मे पड जाते हैं। असाधारण व्यक्ति नाराज हो जाते हैं। सभी लोग तो विचारक नही होते, और न ही सब लोग सत्यान्वेषी होते है। अत इस कोटि के प्राय सब लोग चुप रहने मे तथा बखेड़े मे न पड़ने मे ही अपना भला समझते है। अभी-अभी शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबन्धक कमेटी के चुनावों मे जो प्रचार किया गया तथा जिस प्रकार वह किया गया, उसमे सोच-समझ कर मतदान करने का वातावरण ही नही रह गया था। सरकार गुरुद्वारो को अपने कब्जे मे कर रही है, नानक तथा अन्य गुरुओं के चित्रों के स्थान पर नेहरू आदि के चित्र लगायेगी, इत्यादि बातें इत्ते बड़े पैमाने पर कही गई कि सामान्य मनुष्य यह सोचने तक को तय्यार नही हुआ कि इसमे झूठ-सच क्या है। इस किस्म की बातों को देखते हुए हमे लगता है कि समाज मे शातभाव मे विचार करने का

से जीव अपनी कल्पना के अनुसार सुखी होते हैं, परन्तु समाधान में सन्तुष्ट होने की अपेक्षा संशयग्रस्त मनुष्य का होना अधिक सुखद है, ऐसा जो प्रसिद्ध ग्रीक तत्वज्ञानी का मत है, वह सर्वथा गलत नहीं है। चौकस मनोवृत्ति व हर समय सवाल-जवाब करने की आदत बहुतों को बुरी लगती है परन्तु समाज की वैचारिक तथा अन्य प्रगति इस प्रकार के जिज्ञासु लोगों पर ही निर्भर है। जिनके मन में कभी विचारों में ही हलचल न हो और जिनके मन में कभी कौतूहल का प्रवेश न हो, वे मन एक तरह से सुप्त और निस्तेज होते हैं और बचपन से अपनाये, स्वीकृत जीवन मूल्यों पर ही उनकी जीवन-यात्रा चलती रहती है। जहाँ तक उनके निश्चित दृष्टिकोण से मिले-जुले अनुभव होते हैं, वहाँ तक वे सोचते रहते हैं, परन्तु जहाँ उससे विपरीत अनुभवों का सामना करना पड़ता है, वहाँ पूर्व संचित उनकी पूँजी बेकार साबित होती है। नये तरीकों से वे सोच नहीं सकते हैं, व नयी परिस्थिति में अपने पुराने अनुभवों के साथ अपने आपको ढाल नहीं सकते। जिससे उनका मन दुःखी होता है और पैरों तले की जमीन खिसक जाय इस प्रकार बौद्धिक दृष्टि से उस व्यक्ति का जीवन समाप्त-प्राय सा हो जाता है ऐसा कहना कोई गलत नहीं होगा। इसलिए स्वतन्त्र रूप से विचार करने वाले, सत्य की खोज करने वाले व्यक्तियों की समाज को आवश्यकता है। जिनके मन पहले ही बन चुके हैं या जिन्होंने अपने मन की खिड़कियाँ बन्द कर रखी हैं तथा जिनके मानस में नये जमाने की रोशनी जाने की कोई गुंजाइश नहीं है तथा नये युग की गर्जना, कान होते हुए भी जिनके अन्तःकरण तक नहीं पहुँच पाती है, उनके जीवन का तो मोक्षानन्द ही है। इस दृष्टि से हम विचार करें तो हम यह अनुभव करेंगे कि नागरिकों के अन्दर जितनी अधिक मात्रा में नये-नये विचारों को ग्रहण करने की तथा ग्राह्य-अग्राह्य के चुनने की पात्रता बढ़ेगी और जितने अधिक परिमाण में ऐसे नागरिकों की संख्या बढ़ेगी, उतनी ही अधिक मात्रा में समाज में समतोल—विचार तथा व्यवहार का साक्षात्कार होगा। कई तरह के प्रश्न समाज में खड़े होते हैं, उन पर आज की लोकशाही समाज-व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक को अपनी राय देनी पड़ती है और स्वअभि-प्राय बताना पड़ता है। इसलिये यह जरूरी है कि उपस्थित प्रश्न में जिन-जिन बातों का समावेश है उनका पृथक्करण कर उसमें सम्मिलित विचारों के हर पहलू पर तथा उनमें निहित तत्त्व समाज की दृष्टि से उचित हैं अथवा नहीं इसका बारीकी से अध्ययन करना उसके लिए जरूरी है। अफवाह के माने खबर नहीं होती। गपशप के अड्डे भी एक तरह के रेडियो होते हैं, वहाँ सुनी हुई हर बात को सही मानने की वृत्ति अगर समाज में जोर पकड़ती गई तो किसी भी चीज को गम्भीरतापूर्वक व विवेक के साथ करना कठिन हो जाएगा। जहाँ पर समाचारपत्र, खबरें और सचाई इनमें एकरूपता न आ सके वहाँ किसी भी प्रश्न पर अपना सही अभिप्राय देना विचारवान व्यक्तियों के लिए भी कठिन हो जाता है। सत्य के लिए समाचार पत्र ही सर्वथा निर्भर करना उचित नहीं है, परन्तु हर चीज की प्रत्यक्ष जाँच करना तथा सत्य की खोज करना हर व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। इसलिए समाचारपत्रों में समाचारों की सचाई के लिए सावधानी, स्वयं समाचारपत्रों को ही देशहितार्थ लेनी चाहिए। यद्यपि वृत्त पत्र व्यवसाय आज एक व्यापार

नही आ सकेगी। परिवर्तनशील जगत् के घटनाचक्र को समझने वाली बुद्धि राष्ट्र के नागरिकों मे नही रहेगी और नये ढांचे के अनुसार अपने आपको ढालने की व्यवहार कुशलता अगर उनमे न होगी तो उस राष्ट्र का या तो उत्थान होगा अथवा पतन होगा। उस राष्ट्र मे चिमटे रहने व विपत्तियों से सदा संघर्ष करते रहने की बुद्धि बहुत कम मात्रा में दिखाई देगी। इस दृष्टि से देश की शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चहिए जिससे बुद्धिमान, सुविचारी तथा संयमी नागरिक तैयार हो और इसके लिए बचपन से ही स्वावलम्बन की ओर उत्तेजित करने वाली थोड़ी बहुत शिक्षा उन्हें देना अत्यावश्यक है। आज एक घिसा-घिसाया पाठ्यक्रम बच्चों को सिखाया जाता है और जिस प्रकार एक गडरिया भेड़ हांकता है व उन्हें एक निश्चित सीमा से बाहर नही जाने देता, उसी प्रकार अध्यापक बच्चों के मन को सिमटे रहता है और उन्हे स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने का अवसर नही देता। राज्य के नियम भी कुछ ऐसे बने होते है कि वे विद्यार्थियों के वास्ते कुछ नवीनता लाने, प्रयोगशील बनने तथा उनकी बुद्धि को हिलाडुला देने वाले प्रयोग की इच्छा उनमे जाग्रत नही होने देते। दैवयोग से यदि कोई ऐसा अध्यापक इस ओर अग्रसर हुआ, तो उसे तुरन्त अपने पद से वंचित होना पड़ता है। बालकों के मन पूर्वग्रहों से जकड़े न रहे, नित्य नवीन श्रवण करने के लिए उनकी उत्सुकता बने व जो नयी-नयी बातें उनके सामने उपस्थित होती हैं, उनको वे जिज्ञासापूर्वक ग्रहण करें, ऐसा वातावरण उन्हे बचपन से ही मिलना चाहिए। अगर उन्हें, उनके अनुकूल ऐसा वायुमण्डल बचपन से न मिले तो आगे चलकर वे देश के जागरूक नागरिक कदापि बन नही सकेंगे। जो कुछ भी उन्हें अधिकारपूर्वक अधिकृत रूप से कहा जायेगा, उसे बिना सोचे समझे स्वीकार करने की वृत्ति उनमे बढेगी। यह वृत्ति न केवल राजकीय, बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक, हर क्षेत्र मे सक्रिय होगी। यह उक्ति सार्थक है कि शरीर व्यायाम से सुदृढ होता है, परन्तु मन की प्रबलता विचारों से बनती है। विचारों की कसरत का अभ्यास भी बचपन मे ही शिक्षा द्वारा करने का मौका बच्चों को मिलना चाहिए। यह सर्वमान्य है कि बालक के मन पर प्रथम १५ वर्ष की आयु मे जो संस्कार पड़ते हैं, वे ही सम्पूर्ण आयुष्य तक प्रभावशाली बने रहते है। यह भी सत्य है कि मनुष्य एकरस जीवन जीना नही चाहता, परन्तु फिर भी आम प्रचलित मार्ग छोड़कर अज्ञात और अनिश्चित रास्ता अपनाने की भी उसे मर्जी नही होती। जिन्दगी मे कुछ साहसपूर्ण कार्य करने की व कुछ अद्भुत कर दिखाने की तथा आम लोगों से कम-से-कम कुछ विशेष करने की प्रवृत्ति बहुतों मे होती है। उनमे खतरे की संभावना की भी वे कल्पना करते हैं। जो जीवन में किसी भी तरह का संघर्ष न करते हुए सीधे रास्ते जाना चाहता है, उसे सामाजिक मान्यताओं का ही आश्रय लेना पड़ता है। आम तौर पर उसी तरह की मनोवृत्ति बचपन से दी हुई शिक्षा से सबल होती है, और परम्परागत घिसा-घिसाया मार्ग अपनाने की वृत्ति भी समाज मे बढ़ती जाती है। जब कोई भी प्रचलित जीवनक्रम से विसंगत जाने का साहस करता है, वह सामाजिक टीका का विषय बनता है। इसी सामाजिक टीका के डर से सीधे रास्ते चलकर अपना प्रपंच सुखमय करने की ही प्रवृत्ति प्रबल होती जाती है। इस प्रकार

से जीव अपनी कल्पना के अनुसार सुखी होते है, परन्तु समाधान में सन्तुष्ट होने की अपेक्षा संशयग्रस्त मनुष्य का होना अधिक सुखद है, ऐसा जो प्रसिद्ध ग्रीक तत्त्वज्ञानी का मत है, वह सर्वथा गलत नही है। चौकस मनोवृत्ति व हर समय सवाल-जवाब करने की आदत बहुतों को बुरी लगती है परन्तु समाज की वैचारिक तथा अन्य प्रगति इस प्रकार के जिज्ञासु लोगों पर ही निर्भर है। जिनके मन में कभी विचारों में ही हलचल न हो और जिनके मन मे कभी कौतूहल का प्रवेश न हो, वे मन एक तरह से सुप्त और निस्तेज होते हैं और बचपन से अपनाये, स्वीकृत जीवन मूल्यों पर ही उनकी जीवन-यात्रा चलती रहती है। जहाँ तक उनके निश्चित दृष्टिकोण से मिले-जुले अनुभव होते हैं, वहाँ तक वे खीचते रहते हैं, परन्तु जहाँ उनसे विपरीत अनुभवों का सामना करना पड़ता है, वहाँ पूर्व संचित उनकी पूंजी बेकार साबित होती है। नये तरीकों से वे सोच नही सकते हैं, व नयी परिस्थिति मे अपने पुराने अनुभवों के साथ अपने आपको ढाल नही सकते। जिससे उनका मन दुःखी होता है और पैरों तले की जमीन खिसक जाय इस प्रकार बौद्धिक दृष्टि से उस व्यक्ति का जीवन समाप्त-प्राय सा हो जाता है ऐसा कहना कोई गलत नहीं होगा। इसलिए स्वतन्त्र रूप से विचार करने वाले, सत्य की खोज करने वाले व्यक्तियो की समाज को आवश्यकता है। जिनके मन पहले ही बन चुके हैं या जिन्होने अपने मन की खिड़कियाँ बन्द कर रखी है तथा जिनके मानस मे नये जमाने की रोशनी जाने की कोई गुंजाइश नही है तथा नये युग की गर्जना, कान होते हुए भी जिनके अन्तःकरण तक नही पहुँच पाती है, उनके जीवन का तो शोकान्त ही है। इस दृष्टि से हम विचार करें तो हम यह अनुभव करेंगे कि नागरिकों के अन्दर जितनी अधिक मात्रा मे नये-नये विचारों को ग्रहण करने की तथा ग्राह्य-अग्राह्य के चुनने की पात्रता बढ़ेगी और जितने अधिक परिमाण में ऐसे नागरिकों की संख्या बढ़ेगी, उतनी ही अधिक मात्रा मे समाज मे समतोल—विचार तथा व्यवहार का साक्षात्कार होगा। कई तरह के प्रश्न समाज मे खड़े होते हैं, उन पर आज की लोकशाही समाज-व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक को अपनी राय देनी पड़ती है और स्वअभि-प्राय बताना पड़ता है। इसलिये यह जरूरी है कि उपस्थित प्रश्न में भिन्न-भिन्न बातो का समावेश है उनका पृथक्करण कर उसमे सम्मिलित विचारो के हर पहलू पर तथा उनमे निहित तत्त्व समाज की दृष्टि से उचित हैं अथवा नहीं इसका बारीकी से अध्ययन करना उसके लिए जरूरी है। अफवाह के माने खबर नहीं होती। गपशप के अड्डे भी एक तरह के रेडियो होते हैं, वहाँ सुनी हुई हर बात को सही मानने की वृत्ति अगर समाज मे जोर पकड़ती गई तो किसी भी चीज को गम्भीरतापूर्वक व विवेक के साथ करना कठिन हो जाएगा। जहाँ पर समाचारपत्र, खबरें और सचाई इनमें एकरूपता न आ सके वहाँ किसी भी प्रश्न पर अपना सही अभिप्राय देना विचारवान व्यक्तियो के लिए भी कठिन हो जाता है। सत्य के लिए समाचार पत्र ही सर्वथा निर्भर करना उचित नही है, परन्तु हर चीज की प्रत्यक्ष जाँच करना तथा सत्य की खोज करना हर व्यक्ति के लिए संभव नही है। इसलिए समाचारपत्रों में समाचारों की सचाई के लिए सावधानी, स्वयं समाचारपत्रों को ही देशहितार्थ लेनी चाहिए। यद्यपि वृत्त पत्र व्यवसाय आज एक व्यापार

बन गया है, फिर भी उसकी भी कुछ मर्यादाएँ तथा मूल्यांकन विधि जरूरी है। हर समय उत्तेजित हो चटपटेदार लिखना भी सम्भव नहीं। एक विशिष्ट समाचारपत्र पर सदा निर्भर रहने वाले व्यक्ति को जब विपरीत अनुभव आता है तब उसका परिणाम इस समाचारपत्र की प्रतिष्ठा पर पड़ता है। समाचारपत्रों का भी देश में शिक्षा जितना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए इन पर भी कुछ सामाजिक मर्यादाओं का होना जरूरी है। कानून जो प्रतिबन्ध लगायेगा वह कानून तथा व्यवस्था की दृष्टि से होगा ही, परन्तु समाज की तरफ से जो मर्यादाएँ लगाई जायेंगी वे सामाजिक अभिरुचि, शान्ति तथा मानसिक सन्तुलन आदि इन दृष्टि से ही होंगी। शिक्षा के जरिये विशिष्ट आग्रही वृत्ति निर्माण करना तथा समाचारपत्रों द्वारा दूषित पूर्वग्रह उत्पन्न करना ये दोनों बातें मानसिक स्वतन्त्रता की दृष्टि तथा विचार-स्वतन्त्रता की दृष्टि से अयोग्य हैं।

समाज में अच्छी व बुरी बातें, दोनों की प्रगत होती है। कालान्तर में बुराई त्याग दी जाती है व अच्छाइयों को स्वीकार किया जाता है, परन्तु प्राय यह क्रिया बड़ी धीमे-धीमे चलती है। प्रचार द्वारा, भड़कीली बातों को अधिक आकर्षक बनाया जाता है और फिर वे कुत्ते की जहर की तरह फैलती हैं। मानवी स्वभाव ऐसा है कि किसी के विषय में कोई भी बुरी अफवाह हो तो उसे लोग एकदम सच मान लेते हैं। अफवाह हाथी के पैर से चलती है व सत्य चींटी की चाल से चलता है। इसलिए कोई व्यक्ति एक बार टीका या कुचेष्टा का विषय बन जाने के बाद अगर यह मालूम भी हो जाय कि उसकी वह टीका असत्य व अन्यायपूर्ण है, अर्थात् इसमें काफी समय लगता है फिर भी उस व्यक्ति का टीकाकार द्वारा लिखा हुआ चित्र उसके नाम के साथ चिपका ही रहता है। चेम्बरलेन का छाता, चर्चिल का बुलडागी स्वरूप जो एक बार टीकाकारों ने बनाया वह उनके साथ काफी वर्षों तक साथ-साथ बना रहा। भारतीय राजनीतिज्ञों के साथ भी इसी प्रकार का अन्याय हुआ है। महाराष्ट्र में राजकीय जीवन में कोई भी प्रमुख व्यक्ति इस प्रकार के विकृत प्रचार तथा द्वेषपूर्ण टीका से बचा नहीं। तिलक की आधी आयु अपने लोगों से टक्कर लेने में गई। श्री गोखले को टीकाकारों ने आखिरी दम तक नहीं छोड़ा। वर्तमान नेताओं में से किसी के विचारों के बदले उसके लिबास पर अधिक टीका की जाती है! किसी ने राजनीति में आगे क्या होगा, इस विषय पर अगर अपने विचार प्रकट किए तो उसे गप्पी कहा जाता है, और किसी ने कार्य की दृष्टि से कुछ विचारपूर्वक वर्णन किया तो उसे शक्की दिमाग की उपाधि दी जाती है। सारांश, महाराष्ट्र की राजनीति में शिवाजी के वारिस बहुत हैं, व उनकी परम्परा अभी तक चल रही है। किसी के पराक्रम को न मानना, सफलता के मिलने पर उसका श्रेय उस व्यक्ति को न देना व असफल होने पर परि-स्थिति को नहीं, अपितु उस व्यक्ति के मत्थे दोष मढ़ना यह वृत्ति महाराष्ट्र की राजनीति की स्थायी भाव बनती आ रही है। परन्तु हर बुराई के साथ कुछ अच्छाई भी होती है। इस दृष्टि से जहाँ समाज में कुचेष्टा वृत्ति पायी जाती है, वहाँ सूक्ष्मदर्शी, विशाल मन से सद्भावना के साथ गुणग्राहकता का परिचय देने वाली वृत्ति भी पायी जाती है। पहली व दूसरी वृत्ति में अगर संतुलन

रहा तो समाज का नैतिक जीवन स्वस्थ रहता है व आत्म सम्मान की भावना भी। समाज के अन्दर जो गुणग्राही, विवेकी तथा बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं, वे जिस प्रकार से सोचते तथा आचरण करते हैं उनका परिणाम सामाजिक व्यवहार पर होता रहता है। उनके उदाहरण से "यद् यद् आचरति श्रेष्ठः" इस न्याय से विचार स्वातंत्र्य को उत्तेजना मिलती है। उस दृष्टि से समाज में जितने श्रेष्ठ व्यक्ति होंगे उनका प्रभाव, चाहे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, समाज के ऊपर पड़ेगा। परन्तु वे वास्तविक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ अथवा उच्चकोटि के होने जरूरी हैं, साधारण होने पर वह प्रभाव नहीं पड़ेगा। श्रेष्ठ होने पर ही वे जनमत को आकर्षित कर सकेंगे और अपना प्रभाव जनता पर डालेंगे। 'एरण्डोऽपि द्रुमायते' यह उक्ति यहाँ लागू नहीं होती! इसलिए वे व्यक्तित्व में उच्चकोटि के होने चाहिएँ। अगर वे विक्षिप्त भी हों, फिर भी उनकी विद्वत्ता के कारण तथा श्रेष्ठ चारित्र्य होने के कारण उनका प्रभाव अवश्य पड़ता है। संशोधन क्षेत्र में राजवाड़े ने जो काम किया और जो निःस्पृहता दिखाई उसका परिणाम समाज पर हुआ था; केशव सुत ने जो तुतारी बजाई थी उसकी आवाज उनके मरने के बाद भी लोगों के कानों में गूँज रही है। सन्त अण्णासाहेब पटवर्धन के चरित्र का असर उनसे सम्बन्धित हजारों लोगों के जीवन पर हुआ! कर्मवीर बाबूराव पाटिल के अखण्ड सेवाकार्य से अनेकों को प्रेरणाएँ मिलीं। प्रसिद्ध समाज-सेवक अण्णासाहेब कर्वे का जीवन समाज-सेवकों के लिए अखण्ड 'सन्देश वाहक' है। तात्पर्य यह है कि समाज के अन्दर जहाँ मन के अन्दर दूषित पूर्वग्रह निर्माण कर निष्प्रभ व अविवेकी जीवन बनाने वाले लोग होते हैं, वहाँ सत्य के लिए, मत स्वातंत्र्य के लिए, आत्यन्तिक त्याग की प्रेरणा देने वाले लोग भी होते हैं। आगरकर को समाज ने बहुत परेशान किया, और अनेकों कष्ट पहुँचाए परन्तु फिर भी उनका काम रुका नहीं, चालू ही रहा। अन्त में उनकी विजय ही हुई। इस प्रकार की कार्यनिष्ठा दिखाने वाले दीपक समाज के अन्धकारमय जीवन में प्रकाश देते रहते हैं। सत्य के लिए स्वयं बलिदान कर सत्य को अमर करने वाले कुछ व्यक्ति हर समाज के अन्दर होते ही हैं। कला-संगीत, तथा साहित्य क्षेत्र में ध्येय का ध्वज ऊँचा उठाकर, विरोध अविरोध की आँधी-तूफान में निडर होकर चलने वाले व्यक्ति समाज के लिए भूषण होते हैं। सामाजिक चरित्र के वे प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों के उदाहरण का समाज पर असर होता है, व उनके पद-चिह्नों पर चलने वाले कई लोग तैयार होते हैं। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति ही सही अर्थ में विचार-स्वातन्त्र्य तथा मानसिक आजादी के संरक्षक होते हैं।

शिक्षा-व्यवस्था, समाचार-पत्र तथा श्रेष्ठ जनों का आचरण—ये तीनों बातें समाज के आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से महत्व रखती हैं। स्वतन्त्रता के उद्देश्य का सदा ऊंचा स्तर रहे इस दृष्टि से ही शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए परन्तु इस क्षेत्र में किसी भी सुधार का परिणाम तत्काल नहीं दिखाई देता है। आज भारत को आजाद हुए १४ वर्ष पूरे हो गए हैं और इन १४ वर्षों में छोटी-मोटी कम से कम १४ समितियों या आयोगों की नियुक्ति हुई है। उन्होंने अपनी रिपोर्टें भी पेश कीं फिर भी शिक्षा क्षेत्र में जो अनिश्चितता तथा गड़बड़ चल रही है, उसे देखते हुए बहुत दुःख होता

है। भारतीय संविधान में भावी समाज के ध्येय के विषय में उल्लेख किया गया है। भावी आर्थिक व्यवस्था कैसी होगी, उसकी भी कल्पना स्थूल रूप से संविधान में दी गई है, राज्य किसलिए है, उसका उद्देश्य क्या है, इसकी भी मोटी रूपरेखा संविधान में निहित है। यह रूपरेखा निश्चित होने के बाद उसको प्रात्यक्षिक रूप देने की दृष्टि से समाज के हर क्षेत्र में योजनाएँ बननी चाहिएँ व वैसा कार्य होना चाहिए। जो कुछ भी कार्य हो या कदम उठाए जाएँ वे उन कार्यों, आदर्शों से व उद्देश्यों से विसगत नहीं होने चाहिएँ। बारह वर्ष बाद अब संविधान की कुछ मौलिक बातों के विषय में चर्चा शुरू हुई है। विचार-स्वातंत्र्य की दृष्टि से व मत स्वातन्त्र्य की दृष्टि से तथा औपचारिक दृष्टि से यह ठीक है परन्तु एक ईंट पर दूसरी ईंट इस प्रकार ईंटें रचाते हुए दीवार खड़ी करने के बाद उसे गलत कहकर गिराने से कभी दीवार खड़ी नहीं हो सकती। ईंट व चूना अवश्य नष्ट हो जाएगा। मनुष्य के श्रम तथा समय फिजूल जाएँगे, केवल स्वयकर्तृत्व का झूठा अभिमान बाकी रहेगा। इसलिए दीर्घ सोच-विचार व मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की सब पहलुओं से चर्चा करने के बाद जो संविधान बना, उसकी मौलिक बातों के विषय में वादविवाद करना याने समाज की प्रगति को कुण्ठित करना या असंमान्य कर देना ही है। एक बार जो ध्येय निश्चित हो गया, उसकी ओर बढ़ना चाहिए। नक्शा तैयार होने के बाद व उसके अनुसार काम चालू होने के बाद यह खिड़की यहाँ नहीं चाहिए, वह दरवाजा वहाँ ठीक नहीं है इस प्रकार की नुक्ताचीनी अगर चलती रही तो जो निर्माण कार्य होगा वह किसी हद तक भी फायदेमन्द नहीं होगा। वह मनपसन्द हो सकता है परन्तु सुखदायक नहीं होगा। क्योंकि वह अस्थिर मन से किया गया है इसलिए उसमें स्थैर्य नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ मौलिक सिद्धान्त निश्चित करने के बाद जो कुछ भी किया जाए वह उन सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए। देश में नियोजनपूर्ण अर्थव्यवस्था होगी यह निश्चित होने के बाद उस व्यवस्था को निभानेवाले नागरिक बनने चाहियें। इस दृष्टि से ही शिक्षा-व्यवस्था अगर कायम हुई तो २० वर्ष बाद इस शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम स्वरूप जनमत का दृष्टिकोण बदला हुआ दिखाई देगा। शिक्षा-व्यवस्था के महत्त्व को समझते हुए, उसमें समयानुसार परिवर्तन करने के बाद भी उसका परिणाम तत्काल नहीं दिखाई देता। श्रेष्ठ पुरुष भी समाज में बने बनाए तैयार नहीं मिलते। यहाँ भी क्रमवाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। चारित्र्य-सम्पन्न व्यक्ति को भी सामाजिक मान्यता एकदम नहीं प्राप्त होती। इस मान्यता व बड़प्पन का वह धीमे-धीमे अधिकारी बनता है। श्रेष्ठ व्यक्ति को भी संघर्ष में से गुजर कर रास्ता निकालना पड़ता है। विरोध के बीच शान्ति ग्रहण कर आगे कदम बढ़ाने पड़ते हैं। इसी प्रकार से वह आम जनता से ऊपर उठता है। सांसारिक दुनिया से उच्च वातावरण में वह प्रवेश करता है। उसके चारित्र्य का प्रभाव जनता पर पड़ता है, परन्तु इस प्रकार के चरित्रवान पुरुषों को कोई खोजा नहीं करता है, पर एकबार जनता की निगाह में आने के बाद उनके लिए जनता से छिपाना असम्भव हो जाता है। मजदूरों की तरह ये बाजार में खरीदे नहीं जा सकते। समाज के अन्दर जबकि जहरीला प्रचार चल रहा हो असत्य का बाजार गरम हो, इस परिस्थिति के बीच समाज-कल्याण की दृष्टि से

किये जाने वाले प्रयत्नों की रचना बहुत मंथर गति से की जाती है। समाचारपत्रों को राज्य की सम्पत्ति का चौथा स्तम्भ माना जाता है। राज्य-व्यवस्था के मंडप के आधारभूत जिन चार स्तम्भों का वर्णन किया जाता है वे हैं, संसद् के दो गृह-राज्य-सभा व लोकसभा तथा राज्य की कार्यकारिणी सत्ता याने मंत्रिमंडल व चौथा स्तम्भ है समाचारपत्र ! आज के लोकशाही के युग में समाचारपत्र किस प्रकार से प्रतिक्रिया कर चलते हैं इसका अनुभव सर्वविदित ही है ! जहाँ हुकुमशाही चलती है वहाँ के समाचारपत्र राज्यकर्त्ता के विचार प्रकट करने वाली जिह्वा ही बन जाते हैं और कुछ बोल ही नहीं सकते हैं। बल्कि जहाँ पर पक्षीय हुकुमशाही शासन होता है वहाँ सरकारी मिल्कियत के सिवाय अन्य कोई समाचारपत्र हो ही नहीं सकते ! इसलिए जहाँ लोकशाही राज्य है वहीं पर निजी मिल्कियत के समाचारपत्र पनप सकते हैं। परन्तु जहाँ मत-स्वातंत्र्य तथा मुद्रण-स्वातंत्र्य पूरा-पूरा होता है, वहीं के समाचारपत्र अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर सकते हैं व फिर झूठे समाचार देना, सत्य को विकृत रूप देना या उसको गुप्त रखना, तथा झूठ बताना आदि चलता है। समाचारपत्रों की नीति के सूत्र वहीं विशिष्ट हितों के पुरस्कार कर्ताओं के हाथ में चले जाते हैं। जिनका अन्न वे खाते हैं, उनकी प्रशंसा पत्रकारों को करनी पड़ती है। सिनेमाओं के विज्ञापन मिलते हैं इसलिए सिनेमा चाहे जैसा हो, फिर भी उसकी नुक्ताचीनी न करने की वे खबरदारी लेते हैं। सत्य व न्याय की हामी भरने वाले समाचारपत्र कर्ता प्रत्यक्ष में उसके विपरीत चलते हुए नजर आते हैं। इसलिए शिक्षा-स्तर को ऊँचा उठाकर श्रेष्ठ पुरुषों के सान्निध्य में आकर सत्य क्या है यह जानने का मौका मिलने से पूर्व ही समाज में असत्य का इतना अधिक प्रचार होता रहता है कि सत्य की पहचान समाज में किसी को नहीं हो पाती। अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सोचने लगें, सत्य व असत्य की छान-बीन कर परख कर उसे ग्रहण करने लगे तो बड़ों के हितसम्बन्धों को चोट पहुँचती है। इसलिए वे यह परखने की वृत्ति चाहते नहीं। सब लोग अगर सुनिश्चित हो गये, समझदार बन गये तो वे उनकी सम्पत्ति की जाँच-पड़ताल करेंगे तो उनकी झूठी प्रतिष्ठा का पर्दाफाश करेंगे यह डर समाज के इन पूंजीपतियों को सदा बना रहता है। इसलिए अधिक-से-अधिक प्रचार कर वे मनुष्यों के मनों को धीर करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इन प्रयत्नों में वे झूठे सिक्कों का समर्थन करते हैं, झूठे देवताओं के सामने धूपबत्ती जलाकर जनता को धोखे में डालकर समाज के अन्दर अपना स्थान कायम व मजबूत करते हैं।

समाज की उन्नति के लिए सामाजिक आदर्शों की रक्षा करना अत्यावश्यक है। उन्हें निकृष्टता या नीचता को लाने वाली हर बात का निषेध करना चाहिए। सामाजिक आदर्शों में नागरिक स्वतन्त्रता एक प्रमुख आदर्श है, इसलिए नागरिक स्वतन्त्रता पर सरकार की ओर से कभी हमला न हो, इसकी दीक्षा हरएक को लेनी चाहिए, परन्तु समाज के अन्दर के खानगी हित सम्बन्धों का सङ्गठन होने के कारण व समृद्ध होने के कारण वे वृत्त-पत्रों से फायदा उठाते हैं। क्योंकि वे जानते ही हैं कि तुरन्त फल देने वाले यही साधन हैं। जिस प्रकार कुछ देवता बहुत शीघ्र मनौती से प्रसन्न हो जाते हैं, केवल एकाध मुर्गी या बकरे का चढ़ावा ही इसके लिए काफी होता

है। इसी प्रकार से आधुनिक युग में समाचार-पत्र, यह देवता भी शीघ्र प्रसन्न होने वाला है। थोड़े से विज्ञापन, कभी-कभी चाय पार्टी या कभी-कभी पीने का या रहने का इन्तजाम हो जाय तो उस पर भी काम चल जाता है और अगर इससे भी कुछ अधिक की आवश्यकता पड़ी तो कम्पनी के हिसाब में से पुरस्कार दिए जाते हैं ही उसे पूरा कर दिया जाता है। उसके बाद जो प्रचार किया जाता है, वह इतना अधिक होता है कि उसमें समाज में जो अब तक के प्रस्थापित अभिरुचि के सौजन्यपूर्ण संकेत होते हैं, वे एक तरफ रह जाते हैं। इस असत्य की लहर को समय पर प्रतिबन्ध न लगाये जाने पर और उसको रोक-थाम न होने पर समस्त सामाजिक भूमि उसमें व्याप्त हो जाती है व बहुत विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे अवसर पर कई बार जो कुछ अच्छाइयाँ होती हैं, वे बह जाती हैं और नीति सत्ता का किनारा इस अकल्पित बाढ़ से कट जाता है। अन्तिम ध्येय तो दूर रहा, परन्तु जो कुछ अल्प प्रगति की हुई होती है वह भी नष्ट हो जाती है। यह माना कि समाज में स्वातन्त्र्य होना चाहिये, परन्तु आज जिस स्वतन्त्रता का हम अनुभव ले रहे हैं, वह वास्तविक स्वातन्त्र्य को खाने दौड़ रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इस स्वातन्त्र्य भरी स्वतन्त्रता पर ठीक समय पर प्रतिबन्ध लगाने में विलम्ब हुआ या जिस वास्तविक आजादी का लोप हो रहा है, उसे रोकने के लिए ठोस कार्रवाई नहीं की गई, तो स्वातन्त्र्य विरोधी मोर्चा पक्का हो जाता है। लहर के साथ आया हुआ मैल फिर किनारे की भूमि पर जम जाता है व उसका अड्डा बन जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जहाँ पर समाज के स्वातन्त्र्य विषयक निश्चय दृढ़ता से इस हमले का विरोध नहीं करते; जहाँ स्वतन्त्रता में सम्पूर्ण श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति गलित-धैर्य हो जाते हैं; वहाँ असत्य सत्य बन जाता है, गलत निर्दोष साबित हो जाता है और जो इस लहर के निर्माता होते हैं वे या तो स्वयं सत्ताधीश बन जाते हैं या सत्ताधीश लोगों को वे अपनी मुट्ठी में रखते हैं। जो सत्ताधीश होते हैं उनको फिर लोकमत की परवाह करने की इच्छा नहीं होती। जो वास्तव में गलत है, ऐसा उनका विश्वास होता है, उसे भी प्रचारी लोकमत का जोर मिलने के कारण वे सही मानने लग जाते हैं। नैतिक दृष्टि से जो बात हीन है, ऐसा उनका मन बोलता है, उसकी अनैतिकता भी तूफानी लोकमत के प्रवाह में धुल गई, ऐसा वे मानते हैं। इस प्रकार की घटनाओं के उदाहरण आज की दुनिया में प्रायः दिखाई देते हैं। लोक सभा या विधान सभा में दिये जाने वाले जवाब केवल लोकमत उनके पक्ष में है इस घमंड में दिये जाते हैं। वस्तु स्थिति का विपर्यास उन्हें विपर्यास नहीं दिखाई देता। इस प्रकार सत्ताधीश लोग अपने किये हुए पाप या कृत्य को छिपाने का अधिकाधिक प्रयत्न करते हैं और इस विषय में नागरिक को विचार-स्वातन्त्र्य देने से इनकार करते हैं। सरकार के आस-पास चक्कर काटने वाले हित-सम्बन्धी चाटुकारों के समाचार-पत्र सरकार के इस कार्य का पक्ष लेते हैं। तात्पर्य यह है कि समाचार-पत्र अयोग्य तरीके से जनता की स्वतन्त्रता को चोट पहुँचाते हैं। इतना ही नहीं, अपितु सरकारी झूठ का समर्थन कर झूठ को सत्य की प्रतिष्ठा दे देते हैं। जिस राज्य में स्वातन्त्र्य की लालसा व्यभिचारी होगी, वहाँ कभी भी सच्चे स्वातन्त्र्य का आविष्कार नहीं होगा। सच्ची स्वतन्त्रता मानसिक प्रेरणारूप होती है। लोकमत से इसका सम्बन्ध होना अपरिहार्य नहीं है।

अन्याय का विरोध करने का अभ्यास मन को हुए बिना लोगों के कहने से प्रतिरोध करना, वकील की सहायता से मुकद्दमा लड़ने के समान है। आजादी के लिए व्याकुलता होनी चाहिए और वह मन का धर्म बन जाना चाहिए। अगर राज्य-कर्ताओं का भी वही धर्म नहीं हुआ तो उनका स्वातन्त्र्य विषयक दृष्टिकोण बाजार भाव की तरह बढ़ता-घटता रहता है।

समाज के अन्दर ऊपर कहे हुए अनुसार हित सम्बन्धों का संघटन होता है। समाचारपत्र जैसा प्रचार-साधन कब्जे में कर लोकमत को विशिष्ट विचारों की अफीम देने से ऐसे ही सफल होते हैं। परन्तु यह सब करने में उनका उद्देश्य केवल स्वार्थ साधने का होता है व यह सब हित-संरक्षण का कार्य वे राज्य-सत्ता के मार्फत करते हैं। राज्य-सत्ता लोकमत का समर्थन चाहती है. वह उसे समाचार-पत्रों के प्रचाररूपी मायाजाल से मिलता है। इसका नतीजा यह होता है कि समाज के अन्दर जो गरीब व साधन विहीन परन्तु, शीलवान व श्रद्धावान होते हैं उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होती। सच्ची स्वतन्त्रता में समता का समावेश होता है, अतः सच्ची स्वतन्त्रता का इस अर्थ में संरक्षण करने के लिए उसकी लगन व व्याकुलता हरएक के अन्दर समान रूप से होनी चाहिए। अगर स्वतन्त्रता का परिणाम विभिन्न प्रकार से होने वाला हो तो वह स्वातंत्र्य अर्थशून्य है। समाज में सर्वत्र स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था (ला फि अफेअर) है। जिसका अर्थ है कि हर किसी भी व्यक्ति को किसी भी वस्तु के उत्पादन करने की, वितरण करने की तथा उपभोग करने की स्वतन्त्रता है। इसके परिणामस्वरूप समाज में कुछ लोग धनी, कुछ सामान्य व बहुसंख्यक लोग दरिद्री बन जाते हैं। यह परिस्थिति, क्योंकि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप बनी है इसलिए उनमें से जो अधिक-से-अधिक धनाढ्य बने होते हैं वे उसे कायम रखने की दृष्टि से उस प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं। समता स्वरूपी स्वतन्त्रता का वे विरोध करते हैं। अन्य लोगों को सच्ची स्वतन्त्रता मिले, ऐसी उन्हें कभी इच्छा नहीं होती। क्योंकि वास्तविक स्वतन्त्रता मिलने का अर्थ है, सामाजिक विषमताओं का कम होना। समाज के अन्दर जिनके पास कुछ है और जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दो विषम वर्गों का निर्माण, यही इस स्वतन्त्रता की समाज को देन है। वास्तव में समाज के अन्दर समता होनी चाहिए परन्तु समाज में यह विषमता पैदा होने पर एक बार जो सम्पन्न हो जाते हैं, वे सदा वैसे ही बने रहने की तीव्र इच्छा रखते हैं। वे समाज की सामाजिक सत्ता व राज्य की राज-सत्ता इन दोनों की सहायता से विद्यमान विषमता को हमेशा के लिए कायम रखने का प्रयास करते हैं। केवल इतना ही नहीं, किंबहुना विद्यमान विषमता ही स्वाभाविक स्थिति है, इस प्रकार का वेदान्त वे कहने लगते हैं। जो दरिद्री हैं, वे उसी के योग्य भी हैं, अगर उनमें योग्यता होती तो वे कभी वैसे बनते ही नहीं तथा जो वर्तमान विषमता है, वह भी मनुष्य निर्मित नहीं है, इसलिए उसका दोष समाज-व्यवस्था को नहीं है। इस प्रकार के तत्वज्ञान का पुष्ट प्रमाण दिया जाता है। जिनके पास कुछ है, जो धनिक व पूंजीपति हैं, वे इस प्रकार का कुछ वेदान्त बताकर अपने मन का सन्तोष कर लेते हैं। वे अपनी सद्-असद् विवेक बुद्धि को [illegible] हैं और

है। इसी प्रकार से आधुनिक युग में समाचार पत्र, यह देवता भी शीघ्र प्रसन्न होने वाला है। थोड़े से विज्ञापन, कभी-कभी चाय पार्टी या कभी-कभी पीने का दारू रहने का इन्तजाम हो जाय तो उस पर भी काम चल जाता है और अगर इससे भी कुछ अधिक की आवश्यकता पड़ी तो कम्पनी के हिसाब में से पुरस्कार इस भांति से दें। उसे पूरा कर दिया जाता है। उसके बाद जो प्रचार किया जाता है, वह इतना अधिक होता है कि उसमें समाज में जो अब तक के प्रस्थापित अभिदर्शन के गौरवपूर्ण संकेत होते हैं, वे एक तरफ रह जाते हैं। इस समय की लहर को समय पर प्रतिबन्ध न लगाये जाने पर और उसकी रोक-थाम न होने पर समस्त सामाजिक भूमि उसमें व्याप्त हो जाती है व बहुत विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे अवसर पर कई बार जो कुछ अच्छाइयाँ होती हैं, वे बह जाती हैं और नीति तत्त्व का किनारा इस अमर्यादित बाढ़ से कट जाता है। अन्तिम ध्येय तो दूर रहा, परन्तु जो कुछ अल्प प्रगति की हुई होती है वह भी नष्ट हो जाती है। यह माना कि समाज में स्वातन्त्र्य होना चाहिये, परन्तु आज जिस स्वतन्त्रता का हम अनुभव ले रहे हैं, वह वास्तविक स्वातन्त्र्य को खाने दौड़ रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इस स्वातन्त्र्य भरी स्वतन्त्रता पर ठीक समय पर प्रतिबन्ध लगाने में विलम्ब हुआ या जिस वास्तविक आजादी का लोप हो रहा है, उसे रोकने के लिए ठोस कार्रवाई नहीं की गई, तो स्वातन्त्र्य विरोधी मोर्चा पक्का हो जाता है। लहर के साथ आया हुआ फेन फिर किनारे की भूमि पर जम जाता है व उसका अंश बन जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जहाँ पर समाज के स्वातन्त्र्य विषयक निश्चय दृढ़ता से इस हमले का विरोध नहीं करते, जहाँ स्वतन्त्रता में सम्पूर्ण श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति गलित-धैर्य हो जाते हैं; वहाँ असत्य सत्य बन जाता है, गलत निर्दोष साबित हो जाता है और जो इस लहर के निर्माता होते हैं वे या तो स्वयं सत्ताधीश बन जाते हैं या सत्ताधीश लोगों को वे अपनी मुट्ठी में रखते हैं। जो सत्ताधीश होते हैं उनको फिर लोकमत की परवाह करने की इच्छा नहीं होती। जो वास्तव में गलत है, ऐसा उनका विश्वास होता है, उसे भी प्रचारी लोकमत का जोर मिलने के कारण वे सही मानने लग जाते हैं। नैतिक दृष्टि से जो बात हीन है, ऐसा उनका मन बोलता है, उसकी अनैतिकता भी तूफानी लोकमत के प्रवाह में धुल गई, ऐसा वे मानते हैं। इस प्रकार की घटनाओं के उदाहरण आज की दुनिया में प्रायः दिखाई देते हैं। लोक सभा या विधान सभा में दिये जाने वाले जवाब केवल लोकमत उनके पक्ष में है इस घमंड में दिये जाते है। वस्तु स्थिति का विपर्यास उन्हें विपर्यास नहीं दिखाई देता। इस प्रकार सत्ताधीश लोग अपने किये हुए पाप या कृत्य को छिपाने का अधिकाधिक प्रयत्न करते हैं और इस विषय में नागरिक को विचार-स्वातन्त्र्य देने से इनकार करते हैं। सरकार के आस-पास चक्कर काटने वाले हित-सम्बन्धी चाटुकारों के समाचार-पत्र सरकार के इस कार्य का पक्ष लेते हैं। तात्पर्य यह है कि समाचार-पत्र अयोग्य तरीकों से जनता की स्वतन्त्रता को चोट पहुँचाते है। इतना ही नहीं, अपितु सरकारी झूठ का समर्थन कर झूठ को सत्य की प्रतिष्ठा दे देते है। जिस राज्य में स्वातन्त्र्य की लालसा व्यभिचारी होगी, वहाँ कभी भी सच्चे स्वातन्त्र्य का आविष्कार नहीं होगा। सच्ची स्वतन्त्रता मानसिक प्रेरणारूप होती है। लोकमत से इसका सम्बन्ध होना अपरिहार्य नहीं है।

अन्याय का विरोध करने का अभ्यास मन को हुए बिना लोगों के कहने से प्रतिरोध करना, वकील की सहायता से मुकद्दमा लड़ने के समान है। आजादी के लिए व्याकुलता होनी चाहिए और वह मन का धर्म बन जाना चाहिए। अगर राज्य-कर्ताओं का भी वही धर्म नहीं हुआ तो उनका स्वातन्त्र्य विषयक दृष्टिकोण बाजार भाव की तरह बढ़ना घटता रहता है।

समाज के अन्दर ऊपर कहे हुए अनुसार हित सम्बन्धों का संघटन होता है। समाचार-पत्र जैसा प्रचार-साधन कब्जे में कर लोकमत को विशिष्ट विचारों की अफीम देने में ऐसे ही सफल होते हैं। परन्तु यह सब करने में उनका उद्देश्य केवल स्वार्थ साधने का होता है व यह सब हित-संरक्षण का कार्य वे राज्य-सत्ता के मार्फत करते हैं। राज्य-सत्ता लोकमत का समर्थन चाहती है, वह उसे समाचार-पत्रों के प्रचाररूपी मायाजाल से मिलता है। इसका नतीजा यह होता है कि समाज के अन्दर जो गरीब व साधन विहीन परन्तु, शीलवान व श्रद्धावान होते हैं उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होती। सच्ची स्वतन्त्रता में समता का समावेश होता है, अतः सच्ची स्वतन्त्रता का इस अर्थ में संरक्षण करने के लिए उसकी लगन व व्याकुलता हरएक के अन्दर समान रूप से होनी चाहिए। अगर स्वतन्त्रता का परिणाम विभिन्न प्रकार से होने वाला हो तो वह स्वातंत्र्य अर्थशून्य है। समाज में सर्वत्र स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था (ला फि अफेअर) है। जिसका अर्थ है कि हर किसी भी व्यक्ति को किसी भी वस्तु के उत्पादन करने की, वितरण करने की तथा उपभोग करने की स्वतन्त्रता है। इसके परिणामस्वरूप समाज में कुछ लोग धनी, कुछ सामान्य व बहुसंख्यक लोग दरिद्री बन जाते हैं। यह परिस्थिति, क्योंकि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप बनी है इसलिए उनमें से जो अधिक-से-अधिक धनाढ्य बने होते हैं वे उसे कायम रखने की दृष्टि से उस प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं। समता स्वरूपी स्वतन्त्रता का वे विरोध करते हैं। अन्य लोगों को सच्ची स्वतन्त्रता मिले, ऐसी उन्हें कभी इच्छा नहीं होती। क्योंकि वास्तविक स्वतन्त्रता मिलने का अर्थ है, सामाजिक विषमताओं का कम होना। समाज के अन्दर जिनके पास कुछ है और जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दो विषम वर्गों का निर्माण, यही इस स्वतन्त्रता की समाज को देन है। वास्तव में समाज के अन्दर समता होनी चाहिए परन्तु समाज में यह विषमता पैदा होने पर एक बार जो सम्पन्न हो जाते हैं, वे सदा वैसे ही बने रहने की तीव्र इच्छा रखते हैं। वे समाज की सामाजिक सत्ता व राज्य की राज-सत्ता इन दोनों की सहायता से विद्यमान विषमता को हमेशा के लिए कायम रखने का प्रयास करते हैं। केवल इतना ही नहीं, किम्बहुना विद्यमान विषमता ही स्वाभाविक स्थिति है, इस प्रकार का वेदान्त वे कहने लगते हैं। जो दरिद्री हैं, वे उसी के योग्य भी हैं, अगर उनमें योग्यता होती तो वे कभी वैसे बनते ही नहीं तथा जो वर्तमान विषमता है, वह भी मनुष्य निर्मित नहीं है, इसलिए उसका दोष समाज-व्यवस्था को नहीं है। इस प्रकार के तत्त्वज्ञान का पुष्ट प्रमाण दिया जाता है। जिनके पास कुछ है, जो धनिक व पूँजीपति हैं, वे इस प्रकार का कुछ वेदान्त बताकर अपने मन का सन्तोष कर लेते हैं। वे अपनी सद्-असद् विवेक बुद्धि को धोखा देते रहते हैं और

अपनी ऐसी कोरी सहानुभूति का वे पद-दलितों के सामने इतनी सफाई के साथ प्रदर्शन करते हैं कि उनके ये नक्राश्रु कई बार कइयों को वास्तविक मालूम देते हैं। समाज के अन्दर जो उपेक्षित, वंचित और दबे हुए लोग होते हैं वे कुछ अर्से तक इन ढोंगी लोगो की शर्करायुक्त सहानुभूति को सच मानकर चलते हैं। इस सम्पन्न वर्ग के प्रतिनिधि व उनकी आव-भगत पर पले उनके भाट, पद-दलितों के लिए सब-कुछ करने के लिए तैयार हैं, ऐसा ढिढोरा उनकी तरफ से पीटते रहते हैं।

प्रत्यक्ष अन्याय के खिलाफ मोर्चा लेने की या उसका प्रतिरोध करने की भाषा अगर उस गरीब श्रेणी के लोगों ने शुरू की तो ये समाज को उखाड़ फेंकना चाहते हैं या ये राज्य-क्रान्ति करना चाहते हैं, इस प्रकार विधैले आरोप उनके ऊपर लगा कर सरकार को उनके विरुद्ध कारवाई करने के लिए बाधित किया जाता है। कई बार सिद्धान्त को मानकर उसके विवरण आदि के सम्बन्ध मे विरोध प्रकट कर इस श्रेणी के नेता लोगो को भी चक्कर मे डाल दिया जाता है। प्रकट रूप में "आप और हममें कोई भेद नही" यही कहते रहते हैं, परन्तु अन्दरूनी तौर से उस भेद को कायम रखने की ही नही परन्तु बढाने की भी कोशिशें की जाती है। कोई भी मालिक वर्ग हड़ताल की नौबत आने तक मजदूरों की मांगो को स्वीकार नही करता। हड़ताल में भी अगर फूट डलवाने मे सफलता नही मिली तो अपने जी-हुजूरियों के मार्फत हिंसात्मक कार्रवाइयाँ करवा कर राज-सत्ता को हड़ताल दबाने के लिए मौका दिया जाता है। कई बार थोडा सा कुछ देकर अधिकतर मांगों को टाल दिया जाता है। अनेकों बार "मागें योग्य है, परन्तु उन्हे प्राप्त करने का तरीका गलत है", इस तरह के पैंतरे के बल पर भूमिका बाँधकर मजदूरों के निश्चय मे ढीलापन पैदा करने का प्रयास किया जाता है। साधारणतया सघटित मालिकशाही या संचितवृत्तिशाही (वेस्टेड इन्टरेस्ट) के विरुद्ध जोरदार व प्रभावशाली संघटन खड़ा करना एक मुश्किल कार्य होता है। प्राय मनुष्यो के अन्दर साहसी वृत्ति की कमी पायी जाती है। हड़ताल मे शामिल होने के क्या-क्या परिणाम हो सकते हैं इस सोच-विचार से कई उसमे शामिल नही होते। परन्तु अपने साथियो का साथ छोड़ना भी उन्हे अखरता है। अपने साथियों के साथ की दोस्ती उनके जीवन के आनन्द का प्रेरणास्रोत होती है। कई एक लोग सम्मान के प्रलोभन से स्वार्थत्याग करने के लिए आगे आते हैं, तो कई एक भविष्य मे हार होने की स्थिति मे अपने अपमान की कल्पना कर पीछे हट जाते हैं। तात्पर्य यह है कि त्याग करने के लिए कौन तैयार होता है या उससे कौन विमुख होता है, यह विशिष्ट व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। जिस प्रकार से व्यक्ति का मन सोचेगा, उन विचारानुसार ही वह व्यक्ति भविष्य में उसे क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे निर्णय करती है और अपने जीवन मे सुख प्राप्ति की अथवा दुःख को टालने की योजना निश्चित करती है।

मन परिस्थित्यनुरूप चलता है, इसका मतलब समाज के अन्दर जो विचारधाराएँ प्रचलित हैं, या जिन मूल्यों का मान किया जाता है उन सबका परिणाम जाने-अनजाने मन पर पड़ता है। जिस विचार का सामाजिक परिस्थिति से जरा भी सम्बन्ध न हो, ऐसा कोई भी विचार व्यक्ति के मन में आना सम्भव नही है। जो विचार

स्वातंत्र्य व्यक्ति को होता है, उसकी यही मर्यादा है। इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो समाज के अन्दर की विचारधारायें जितनी विविध व व्यापक होंगी व सामाजिक मूल्यों का माप-दण्ड जितना अधिक-से-अधिक सुविचारपूर्ण तथा सद्भावनाओं को प्रेरित करने वाला होगा, व्यक्ति का विचार उतना ही अधिक सार्थक होगा। सामाजिक नियमन व प्रचार से अगर, सामाजिक विचार-प्रवाह और मूल्यों का गला घोट दिया गया तो विचार स्वातन्त्र्य की मात्रा न घटने पर भी उसका दर्जा घट जाता है। मनुष्य समाज का घटक होता है। संघ या संस्था का सदस्य होता है, फिर भी जिन अनुभवो मे से वह गुजरता है, वे उसके अपने होते हैं। सड़क सार्वजनिक है इसलिए वह इस रास्ते को नहीं घेर सकता। जहाँ कही भी वह चले उसके अपने कदमों के अनुसार उसकी स्थान मर्यादा व गति सीमित रहेगी। जहाँ वह कदम रखता है, उसके लिए तो उतना ही रास्ता है, इसलिए समाज में कितना भी अनुभव भरा हो उसमें से जितना वह स्वयं ग्रहण करेगा व उसके लिए हिस्से में आएगा, उसी के अनुसार वह सोचेगा व उसी मे से वह अपने व्यवहार की रूपरेखा तथा सवेग निश्चित करेगा। उसके साथ हुए अन्याय, उसके अनुभव में आई हुई कड़वाहट व उसके साथ की गई बेईमानी आदि यह सब उसका अनुभव अपना होगा और इस कारण उसके मन पर इनका जो परिणाम हुआ होगा, उसे वह अपने व्यवहार से ही मिटा सकता है। इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार का संगठन या संघ कुछ नही कर सकता। साथी धोखा दें, बच्चे लापरवाही दिखाने लग जाएं, औरत लड़ाकू बन जाय तो इसके लिये समाज क्या कर सकता है व राज्य भी क्या कर सकता है फिर भी जीवन के कुछ क्षेत्र के अनुभव अनेक व्यक्तियों के एक से ही होते हैं। एक ही चाल में रहने वाले कई किरायेदार होते है, उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय मे व्यक्तिगत अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु उस चाल या मकान के अन्दर की गन्दगी, नल के पानी की कमी, संडासों की कमी, आदि के बारे में उन सबका अनुभव एक समान ही होगा। इसलिए इन असुविधाओं और दुःख को दूर करने के लिये जो कुछ भी करना होता है, उसके लिए जो कार्रवाई करनी होती है उसका व्यावहारिक व क्रिया का स्वरूप सामाजिक होता है। दूसरे शब्दों मे यह कह सकते हैं कि जिसमें सबका हित-सम्बन्ध एक है या जो सबको अखरता है, उसके बारे में कुछ तो भी करना चाहिये। अथवा कुछ होना चाहिए ऐसा सब अनुभव करते हैं। एक दृष्टि से उसमे सबका हितैक्य होता है। जब हितैक्य न हो व एक की आवश्यकता भी दूसरे जैसी तीव्र न हो, तब सब को मिलकर कुछ करने की इच्छा नहीं होती। वहाँ सामाजिक प्रतिक्रिया सम्भव नहीं होती। वहाँ सामाजिक क्रिया सम्भव नहीं होती। व्यक्ति, व्यक्ति की आवश्यकताएं व हित सम्बन्ध विभिन्न होने पर उनका अनुभव भी भिन्न होता है। इसलिये एक-दूसरे के विषय में सोचने की या एक-दूसरे के दुःख-दर्द के समझने की इच्छा उनमें से किसी को नहीं होती। एक डिब्बे में कई यात्री बैठे हों व डिब्बे में खूब भीड़ हो तब सब मिलकर नये यात्री को अन्दर आने से रोकते हैं। परन्तु वे ही यात्री अगर अलग-अलग डिब्बे मे हों तो एक डिब्बे के यात्री दूसरे डिब्बे मे भीड़ है, अथवा

नहीं, इसकी पूछताछ भी नहीं करते है। क्योंकि वहाँ न हितैक्य है, न अनुभव की समानता है।

एक गली मे अलग-अलग मकानों में लोग रहते हैं और अलग-अलग दफ्तरों में वे काम करते है। वे लोग एक साथ मिलकर कभी नौकरी या काम-काज के विषय में नहीं सोचेंगे। न ही वे वेतन-वृद्धि के सम्बन्ध मे कुछ सामुदायिक कार्यक्रम बनायेंगे। परन्तु गली की सड़के खराब हो, गन्दी हों तो उनकी मरम्मत या साफ-सफाई या नगरपालिका ने टैक्स बढाये होगे तो उसे कम कराना आदि मे उनका हितैक्य होने के कारण वे एक होकर कुछ सामूहिक कदम उठायेंगे। विभिन्न इलाकों मे रहने वाले श्रमिक हितैक्य के कारण एक होकर सामूहिक रूप से समान दुख के कारण व समान कार्य के कारण कुछ-न-कुछ करने के लिये प्रवृत्त होते है। जहाँ हितैक्य है वहाँ सामुदायिक क्रिया व सामाजिक बर्ताव (Social action) स्वाभाविक है। एक मिल-मजदूरों की वेतन-वृद्धि की माँग दूसरे मिल-मजदूरो को जब पता लगती है तब उन्हें उनके विषय मे सहानुभूति महसूस होती है। हड़ताल होने पर वे उनकी सहानुभूति में स्वयं भी हड़ताल करते हैं। क्योंकि वहाँ हितैक्य है, समान अनुभव है, इसलिये सामुदायिक सहानुभूति भी है। इसी तरह अगर एक मिल-मालिक वेतन-वृद्धि की माँग को ठुकराता है तो उसके इस कार्य के प्रति अन्य मिल-मालिक सहानुभूति दिखाते हैं। क्योंकि वहाँ भी हितैक्य है। हड़ताल की खबर अखबार मे आते ही उसकी जो प्रतिक्रिया धनिक श्रेणी के लोगो पर होगी, वह गरीब श्रेणी के लोगो से भिन्न होगी। कही भी हड़ताल हुई या वेतन-वृद्धि की माँग की गई तो धनिक मालिक लोगों को वह हड़ताल तथा माँग समाज-विरोधी प्रतीत होगी है। बड़े पैमाने पर हड़ताल होने पर अनेक कारणो पर विचार किये बिना ही, वह हड़ताल राष्ट्र-विद्रोही है ऐसा अभिप्राय ये लोग बताते हैं। जहाँ पर कुछ खुले रूप मे या परिमित मात्रा मे हितैक्य हैं, वहाँ पर सम्बन्धित व्यापारियो के वर्ग मे एक तरह का भ्रातृभाव दिखाई देता है। इसलिये उनके हित मे जो भी प्रयत्न किये जाते हैं उन प्रयत्नो के विषय मे वे सहानुभूति दर्शाते हैं क्योंकि उन प्रयत्नो के फलस्वरूप जो परिणाम निकलेंगे वे सबके लिए समान होगे। एकता व ममत्व की भावना वहाँ निर्माण होती है। जितनी अधिक मात्रा मे हित-सम्बन्धो मे समानता होगी उतने ही अधिक परिमाण मे सामूहिक प्रयत्नो को अवसर मिलेगा। स्वतंत्र वायुमण्डल मे समान-हित सम्बन्धो का अधिकाधिक निकट आना क्रम-प्राप्त ही है। विचार-विनिमय होता रहता है और उसी मे से सामुदायिक भावना का सहज निर्माण होता है। परस्पर हितावलम्बी होने के कारण भ्रातृभाव निर्माण होता है व उसी में से समाज के अन्दर समानता होनी चाहिये। सबके लिए समानता जरूरी है इस प्रकार का भाव भी तभी निर्मित होता है। स्वभावतः फिर किसी को अधिक या किसी को विशेषाधिकार होने चाहिएँ इसके विरुद्ध मन की भावना बनती जाती है। जिनको समाज मे विशेष अधिकार या खास सहूलियतें मिली होती हैं, उन्हें छोडने की मर्जी नहीं होती, बल्कि वे जिन विशेषाधिकारों का या सहूलियतों का उपभोग कर रहे हैं, वह समाज की दृष्टि से तथा सामाजिक उन्नति के लिए इष्ट है इस प्रकार का दावा पेश किया जाता है। उनके उस दावे के विरुद्ध लोकमत तीव्र न

होने पाए इसलिए वस्तु-स्थिति लोगों के सामने न आने पाए इस प्रकार की कोशिश में वे लगे रहते हैं। सत्य या असलियत का जनता के सम्मुख आना व उस पर खुले आम बहस होना याने राष्ट्र के विनाश को न्योता ही देना है ऐसा उनका विचार होता है। उनके पास जो धन है वह समाज के कल्याण के लिए है ऐसा प्रामाणिक खयाल होता है। इसलिए वे उसकी रक्षा के लिए सब कुछ करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। यह स्थिति केवल आर्थिक मामलों में दिखाई देती हो ऐसी बात नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी यही दिखाई देता है। वेद-विद्या केवल वरिष्ठ श्रेणी के लोग ही ग्रहण करें, वह अधिकार केवल उन्हीं का है, यह विचारधारा समाज के अन्दर विषमता को बढ़ावा देने वाली है। "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" यह बात भी समाज के कल्याण के लिए ही प्रतिपादित की जाती थी। एक समय ऐसा भी था जब स्त्रियों को आजादी देने पर धर्म नष्टप्राय होगा यह डर वास्तविक रूप में कइयों में समाया हुआ रहता था। इसमें भी किसी व्यक्ति या वर्ग को, जो कुछ विशेष रूप से अधिकार प्राप्त है उसके संरक्षण करने की भावना ही दिखाई देती है। विषमता के परिणामस्वरूप जिनको जो भी कुछ अधिक प्राप्त है, धन या प्रतिष्ठा, उसकी रक्षा करने की वृत्ति या उसे जिद्द भी कह सकते है, हर एक में होती है। इस विशेषाधिकार के विरुद्ध या इस विषमता के खिलाफ आवाज उठाने की प्रेरणा समाज के अन्दर सच्चा स्वातंत्र्य होगा, तभी हो सकेगी। जिस स्वातन्त्र्य में से समता के भाव का विकास होता है उसके मुकाबले में सामाजिक परम्पराएँ तथा सामाजिक शक्तियाँ डट कर खड़ी हो जाती हैं। नया सत्य जो समाज के अन्दर सब व्यक्तियों को समान न्याय देने की इच्छा रखता है उसका सामाजिक शक्तियाँ विरोध करती हैं। इस विरोध के कई रूप हो सकते हैं। सॉक्रेटिस को जहर पिलाया जायेगा, कोपरनीस को देश-निर्वासन किया जाएगा; एकनाथ को ब्रह्मवृन्द का कोप सहना पड़ेगा, ज्ञानेश्वरादि बन्धुओं को धार्मिक संस्कारों से वंचित रखा जाएगा। परन्तु विषमता अधिक काल तक समाज में नहीं रह सकती। नागरिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग जितना अधिक बेखटके किया जाएगा उतनी मात्रा में समाज के अन्दर की विषमता कम होगी स्वतन्त्रता का परिणाम समता की स्थापना में होता है ऐसा संसार का इतिहास है।

सामान्यतः राष्ट्र की संस्थाओं का ढाँचा भी स्वरूप क्यों न हो या समाज-विषयक नियन्त्रण कैसा भी हो, जहाँ लोगों में अधिक-से-अधिक मात्रा में हितैक्य है वहाँ स्वातन्त्र्य अधिक परिमाण में होगा क्योंकि स्वतन्त्रता के फलस्वरूप वहाँ समानता तथा समता की सीमायें बढ़ी हुई होंगी। हितैक्य होने से वहाँ समानता की भावनायें होती हैं और उन समानता की भावनाओं का स्वतन्त्र वातावरण में पोषण होता है। इसलिए इसकी व उसके साथ स्वतन्त्रता की भी सँभाल होती है। इसके विपरीत जहाँ पर बड़े परिमाण में हितैक्य नहीं होता और उसके अभाव में विषमता अधिक होती है वहाँ स्वातन्त्र्य में अवरोध होता है, क्योंकि जिसके पास जो कुछ है वह उससे छिन जायेगा इस डर से वे स्वतन्त्रता पर मर्यादाएँ लगाते रहते हैं। वेदान्त कहता है कि सम्पत्ति सब दुःखों की जड़ है व सम्पत्ति के कारण इतिहास में क्या अपराध हुए और कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें विशद कर यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है।

नहीं, इसकी पूछताछ भी नहीं करते हैं। क्योंकि वहाँ न हितैक्य है, न अनुभव की समानता है।

एक गली में अलग-अलग मकानों में लोग रहते हैं और अलग-अलग दफ्तरों में वे काम करते हैं। वे लोग एक साथ मिलकर कभी नौकरी या काम-काज के विषय में नहीं सोचेंगे। न ही वे वेतन-वृद्धि के सम्बन्ध में कुछ सामुदायिक कार्यक्रम बनायेंगे। परन्तु गली की सड़कें खराब हों, गन्दी हों तो उनकी मरम्मत या साफ-सफाई या नगरपालिका ने टैक्स बढ़ाये होंगे तो उसे कम कराना आदि में उनका हितैक्य होने के कारण वे एक होकर कुछ सामूहिक कदम उठायेंगे। विभिन्न इलाकों में रहने वाले श्रमिक हितैक्य के कारण एक होकर सामूहिक रूप से समान दुःख के कारण व समान कार्य के कारण कुछ-न-कुछ करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। जहाँ हितैक्य है वहाँ सामुदायिक क्रिया व सामाजिक वर्ताव (Social action) स्वाभाविक है। एक मिल-मजदूरों की वेतन-वृद्धि की माँग दूसरे मिल-मजदूरों को जब पता लगती है तब उन्हें उनके विषय में सहानुभूति महसूस होती है। हड़ताल होने पर वे उनकी सहानुभूति में स्वयं भी हड़ताल करते हैं। क्योंकि वहाँ हितैक्य है, समान अनुभव है, इसलिये सामुदायिक सहानुभूति भी है। इसी तरह अगर एक मिल-मालिक वेतन-वृद्धि की माँग को ठुकराता है तो उसके इस कार्य के प्रति अन्य मिल-मालिक सहानुभूति दिखाते हैं। क्योंकि यहाँ भी हितैक्य है। हड़ताल की खबर अखबार में आते ही उसकी जो प्रतिक्रिया धनिक श्रेणी के लोगों पर होगी, वह गरीब श्रेणी के लोगों से भिन्न होगी। कहीं भी हड़ताल हुई या वेतन-वृद्धि की माँग की गई तो धनिक मालिक लोगों को वह हड़ताल तथा माँग समाज-विरोधी प्रतीत होती है। बड़े पैमाने पर हड़ताल होने पर अनेक कारणों पर विचार किये बिना ही, वह हड़ताल राष्ट्र-विद्रोही है ऐसा अभिप्राय वे लोग बताते हैं। जहाँ पर कुछ कुछ रूप में या परिमित मात्रा में हितैक्य है, वहाँ पर सम्बन्धित व्यापारियों के वर्ग में एक तरह का भ्रातृभाव दिखाई देता है। इसलिये उनके हित में जो भी प्रयत्न किये जाते हैं उन प्रयत्नों के विषय में वे सहानुभूति दर्शाते हैं क्योंकि उन प्रयत्नों के फलस्वरूप जो परिणाम निकलेंगे वे सबके लिए समान होंगे। एकता व ममत्व की भावना वहाँ निर्माण होती है। जितनी अधिक मात्रा में हित-सम्बन्धों में समानता होगी उतने ही अधिक परिमाण में सामूहिक प्रयत्नों को अवसर मिलेगा। स्वतन्त्र वायुमण्डल में समान-हित सम्बन्धों का अधिकाधिक निकट आना क्रम-प्राप्त ही है। विचार-विनिमय होता रहता है और उसी में से सामुदायिक भावना का सहज निर्माण होता है। परस्पर हितावलम्बी होने के कारण भ्रातृभाव निर्माण होता है व उसी में से समाज के अन्दर समानता होनी चाहिये। सबके लिए समानता जरूरी है इस प्रकार का भाव भी उसी निर्मित होता है। स्वभावतः फिर किसी को अधिक या किसी को विशेषाधिकार होने चाहिएँ इसके विरुद्ध मन की भावना बनती जाती है। जिनको समाज में विशेष अधिकार या खास सहूलियतें मिली होती हैं, उन्हें छोड़ने की मर्जी नहीं होती, बल्कि वे जिन विशेषाधिकारों का या सहूलियतों का उपभोग कर रहे हैं, वह समाज की दृष्टि से तथा सामाजिक उन्नति के लिए इष्ट है, इस प्रकार का दावा पेश किया जाता है। उनके उस दावे के विरुद्ध लोकमत तीव्र म

होने पाए इसलिए वस्तु-स्थिति लोगों के सामने न आने पाए इस प्रकार की कोशिश में वे लगे रहते हैं। सत्य या असलियत का जनता के सम्मुख आना व उस पर खुले आम बहस होना याने राष्ट्र के विनाश को न्यौता ही देना है ऐसा उनका विचार होता है। उनके पास जो धन है वह समाज के कल्याण के लिए है ऐसा प्रामाणिक ख्याल होता है। इसलिए वे उसकी रक्षा के लिए सब कुछ करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। यह स्थिति केवल आर्थिक मामलों में दिखाई देती हो ऐसी बात नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी यही दिखाई देता है। वेद-विद्या केवल वरिष्ठ श्रेणी के लोग ही ग्रहण करें, यह अधिकार केवल उन्हीं का है, यह विचारधारा समाज के अन्दर विषमता को बढ़ावा देने वाली है। "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" यह बात भी समाज के कल्याण के लिए ही प्रतिपादित की जाती थी। एक समय ऐसा भी था जब स्त्रियों को आजादी देने पर धर्म नष्टप्राय होगा यह डर वास्तविक रूप में कइयों में समाया हुआ रहता था। इसमें भी किसी व्यक्ति या वर्ग को, जो कुछ विशेष रूप से अधिकार प्राप्त है उसके संरक्षण करने की भावना ही दिखाई देती है। विषमता के परिणामस्वरूप जिनको जो भी कुछ अधिक प्राप्त है, धन या प्रतिष्ठा, उसकी रक्षा करने की वृत्ति या उसे जिद भी कह सकते हैं, हर एक में होती है। इस विशेषाधिकार के विरुद्ध या इस विषमता के खिलाफ आवाज उठाने की प्रेरणा समाज के अन्दर सच्चा स्वातंत्र्य होगा, तभी हो सकेगी। जिस स्वातंत्र्य में से समता के भाव का विकास होता है उसके मुकाबले में सामाजिक परम्पराएँ तथा सामाजिक शक्तियाँ डट कर खड़ी हो जाती हैं। नया सत्य जो समाज के अन्दर सब व्यक्तियों को समान न्याय देने की इच्छा रखता है उसका सामाजिक शक्तियाँ विरोध करती हैं। इस विरोध के कई रूप हो सकते हैं। सॉक्रेटिस को जहर पिलाया जायेगा, कोपरनीकस को देश-निर्वासन किया जाएगा; एकनाथ को ब्राह्मवृन्द का कोप सहना पड़ेगा, ज्ञानेश्वरादि बन्धुओं को धार्मिक संस्कारों से वंचित रखा जाएगा। परन्तु विषमता अधिक काल तक समाज में नहीं रह सकती। नागरिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग जितना अधिक बेखटके किया जाएगा उतनी मात्रा में समाज के अन्दर की विषमता कम होगी स्वतन्त्रता का परिणाम समता की स्थापना में होता है ऐसा संसार का इतिहास है।

सामान्यतः राष्ट्र की संस्थाओं का कैसा भी स्वरूप क्यों न हो या समाज-विषयक नियन्त्रण कैसा भी हो, जहाँ लोगों में अधिक-से-अधिक मात्रा में हितैक्य है वहाँ स्वातन्त्र्य अधिक परिमाण में होगा क्योंकि स्वतन्त्रता के फलस्वरूप वहाँ समानता तथा समता की सीमायें बढ़ी हुई होंगी। हितैक्य होने से वहाँ समानता की भावनायें होती हैं और उन समानता की भावनाओं का स्वतन्त्र वातावरण में पोषण होता है। इसलिए इसकी व उसके साथ स्वतन्त्रता की भी सँभाल होती है। इसके विपरीत जहाँ पर बड़े परिमाण में हितैक्य नहीं होता और उसके अभाव में विषमता अधिक होती है वहाँ स्वातन्त्र्य में अवरोध होता है, क्योंकि जिसके पास जो कुछ है वह उससे छिन जायेगा इस डर से वे स्वतन्त्रता पर मर्यादाएँ लगाते रहते हैं। वेदान्त कहता है कि सम्पत्ति सब दुःखों की जड़ है व सम्पत्ति के कारण इतिहास में क्या अपराध हुए और कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें विशद कर यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है।

नही, इसकी पूछताछ भी नही करते हैं। क्योंकि वहाँ न हितैक्य है, न अनुभव की समानता है।

एक गली मे अलग-अलग मकानो में लोग रहते हैं और अलग-अलग दफ्तरों मे वे काम करते है। वे लोग एक साथ मिलकर कभी नौकरी या काम-काज के विषय में नही सोचेंगे। न ही वे वेतन-वृद्धि के सम्बन्ध मे कुछ सामुदायिक कार्यक्रम बनायेंगे। परन्तु गली की सड़कें खराब हों, गन्दी हों तो उनकी मरम्मत या साफ-सफाई या नगरपालिका ने टैक्स बढ़ाये होगे तो उसे कम कराना आदि मे उनका हितैक्य होने के कारण वे एक होकर कुछ सामूहिक कदम उठायेंगे। विभिन्न इलाकों में रहने वाले श्रमिक हितैक्य के कारण एक होकर सामूहिक रूप से समान दु.ख के कारण व समान कार्य के कारण कुछ-न-कुछ करने के लिये प्रवृत्त होते है। जहाँ हितैक्य है वहाँ सामुदायिक क्रिया व सामाजिक वर्ताव (Social action) स्वाभाविक है। एक मिल-मजदूरो की वेतन-वृद्धि की माँग दूसरे मिल-मजदूरो को जब पता लगती है तब उन्हें उनके विषय मे सहानुभूति महसूस होती है। हड़ताल होने पर वे उनकी सहानुभूति में स्वयं भी हड़ताल करते हैं। क्योंकि वहाँ हितैक्य है, समान अनुभव है, इसलिये सामुदायिक सहानुभूति भी है। इसी तरह अगर एक मिल-मालिक वेतन-वृद्धि की माँग को ठुकराता है तो उसके इस कार्य के प्रति अन्य मिल-मालिक सहानुभूति दिखाते हैं। क्योंकि वहाँ भी हितैक्य है। हड़ताल की खबर अखबार में आते ही उसकी जो प्रतिक्रिया धनिक श्रेणी के लोगो पर होगी, वह गरीब श्रेणी के लोगों से भिन्न होगी। कही भी हड़ताल हुई या वेतन वृद्धि की माँग की गई तो धनिक मालिक लोगो को वह हड़ताल तथा माँग समाज-विरोधी प्रतीत होती है। बड़े पैमाने पर हड़ताल होने पर अनेक कारणों पर विचार किये बिना ही, वह हड़ताल राष्ट्र-विद्रोही है ऐसा अभिप्राय ये लोग बताते हैं। जहाँ पर कुछ खुले रूप मे या परिमित मात्रा मे हितैक्य है, वहाँ पर सम्बन्धित व्यापारियो के वर्ग मे एक तरह का भ्रातृभाव दिखाई देता है। इसलिये उनके हित मे जो भी प्रयत्न किये जाते हैं उन प्रयत्नो के विषय में वे सहानुभूति दर्शाते हैं क्योंकि उन प्रयत्नो के फलस्वरूप जो परिणाम निकलेंगे वे सबके लिए समान होंगे। एकता व ममत्व की भावना वहाँ निर्माण होती है। जितनी अधिक मात्रा मे हित-सम्बन्धो मे समानता होगी उतने ही अधिक परिमाण मे सामूहिक प्रयत्नों को अवसर मिलेगा। स्वतंत्र वायुमण्डल मे समान-हित सम्बन्धों का अधिकाधिक निकट आना क्रम-प्राप्त ही है। विचार-विनिमय होना रहता है और उसी में से सामुदायिक भावना का सहज निर्माण होता है। परस्पर हितावलम्बी होने के कारण भ्रातृभाव निर्माण होता है व उसी मे से समाज के अन्दर समानता होनी चाहिये। सबके लिए समानता जरूरी है इस प्रकार का भाव भी तभी निर्मित होता है। स्वभावतः फिर किसी को अधिक या किसी को विशेषाधिकार होने चाहिएँ इसके विरुद्ध मन की भावना बनती जाती है। जिनको समाज मे विशेष अधिकार या खास सहूलियतें मिली होती हैं, उन्हें छोड़ने की मर्जी नही होती, बल्कि वे जिन विशेषाधिकारों का या सहूलियतों का उपभोग कर रहे हैं, वह समाज की दृष्टि मे तथा सामाजिक उन्नति के लिए इष्ट है इस प्रकार का दावा पेश किया जाता है। उनके उस दावे के विरुद्ध लोकमत तीव्र न

होने पाए इसलिए वस्तु-स्थिति लोगों के सामने न आने पाए इस प्रकार की कोशिश में वे लगे रहते हैं। सत्य या असलियत का जनता के सम्मुख आना व उस पर खुले आम बहस होना याने राष्ट्र के विनाश को न्योता ही देना है ऐसा उनका विचार होता है। उनके पास जो धन है वह समाज के कल्याण के लिए है ऐसा प्रामाणिक ख्याल होता है। इसलिए वे उसकी रक्षा के लिए सब कुछ करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। यह स्थिति केवल आर्थिक मामलों में दिखाई देती हो ऐसी बात नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी यही दिखाई देता है। वेद-विद्या केवल वरिष्ठ श्रेणी के लोग ही ग्रहण करें, यह अधिकार केवल उन्हीं का है, यह विचारधारा समाज के अन्दर विषमता को बढ़ावा देने वाली है। "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" यह बात भी समाज के कल्याण के लिए ही प्रतिपादित की जाती थी। एक समय ऐसा भी था जब स्त्रियों को आजादी देने पर धर्म नष्टप्राय होगा यह डर वास्तविक रूप में कइयों में समाया हुआ रहता था। इसमें भी किसी व्यक्ति या वर्ग को, जो कुछ विशेष रूप से अधिकार प्राप्त है उसके संरक्षण करने की भावना ही दिखाई देती है। विषमता के परिणामस्वरूप जिनको जो भी कुछ अधिक प्राप्त है, धन या प्रतिष्ठा, उसकी रक्षा करने की वृत्ति या उसे जिद् भी कह सकते हैं, हर एक में होती है। इस विशेषाधिकार के विरुद्ध या इस विषमता के खिलाफ आवाज उठाने की प्रेरणा समाज के अन्दर सच्चा स्वातन्त्र्य होगा, तभी हो सकेगी। जिस स्वातन्त्र्य में से समता के भाव का विकास होता है उसके मुकाबले में सामाजिक परम्पराएँ तथा सामाजिक शक्तियाँ डट कर खड़ी हो जाती हैं। अतः सत्य जो समाज के अन्दर सब व्यक्तियों को समान न्याय देने की इच्छा रखता है उसका सामाजिक शक्तियाँ विरोध करती हैं। इस विरोध के कई रूप हो सकते हैं। सॉक्रेटिस को जहर पिलाया जायेगा, कोरनीस को देश-निर्वासन किया जाएगा; एकनाथ को ब्रह्मवृन्द का कोप सहना पड़ेगा, ज्ञानेश्वरादि बन्धुओं को धार्मिक संस्कारों से वंचित रखा जाएगा। परन्तु विषमता अधिक काल तक समाज में नहीं रह सकती। नागरिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग जितना अधिक बेखटके किया जाएगा उतनी मात्रा में समाज के अन्दर की विषमता कम होगी स्वतन्त्रता का परिणाम समता की स्थापना में होता है ऐसा संसार का इतिहास है।

सामान्यतः राष्ट्र की संस्थाओं का कैसा भी स्वरूप क्यों न हो या समाज-विषयक नियन्त्रण कैसा भी हो, जहाँ लोगों में अधिक-से-अधिक मात्रा में हितैक्य है वहाँ स्वातन्त्र्य अधिक परिमाण में होगा क्योंकि स्वतन्त्रता के फलस्वरूप वहाँ समानता तथा समता की सीमायें बढ़ी हुई होंगी। हितैक्य होने से वहाँ समानता की भावनायें होती हैं और उन समानता की भावनाओं का स्वतन्त्र वातावरण में पोषण होता है। इसलिए इसकी व उसके साथ स्वतन्त्रता की भी संभाल होती है। इसके विपरीत जहाँ पर बड़े परिमाण में हितैक्य नहीं होता और उसके अभाव में विषमता अधिक होती है वहाँ स्वातन्त्र्य में अवरोध होता है, क्योंकि जिसके पास जो कुछ है वह उससे छिन जायेगा इस डर से वे स्वतन्त्रता पर मर्यादाएँ लगाते रहते हैं। वेदान्त कहता है कि सम्पत्ति सब दुःखों की जड़ है व सम्पत्ति के कारण इतिहास में क्या अपराध हुए और कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें विशद कर यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है।

जिस समाज मे मुट्ठी-भर लोगो के हाथ मे अधिकतर सम्पत्ति होती है व बहुसंख्यक लोग दरिद्री होते हैं, वहाँ शोषक व शोषित, इन दो वर्गों में समाज का बँट जाना अनिवार्य है। जहाँ पर ऐसी परिस्थिति होगी वहाँ शोषक वर्ग शोषित वर्ग की स्वतन्त्रता के विषय मे बेफिकर होता है क्योंकि वह सत्ताधारी-वर्ग होता है। स्वतन्त्रता के विषय मे उनका दक्षता दिखाना याने अपने हाथो से अपने स्वार्थ पर प्राण रखने के समान ही है। पुन: आज की दुनिया मे सम्पत्ति का त्याग कर वनवास जाने वाले वृद्ध बिलकुल भी दिखाई नही देते। वह जमाना अब बदल गया है, इसके विपरीत जहाँ-तहाँ सम्पत्ति के दास व उसके लिए जान देने वाले और जान लेने वाले ही दिखाई देते हैं। समाज मे समता होनी चाहिए, स्वातन्त्र्य होना चाहिए और भ्रातृ-भाव होना चाहिए आदि विचार-विषय समाज मे प्रभावयुक्त नहीं होते। इसका अर्थ यह नही कि इनका दिखावा भी यहाँ नही किया जाता। मतदान का अधिकार सब को प्रदान कर सब को राजकीय समता है यह बडे जोरदार तरीके से दिखाया जाता है। परन्तु जब सम्पत्ति के समान बँटवारे की माँग की जाती है तब एकदम उसके समाज को उखाड फेंकने वाली माँग बताने का ढोंग किया जाता है। जिस बात में धन का कोई सम्बन्ध नही होता उस बात मे दी गई स्वतन्त्रता का उल्लेख राज्य-सत्ता बड़ी शान से करती है। परन्तु आर्थिक विषमता समाज अधिक लम्बे अर्से तक सहन नही कर सकता। समाज मे अनेक श्रम करते हैं व थोड़े-से आराम करते हैं, कुछ खाते है व कुछ-एक चैन से बैठ कर खाते है। यह स्थिति, यह दृश्य जो श्रम करने वाले हैं, खपने वाले है, वे अधिक समय तक चुपचाप बरदाश्त नही कर सकते। समाज की रचना एक पिरामिड की तरह होती है। निम्न स्तर के लोगो की ऊपर स्तर के लोगो के साथ मिलने की स्वाभाविक इच्छा होती है। अन्य समाज के परिमाण मे जितना धनिकवर्ग छोटा होगा, उतने ही परिमाण मे वहाँ आर्थिक विषमता अधिक होगी। विरोधी भावना की शुरूआत या अन्याय का प्रतिकार करने की क्रिया सदा ही इस निम्न श्रेणी मे शुरू होती है। जिस वर्ग के हाथ मे सम्पत्ति होती है, उसी के हाथ मे सत्ता होती है यह इतिहास का अनुभव है। जिसके पास पैसा है उसके लिए इस संसार मे कोई भी वस्तु असम्भव नही। जिसके पास पैसा न हो उसको इस विषम समाज मे मजदूर की तरह खपने के सिवाय अन्य कोई भूमिका नहीं। सम्पत्ति अज्ञानी को व मूर्ख को चाहे जो सामाजिक पदवी प्रदान कर सकती है। सम्पत्ति की सहायता से विद्वत्ता को गुलाम बनाया जा सकता है। जो गुण न हों वे सम्पत्ति के सहारे चिपकाये जा सकते है, यह परिस्थिति इस विषम समाज मे दिखाई देती है। उसी स्थिति को कायम रखने के लिए जिनके धन होता है वे खटपट करते रहते हैं। इसके लिए वे राज्ययन्त्र का भी उपयोग करते हैं। सम्पत्ति व गुण इनका विषम समाज मे परस्पर सम्बन्ध होना भी जरूरी नही। इसलिए अपमानित विद्वत्ता, घृणित दारिद्र्य तथा निष्फल जीवन ये सब इकट्ठे होकर सामाजिक विषमताओ को हटाने के प्रयत्नों की शुरुआत कर देते है। उनकी वास्तव मे अन्य जनो से अधिक पाने की या उनके पास अधिक होवे ऐसी इच्छा नहीं होती। उनकी माँग केवल दूसरो के बराबर मिलने व उनसे कम न पाने की होती है। जो माँगने वाले होते हैं उन पर यह ईर्ष्या-ग्रस्त आरोप लगाया जाता है। जिनके पास माँग की जाती है, उन पर खुशामद व

मदान्धता का ही इलजाम मढ़ा जाता है। इस समानता की माँग को ठुकराया जाता है, क्योंकि माँग स्वीकार करने से ही तत्काल सत्ता मर्यादित हो जाती है, व अधिकार के बल पर प्राप्त होने वाले सुखों से वंचित होना पड़ता है। समता स्वीकार करना याने सत्ता को त्याग देना व सत्ता को छोड़ना या कम करना, इसका अर्थ है उनकी जो आवश्यकताएँ पहले थीं वे अब उस रूप में प्रभावशाली नहीं रह सकतीं। उत्पादन का उद्देश्य ही बदल जाता है। उत्पादन फिर केवल फायदे के लिए या कुछ इने-गिने लोगों की आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं होता परन्तु उसका हेतु अब सारे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना यही होता है। सत्ता के विलय होते ही समाज के अन्दर कौनसी शक्तियाँ प्रभावशाली होनी चाहिए तथा उनका नियन्त्रण करने का अधिकार भी उस सत्ता के साथ खत्म हो जाता है या कम हो जाता है। जीवन विषयक जिसकी जो कल्पनाएँ होती हैं या जिन मूल्यों को वे श्रेष्ठ मानते हैं वे सब चकनाचूर हो जाते हैं। फिर सोफे पर आराम से बैठकर प्रेम-कथा पढ़ने के बदले हाथ में झाड़ू लेकर काम करना पड़ता है। गर्मी में माथेरान और सर्दी में अन्य रमणीय स्थल, कल की कोई फिकर नहीं, हाथ से भी काम करने की कोई जरूरत नहीं, इस स्थिति से दो कमरों के फ्लैट में रहना व समाज के अन्य नागरिकों की भाँति काम करना भाग्य में आता है। जहाँ तक हो सके ऐसा न हो इसलिए उसको टालने की भरसक कोशिश की जाती है। आज भी भारत में यह अनुभव आ रहा है। दुनिया के बहुत बड़े भाग से पूँजीपति प्रणीत लोकशाही का अन्त हो गया है। कुछ राष्ट्रों में वह अभी चल रही है तथा भारत में भी आज लोकशाही और लोकशाही के बनावटी चेहरे तो कम-से-कम जरूर हैं, परन्तु पूँजीपति का बड़प्पन तथा विलासशाही का मदोन्माद अभी भी भारतीय समाज में और राजकीय क्षेत्र में कायम है।

जिस समाज में विचार-स्वातन्त्र्य तथा भाषण स्वातन्त्र्य होता है, उस समाज का ध्येय समाज के अन्दर घुसी हुई विषमता को हटाने का होता है और जहाँ पर ऊपर कहे अनुसार मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सब सम्पत्ति तथा सम्पत्ति-निर्माण के साधनों का केन्द्रीयकरण होता है वे समता की माँग का हर तरह से सर्वथा विरोध करते हैं। क्योंकि यह माँग उनके मूलभूत स्वार्थ पर कुल्हाड़ी होती है। इसलिए वे न केवल समता की माँग को अस्वीकार करते हैं अपितु समता माँगने के अधिकार को भी अस्वीकार करते हैं। स्वातन्त्र्य हो व समता न हो इस परिस्थिति में स्वातन्त्र्य व समता इनमें संघर्ष निर्माण होता है। स्वतंत्रता के नाम पर उसको मर्यादित करने के विरोध में आवाज उठाई जाती है।

समाज में समता उत्पन्न करने वाली व्यवस्था होगी, तो वह अनिर्बन्ध उत्पादन, विभाजन तथा उपभोग करने के अधिकार या स्वतन्त्रता को अस्वीकार करती है। इसके विपरीत समाज में अगर समता न हो तो वह स्वातन्त्र्य अर्थशून्य है, इसकी कल्पना व अनुभव होने के कारण समता के लिए लड़ने वाले चुप नहीं बैठने, फिर समाज में जिनके पास है व जिनके पास नहीं, धनी व निर्धन, खानेवाले व उनके श्रम पर चैन से खानेवाले इन सब वर्गों में आपस में संघर्ष शुरू हो जाता है। इनमें कुछ इने-गिने व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो स्वखुशी से सम्पत्ति को त्याग देवें परन्तु अधिकतर

सत्ताधीश वर्ग ने स्वखुशी से अपनी सम्पत्ति या सत्ता का त्याग किया हो ऐसे उदाहरण इतिहास में कभी नहीं हुए। अपने विशेष अधिकार कोई छोड़ना नहीं चाहता है। जिस प्रकार चींटा अगर गुड़ की भेली को चिपक गया कि वह उसे छोड़ता नहीं, उसका सिर चाहे टूट जाय मगर वह भेली को नहीं छोड़ता! वैसी ही स्थिति समाज में दिखाई देती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति हो या सामाजिक सम्पत्ति हो दीर्घकाल तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका उपभोग करने के बाद भी उसे छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं होता। अपने आपको उस सम्पत्ति का विश्वस्त दिखाने का आविर्भाव किया जाता है। स्वयं को केवल सेवक मात्र कहकर निरे स्वार्थ को प्रतिष्ठा प्रदान की जाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वर्गश्रेष्ठत्व होने के नाते शील श्रेष्ठत्व भी अनायास प्राप्त है ऐसा दावा पेश किया जाता है। "ब्राह्मण चाहे जितना भी भ्रष्ट क्यों न हो फिर भी वह श्रेष्ठ ही है" ऐसा कहने में मन को संकोच नहीं होता। अपितु हम जो करते हैं या कहते है वह न्यायसंगत है, समाजहित में है ऐसा ही प्रतिपादन किया जाता है। न्याय की कल्पना व समाज-हित की कल्पना माने उस सम्बन्धित वर्ग की कल्पना बन जाती है। अपने अधिकार व सम्पत्ति को कायम रखने के लिए साधनों की शुचिता बरतने की उनको आवश्यकता नहीं अनुभव होती। स्वार्थ संरक्षणार्थ जहाँ भले-बुरे का विचार किये बिना दुराग्रह किया जाता है व विवेक को निर्बलता की संज्ञा दी जाती है वहाँ यह संघर्ष केवल विचार-विनिमय अथवा अहिंसा की सीमा में न रहकर सीधा हिंसा को स्वीकार कर लेता है। जिस समाज में आर्थिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण होता है व बहुसंख्यक लोगों के हिस्से में गरीबी तथा दरिद्रता आती है वहाँ उन बहुसंख्यात लोगों को स्वतंत्रता व समता देना अस्वीकार किये बिना पूँजीवादी तथा सघन समाज जीवित नहीं रह सकता। और जिस समाज में स्वातंत्र्य व समता इन दोनों में समन्वय होने के बदले अगर संघर्ष व विरोध उत्पन्न हो तो उस संघर्ष का परिणाम जो निकलता है उसे इतिहास ने दिखा ही दिया है। आर्थिक व्यवस्था फिर क्रान्तिकारक तरीकों से बदलती है। विशेष अधिकारी, उनके अधिकारों से वंचित हो जाते है व रसातल को पहुँचते है। अगर वे थोड़े-थोड़े अधिकार देते तो बाकी बचे हुए अधिक समय तक टिकते परन्तु अब वे सब-के-सब एकदम छीन लिये जाते है। समय के साथ थोड़ा विवेक व विचार के साथ काम लिया जाय तो परिस्थिति कुछ और ही होती ऐसा महसूस किया जाता है, परन्तु इस पश्चाताप की भावना से समाज का परिवर्तन अवश्य होगा यह पहचानकर सुदीर्घ दृष्टि से विचार करने वाले योजना बनाकर शान्तिपूर्ण तरीकों से उस परिवर्तन को प्रत्यक्ष अमल में लाते हैं। पूरे समाज के अन्दर परिवर्तन लाना कोई साधारण बात नहीं होती। क्रामवेल के समय में इंग्लैण्ड में जो हुआ व फ्रेंच राज्य क्रान्ति के समय जो हुआ उसका अन्तर सहज रूप से दिखाई देता है। सन् १९१७ में रूस में जो क्रान्ति हुई उससे दुनिया के सब धनिकों को वास्तविक मार्गदर्शन होना चाहिये था परन्तु वह नहीं हुआ अपितु उसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्य व समता को स्थिर करने के लिए हुई इन घटनाओं से स्वातंत्र्य और समता प्रस्थापित हुई। जो विद्यमान है उसको रखने के लिए प्रयत्न हुए। हर कीमत को चुकाकर उसको स्थायी रखने की

कोशिश हुई। परन्तु उसमें भी अधिक कीमत देकर भी वह टिक नहीं पाया। क्रान्ति की शुरुआत करने वाले सूत्रधारों की कल्पना नाटक के प्रयोग में दिखाई नहीं दी। नान्दी तथा नाटक का अन्त उसमें बहुत ही विसंगत नजर आया। इतिहास के इस सामान्य अनुभव के लिए भारत एक अपवाद है। भारत में पूर्णतया अहिंसात्मक क्रान्ति नहीं यह सच है परन्तु सम्पूर्ण हिंसात्मक क्रान्ति हुई यह भी सच नहीं है। भारत की आजादी का विरोध करने वालों ने समय को पहिचाना और सत्ता हस्तान्तरित कर दी तथा भारतीय नेताओं ने भी सब पार्श्वभूमि को ध्यान में रखकर मिली हुई आजादी को बहुसंख्यक प्रजा की दृष्टि से अर्थपूर्ण करने के प्रयत्न जारी किये। उनकी वही दृष्टि आज भी स्थायी है।

विषम समाज में भी आमूलाग्र समाज रचना बदलने के लिए विरोध होता है, फिर वहाँ प्रचलित राज्यसत्ता का रूप कैसा भी क्यों न हो। इंग्लैंड के लिए यह कहा जाता है कि कानून की शरण लेकर वैध तरीकों से याने पार्लियामेंट के मार्फत वहाँ सब कुछ कर सकते हैं। पार्लियामेंट की सत्ता इतनी प्रभुत्वपूर्ण है कि वहाँ केवल पुरुष को स्त्री बनाना पार्लियामेंट के बस की बात नहीं अन्यथा वह ही वहाँ की कर्तुं म् अकर्तुं म् अन्यथा कर्तुं म् समर्थ संस्था है। कल अगर पार्लियामेंट चाहे तो राजपद भी नष्ट कर सकती है, लार्ड सभा को नष्ट कर सकती है परन्तु यह नहीं होता। उसका कारण अंग्रेजी समाज के कुछ आदर्शों की रक्षा करना मात्र ही है। यहाँ के सत्ताधीश वहाँ की समाज-रचना या अर्थ-व्यवस्था के मूलभूत तत्वों के विषय में दृढ़निश्चयी होकर भी वहाँ की अर्थ-व्यवस्था या समाज-व्यवस्था में मूलग्राही फरक नहीं होगा यह निश्चित ही है। क्योंकि जिन नीति मूल्यों पर या राजनैतिक सिद्धान्तों पर पूरा संविधान रचा गया है या संकेत कायम किये गये हैं, वे सब एक तरफ रखने पड़ेंगे तथा वर्तमान सामाजिक और राजकीय जीवन का स्थैर्य व संतुलितता नष्टप्राय होगी। हित सम्बन्ध केवल आर्थिक ही होते हैं ऐसी बात नहीं। उनका विभिन्न स्वरूप होता है जो कहीं स्पष्ट व कहीं अस्पष्ट रूप से विद्यमान होते हैं। निश्चित रूप से उंगली उठाकर उनका अस्तित्व यहीं पर है यह कहा नहीं जा सकता परन्तु वे है ही नहीं ऐसा भी कोई कह नहीं सकता। तात्पर्य में सत्ताधीश अगर मौलिक बातों में परिवर्तन लाना चाहें तो लोकशाही राज्य के होते हुए भी वे नहीं ला सकेंगे। इसका कारण स्पष्ट ही है, स्वतंत्रता के नाम पर अगर बुनियादी व मूलभूत बातों के अन्दर परिवर्तन लाकर प्रस्थापित हितों के सम्बन्ध में कमी आती हो तो प्रयत्नों को दबाया जायेगा। समाज में धन की रक्षा के लिए कोट की तरह संविधान का उपयोग किया जाता है। वास्तव में संविधान की व्यवस्थानुसार सम्पूर्ण संविधान पूर्णतया बदलना सम्भव होता है, परन्तु समाज के अन्दर विकृत भावनाओं से प्रेरित होकर विद्वेष फैलाकर वह असंभाव्य कर दिया जाता है। समाज में घर की हुई आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए जब वैध तरीकों को अपनाकर योजना का सुझाव पेश किया जाता है, तब समाज पर उत्पात हो रहा है, ऐसा आक्रोश किया जाता है। वारिस या मृत्यु-कर मनुष्य को अपनी हयात में नहीं देने पड़ते फिर भी जीते जी उसका विरोध किया जाता है। विषम समाज में सम्पत्ति व योग्यता इनमें किसी प्रकार का कार्यकारण सम्बन्ध नहीं

होता। मुफ्त में मिला हुआ और बिना योग्यता के प्राप्त धन छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं होता तथा जो प्राप्त है उसको व उस धन को बचाने के लिए हर कोई तैयार रहता है। उसके बचाव के लिए भी युक्तियुक्त मार्ग स्वीकार किया जाता है। वास्तव में सम्पत्ति का उत्पादन समाज में होता है। समाज ही उसकी रक्षा करता है। निजी सम्पत्ति का निर्माण भी समाज में ही होता है और सामाजिक राज्यव्यवस्था उसकी रक्षा करती है। जिसे हम व्यक्तिगत स्वामित्व कहते हैं वह भी समाज की मान्यता पर ही आधारित है वरना सामाजिक विषमता को दूर कर समता स्थापित करने के अर्थ हैं, जिनके पास है उनसे लेकर जिनके पास नहीं है उन्हें देना अर्थात् ऊँचे उठे हुए लोगों को नीचे लाना और जो दबे पड़े हैं उनको ऊपर उठाना तथा इस प्रकार समाज की आर्थिक भूमि को समतल करना। इस तरह से समतल सामाजिक भूमि हुई तो उसमें जिनके पास जरूरत से ज्यादा होता है उनका महत्त्व कम हो जाता है। और इस प्रकार समाज में आमूलाग्र परिवर्तन लाने वाली कुछ योजनाएँ वैधानिक तरीकों से अमल में लाने का प्रयत्न किया गया तो उसमें अनेक बाधाएँ खड़ी की जाती हैं। इसके खिलाफ अगर बहुमत हो तो उसे पक्षनिष्ठ हुकूमशाही कहना व अगर स्वयं बहुमत साथ हो, उसे शास्त्रोक्त लोकशाही कहना इस प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। स्वतन्त्रता के नाम पर विद्यमान विषमता को कायम रखना ही इष्ट है ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। वर्तमान विषमता से पीड़ित तथा उपेक्षित लोग समता के नाम पर परिवर्तन लाने में प्रयत्नशील होते हैं परन्तु कभी तात्त्विकतापूर्ण निगाह से उसको अस्वीकृत किया जाता है या कभी व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसका विरोध किया जाता है। इन दोनों दृष्टियों से सामाजिक सत्ता तथा शक्ति का उपयोग किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोकशाही समाज में भी वैधानिक रास्तों से सामाजिक रचना में आमूलाग्र परिवर्तन लाना सहज काम नहीं होता। भारत में भूमि विषयक नीति निर्धारित होने के बावजूद भी पिछले दस वर्षों में कोई खास प्रगति नहीं हुई। कई राज्यों में भूमि-सम्बन्धी कानून की तरक्की चींटी की चाल की तरह धीमी हो रही है। कई स्थानों पर जो कानून पास किये गये हैं उन्हें विधान बाह्य बताकर कोर्ट की शरण ली जाती है। कुछ स्थानों पर डूबते को तिनके का सहारा इस नाते राष्ट्रपति के हस्तक्षेप की पुरजोर माँग की जाती है। पिछले दस वर्षों की भारत की आर्थिक नीति के ऊपर अगर गौर किया जाय तो वह धनिक वर्ग को खुश रखते हुए निर्धारित की गई है, ऐसी उनकी आलोचना की जाती है, यह सर्वथा अयोग्य है ऐसा नहीं कह सकते।

संविधान की व्यवस्था के कारण आर्थिक रचना में परिवर्तन लाना कठिन है। समाज के लिए असह्यप्राय विषमता को अगर खत्म न किया गया तो भविष्य में समाज की क्या स्थिति होगी उसकी कल्पना दुनिया की पूँजीप्रधान लोकशाही की जनता को भली प्रकार से है। हिन्दुस्तान में लोकशाही समाज सत्तावाद बनाये रखने का ध्येय भी संविधान में दिया गया है। देश के बहुसंख्यक कांग्रेसियों ने उसे स्वीकार कर लिया है। समाजवादी तथा प्रजासोशलिस्ट पार्टी को भी वह मान्य है, हिन्दू सभा ने भी उसे अपनाया पर उसे हिन्दू-समाज सत्तावाद यह संज्ञा दी है और इस भिन्न भिन्न नाम से भिन्न भिन्न माल चुनाव के बाजार में बिक्री के लिए रखा जाता है, यह सत्य

है। आज या कल में कभी-न-कभी जनता समझदार होगी, जाँच-पड़ताल कर व परख कर माल खरीदे करेगी यह भी सच है परन्तु इस लोकशाही समाजवाद में लोकशाही समाजवाद के लिए उपयुक्त साबित हो रही है या समाजवादी रूपी घोड़े के पैरों में लोकशाही रूपी बेड़ी पड़ी हुई है यह कहना मुश्किल है। लोकशाही के नाम पर हरेक बात पर लोकसभा में या विधान सभा में विधिवत् सब कुछ होना चाहिए, यत्किञ्चित् भूल अगर हो जाती है तो कोर्ट का सहारा लेने की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। आर्थिक ढांचा बदलने के हेतु से पिछले बारह वर्षों में जो प्रयत्न लोकशाही तरीके से किये गये उसमें तर्क अधिक अंश कम ऐसा अनुभव हुआ। व्याकरण सही पर कई बार मन में यह आशंका उठती है कि लोकशाही की इस तांत्रिक कविता में वास्तविक काव्य का निर्माण होगा या नहीं। अगर लोकशाही को एक तरफ रख देते हैं तो हिंसा को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि लोकशाही व हिंसा दोनों परस्पर विरोधी हैं। लोकमतात्मक शासन की माला पहनने के बाद मूंगफली के दाने जैसी विशिष्ट खुराक ही खानी चाहिए अन्य कुछ खाना पाप होता है। लोकशाही के तरीकों से सफलता शीघ्र भी नहीं प्राप्त होती और सम्पूर्णतया मिलती भी नहीं है इसलिए अगर हिंसा को स्वीकार किया तो सफलता भी हासिल होगी तथा आर्थिक रचना भी समतापूर्ण बन सकेगी। लेकिन स्वतंत्रता की बलिवेदी पर बलि चढ़ानी पड़ेगी तभी यह रूप हो सकेगा। इस जटिल प्रसंग में क्या-क्या चाहिये इसका निर्णय सच्चे स्वतंत्रतावादी लोगों को लेना है। जो आज समता का विरोध करते हुए एक तरह से स्वतंत्रता की ही जड़ काट रहे हैं, उनके खिलाफ लोकशाही का एकमात्र हथियार है। मुक्तिवाद और युक्तिवाद से ही उनके मन में परिवर्तन लाना है। सब जनता के मन में समता की भावना तीव्र करनी है, संघटित करनी है और उसी में से एक अहिंसामय परन्तु प्रभावात्मक शक्ति का निर्माण करना है। जो विजय हमें प्राप्त करनी है, वह हम बहुसंख्यक हैं इस नाते नहीं परन्तु न्याय, सत्य और युक्ति हमारी तरफ है इसलिए। जो स्वार्थ से अन्धे हो गये हैं उन्हें रोशनी दिखानी है, और सच्चाई का साक्षात्कार कर दिखाना है। वह अपरिहार्य है इसलिए भी नहीं अपितु न मानने में अन्याय है, इस भावना के साथ उनसे मान्यता प्राप्त करनी है। लोकशाही में सत्य और युक्तिवाद की जय हो इसके लिए समाज में काफी प्रचार करना पड़ता है। गोलियों के बल पर प्रचार करना अनिष्टकारी है, मीठे शब्दों के युक्तिवाद से ही करना होता है। लाठी से मारपिटाई कर रास्ता निकालना नहीं बल्कि युक्तिवाद से लोगों को समझा-बुझाकर 'लोक यमुना' खुशी-खुशी से बहे, इसके लिए बाट निकले ऐसी परिस्थिति को निर्माण करना पड़ता है। प्रचार का कार्य आसान नहीं तथा यह मुफ्त में भी नहीं किया जा सकता। जो सत्ताधीश होते हैं उनके पीछे लक्ष्मी आशीर्वादात्मक बाहु फैलाकर खड़ी होती है। इसलिए उन्हें पैसों की कमी नहीं होती। किराये के कार्यकर्ता भी मिलते हैं परन्तु समता का दृढ़ संकल्प किये हुए समाज में न्याय की स्थापना हो इसलिए हाथ में प्रयत्नों का कंगन बांधने वाले हजारों त्यागमूर्ति होते हैं। अन्त में उनकी कोशिशों से कुछ न कुछ यश अवश्य प्राप्त होता है। वाद-विवाद में कई बार दिमाग चकराने वाली बातें कही जाती हैं, परन्तु

दिमाग शान्त व सही रखकर जो काम करते हैं, वे ही सफल होते हैं। प्रचार-कार्य में उद्देश्यों का विपर्यास किया जाता है, व्यक्ति के चरित्र पर छींटे फेंके जाते हैं। पुजारी के व्यवहार से देवता बदनाम होता है! कई बार समाज में ऐसी स्थिति पैदा होती है कि लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि इस आशीर्वाद और सवर्त से किसी हुकूमतशाही को मंजूर कर लेना अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु धीरे-धीरे इन सब मनोवृत्तियों का प्रबल संग्राम कम होता जाता है। दो अतिरेकों प्रचार के बीच का एक मध्यम मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। और उस मार्ग को मान्यता भी प्राप्त होती है। *अर्थात् यह रूप यकायक नहीं होता, परन्तु होकर रहता है, यह सब सत्य है।*

लोकशाही वातावरण किस प्रकार गरम हो जाता है और किस प्रकार ठंडा होता है यह ऊपर कहा गया है। स्वतंत्रता का अधिकार इस वातावरण में ही जीवित रहता है और कार्यक्षम बना देता है। जिन बातों का आर्थिक महत्त्व नहीं है, उनकी चर्चा तो लोकशाही समाज में हर समय चलती ही रहती है। परन्तु जब आर्थिक चर्चा का विषय बन जाते हैं, जब सम्पत्ति, उसका स्वामित्व, उसकी नैतिकता या उपयुक्तता के विषय में चर्चा छिड़ जाती है, उस समय वाद-विवाद को रंग चढ़ता है। वर्ग हित की दृष्टि से फिर पक्ष स्पष्ट होने जाते हैं, इतना ही नहीं बल्कि वे आग्रही बनते हैं, जिद्दी बनते हैं व फिर समझदारी, विचार व युक्तिवाद इनको खो देते हैं। वही स्थिति युद्धकाल में दिखाई देती है। युद्धकालीन परिस्थिति में अगर कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक, युक्तिवाद से कुछ समझाने लगे तो उसे देशद्रोही कहा जाता है। संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन में किसी ने विवेकपूर्ण बात कही, उसे महाराष्ट्रद्रोही कहा गया। जबकि जिन्होंने सारी उमर सत्य को छुआ तक नहीं, सार्वजनिक शीलवृत्ति से सदा दूर रहे, वे सब उस समय महाराष्ट्र के अनन्य भक्त बने हुए दिखाई दे रहे थे। तात्पर्य यह कि जहाँ वर्गनिष्ठ स्वार्थ का सम्बन्ध होता है वहाँ वाद-विवाद विद्वेष का विषय बन जाता है। विचार-विनिमय से वहाँ मत-परिवर्तन होने के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। *फिर वहाँ बातें पत्थर की लकीर बन जाती हैं।* उस स्थिति में सत्य या न्याय का विचार नहीं किया जाता। जो हम कहते हैं वही सही है ऐसा आग्रह किया जाता है और विवेक के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं होता। यही स्थिति युद्धकाल में भी होती है। परन्तु युद्धकाल में देश की सुरक्षा की दृष्टि से विवेक को देने में सत्ताधीश लोगों को शोभा दिखाई देता है। सत्य व सत्ता इनका परस्पर विरोध हुआ तो व्यक्ति या वर्ग के संदर्भ में सत्य की शरण लेनी पड़ती है। परन्तु व्यक्ति या वर्ग सत्य को एक तरफ रखकर स्वार्थ की शरण लेते हैं। जब कभी प्रचलित हित-सम्बन्धों का विरोध करने वाले विचार या विवेकपूर्ण विचार समाज की मान्यता को प्राप्त होते हैं तब प्रचलित हित-सम्बन्धों के संरक्षक याने सत्ताधीश तत्काल सम्पूर्ण राज्य बल की सहायता लेकर इस प्रभावित होने जा रही विचार-धारा को कुण्ठित कर देते हैं। मिश्र केस का इतिहास यही दर्शाता है। साम्यवादी विचारों को प्रकट करना यही मिश्र के अपराधियों के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप था। एक विशिष्ट बात करनी चाहिये और कुछ विशिष्ट कार्यक्रम

होना चाहिए, इस प्रकार के कृति विरहित विचार भी आक्षेपार्ह माने जाते हैं। विशिष्ट तत्वज्ञान पर भी आरोप लग सकता है यह बात मिश्र देश में भारत ने अनुभव की। आज हिन्दुस्तान में विचार स्वातंत्र्य है, इसलिए केवल विशिष्ट विचारों को मानना या विशिष्ट तत्वज्ञान का प्रदर्शन अथवा चर्चा करना चाहे वह समाज विरोधी क्यों न हो, अपराध नही माना जाता फिर भी कोई भी कार्यक्रम जो विद्यमान हित-सम्बन्धों से सम्बन्धित हो, उस विषय में खुली छूट है, ऐसा नही कह सकते। वास्तविक स्थिति ऐसी है कि विभिन्न धर्मों के कौन-कौन से तत्व हैं और उनमें क्या सजीव, नासमझपूर्ण खयाल है उन पर विचार करना शुरू करते ही सरकारी कार्रवाई शुरू हो जाती है। नास्तिक विचार प्रतिपादन करने के लिए भारत में खुली छूट है। परन्तु हिन्दू देवी-देवता या अन्य धर्मार्थ लोगों के पवित्र स्थानों के विषय में कुछ भी आलोचना की गई तो कानून उसे नजर अन्दाज कर देगा, परन्तु तत्संबन्धित सामाजिक भावनाएँ लाठियाँ चलाकर अपना प्रभाव दिखायेंगी। सारांश राज्य सत्ता तथा सामाजिक शक्ति सदा ही प्रचलित हित सम्बन्धों की रक्षा के लिए तत्परता दिखाती है। धर्म या संस्कृति की अपेक्षा जहाँ सम्पत्ति का प्रश्न हो, वहाँ यह तत्परता तत्कालिक हमदर्दी का रूप ग्रहण कर लेती है। समाज के अन्दर समता प्रस्थापित करनी क्योंकि उसके बिना स्वातंत्र्य अधूरा है और आर्थिक समता कायम करने में सबसे अधिक विरोध सहना पड़ता है। आर्थिक विषमता तथा समाज के लिए आवश्यक हितैक्य इनका अधिक काल तक एक साथ रहना असम्भव है। जहाँ आर्थिक हितैक्य न हो वहाँ अन्य क्षेत्र में भी सच्चा हितैक्य निर्माण करना नही हो सकता। मालाबार हिल पर रहने वालों में तथा परल की बिल्डिंग में रहने वालों में सिवाय ऊपर के आसमान के और कोई समानता नहीं होती। मनुष्य के विचार आर्थिक परिस्थिति के अनुसार ही बनते हैं। समाज के ऊपर के दल व नीचे के तबके इनमें जो एक तरह की मानसिक शान्ति होनी चाहिये, उसे मजबूत करने के लिये समान दृष्टिकोण नही होता इसलिए वह सामाजिक शान्ति स्थापित नही हो पाती। विषमता के कारण सामाजिक विचारों में व व्यवहार में विकृति उत्पन्न होती है। विद्वेष उत्पन्न होता है। कुछ सहूलियतें बाद में दी जाती हैं। जो चाहिए नहीं होता उसे दान में दिया जाता है। अपरिहार्य लाचारी स्थिति में जो छोड़ना भी पड़ता है, वह भी सन्तोष के साथ नही छोड़ा जाता है और जो दान सद्बुद्धि से नही होता और जिसमें शुद्ध हेतु नही होता सद्भावना का आविष्कार नहीं होता है। उस दान से सन्तोष के ऐवज में घृणा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार सम्पत्तिशाली वर्ग से जो लिया जाता है उसमें न सन्तोष का भाव होता है न कृतज्ञता के लिये कोई स्थान ही। समता समाज में लानी है तो स्वतन्त्रता की सम्भाल जरूरी होनी चाहिए और स्वतंत्रता और समता इन दोनों को ही निश्चित करना है तो तत्सम्बन्धित राज्य-व्यवस्था का लोकशाही स्वरूप होना आवश्यक है। लोकराज्य नहीं होगा तो समता निर्माण नही होगी और समता नही होगी तो लोकशाही भी हितकर नहीं होगी।

लोकशाही का प्रमुख लक्षण यह है कि उसमें हर व्यक्ति को सुख भोगने का, अच्छा जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। इस अधिकार में समानता लाने का कार्य

राजकीय कानून के अतिरिक्त सामाजिक संस्था तथा संकेत द्वारा भी होना चाहिए। समाज के अन्दर अगर आर्थिक विषमता होगी तो सामाजिक संस्था और संकेत भी उस विषमता के भाव को बढ़ावा देने वाले होते हैं। आर्थिक विषमता के कारण सहज ही जिनके पास धन की कमी होती है उन्हें सुख प्राप्ति के साधन कम सुलभ होते हैं और जिनके पास धन सम्पत्ति तथा पैसे की कमी नहीं होती उन्हें सुख भोगने के साधन उपलब्ध होते हैं। विषम समाज में व्यक्ति की माँगों को न्याय की कसौटी पर नहीं परखा जाता। समाज में जो उत्पादन होता है वह वास्तविक सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नहीं बल्कि माँग के अनुसार सम्भरण यह अर्थशास्त्र का नियम वहाँ लागू होता है। सही अर्थ में माँग वही होती है, जिसके पीछे क्रयशक्ति हो, वही माँग प्रभावमय होती है। दरिद्री लोगों के मन में लाखों इच्छाएँ होती हैं फिर भी उनकी इच्छानुसार वस्तुओं का उत्पादन समाज में नहीं किया जाता। जो चाहिए उसको खरीदने के लिए अगर आपके पास चाहे जितना हो तो समाज की अर्थव्यवस्था आपकी उस माँग को पूरा करेगी अन्यथा नहीं। माँग व उसका संभरण इनका इस प्रकार सम्बन्ध होने के कारण उसमें सामाजिक न्याय का विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार सामाजिक हेतु और प्रयोजन इस पर भी ध्यान नहीं दिया जाता। जहाँ और जिस मात्रा में आर्थिक-शक्ति या क्रय-शक्ति होगी उसी मात्रा में उत्पादन होगा। इसका सीधा अर्थ यही निकलता है कि जिनके पास पैसा है, धन है वही व्यक्ति उत्पादन के चौधरी बन जाते हैं, औद्योगिक क्षेत्र में अपना चौधरीपन दिखाते हैं। तभी समाज में विषमता के विविध दृश्य दिखाई देते हैं। राजशाही अशोक होटल के साथ ही गंदी झोंपड़ियाँ उसी सूर्य प्रकाश के नीचे बसी हुई दिखाई देती हैं। सजी हुई इमारतों के बाजू में ही गंदे टीन की कतरन तथा लकड़ी के फट्टों के साथ बनाई हुई झुग्गियाँ नजर आती हैं। हर सामाजिक क्षेत्र में जिनके पास धन है उनके लिये ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग खुले हुए होते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के मंडप में उनका प्रवेश सहज होता है। न किये हुए कर्त्तृत्व का श्रेय भी उन्हें बहाल किया जाता है। औरों द्वारा रचित काव्य कृतियाँ या कला कृतियाँ उनके नाम पर प्रकाशित की जाती हैं या उन्हें पुरस्कृत कर उनके लिए सरस्वती के मन्दिर में वर्जित प्रवेश को सुलभ कर दिया जाता है। इस स्थिति में जो निर्धन हैं, जिनके पास कुछ नहीं है, उनके मन अधिक समय तक स्थितप्रज्ञावस्था में नहीं रह सकते। समाज में प्रचलित अन्याय से उनके मन में चिढ़ पैदा होती है। उस चिढ़ से क्षोभ और क्रोध के कारण उनके विचार तीव्र गति से क्रान्ति की ओर झुकने जाते हैं। समाज में प्रचलित यह अन्याय अनैतिक है, सो तो स्पष्ट दिखाई देता है। प्रयत्न और सफलता इनमें पारस्परिक कार्यकारण भाव न होने के कारण परमात्मा या सुदैव इनसे भी मुकाबला करने के लिए चुने हुए मन तैयार हो जाते हैं। जिन तत्वों पर समाज आधारित है यह कहा जाता है कि उन्हीं तत्वों को फिर खुले आम अमान्य किया जाता है। आज तक जिन देवताओं की पूजा होती या की जाती थी, वे सब झूठे हैं, इसका साक्षात्कार जनता को होने लगता है। प्रतिष्ठा के सिक्के जब बजाये जाते हैं तब वे खरे नहीं हैं, इसका अनुभव आता है। केवल मात्र सिक्कों से फिर मूल्यांकन नहीं किया जाता। तात्पर्य से प्रचलित समाज व्यवस्था की नींव फिर डाँवाडोल हो जाती क्योंकि

उसकी जड हिलाई जाती है। तब स्वतंत्रता की लालसा से प्रेरित जनता को समता के बिना सच्चा स्वातंत्र्य नहीं यह तथ्य प्रकट हो जाता है और समता प्रस्थापनार्थ किये जाने वाले प्रयत्नों में वह अधिकाधिक योग देती है। लोकशाही का आन्दोलन वस्तुतः समता स्थापन करने का आन्दोलन होता है, यही दृष्टिकोण १६वीं शताब्दी के अनेक राज्य-शास्त्र विशारदों ने रखा है। उनकी विचारधारा से आम तौर पर यह जाहिर होता है कि जिस समाज में कुछ लोग धनशाली व सत्ताधीश व कुछ निर्धन तथा दुर्बल होते हैं, वहाँ वही निर्बल और निर्धन जनता विफलता और विमनस्कता की शिकार बन जाती है। बहुसंख्यक जनता की इस उदासीनता तथा विफलता की भावना से बहुत-सी सामाजिक शक्ति और कर्त्तव्य का ह्रास होता है, क्योंकि उनकी योग्यता और कर्त्तृत्व शक्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता, न मौका दिया जाता है, इसलिए उनकी योग्यता और कर्तृत्व सुप्तावस्था में ही पड़ा रहता है। जिनके हाथ में सत्ता है, ऐसे इनेगिने व्यक्ति अपना प्रभाव समाज के हर क्षेत्र पर डालते हैं और उनकी इच्छाएँ प्रभावशाली सिद्ध होती हैं। उनकी राय सामाजिक राय समझी जाती है और बहुसंख्यक जनता की उपेक्षा की जाती है। जो अल्पसंख्यक सत्ताधीश होते हैं वे स्वयं मान्यताशील होते ही हैं परन्तु उस सीमित गुट में अन्य लोगों को न आने देने का, उनका प्रयत्न रहता है फिर उनका यह गुट जन्म पर, सम्पत्ति पर, संस्कृति पर अथवा सम्प्रदाय पर आधारित हो, उन सब में यह लक्षण समान रूप से दिखाई देता है। जो अपने गुट की पैदाइश न हो उसको वे स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्य संसृष्टि में अन्य विचारों का प्रवेश नहीं हो पाता और न ही अन्य आदर्श वहाँ जा सकते हैं। कोई नये आदर्शों का या नये विचारों का तीव्रता से प्रतिपादन करने लगे तो उसे समाज के लिये भयानक और विद्रोही माना जाता है। अगर वही बातें वह युक्तिवाद से पेश करे तो उनको महत्त्व नहीं दिया जाता, इसका कारण उनकी वर्गनिष्ठ दृष्टि और वर्गश्रेष्ठत्व का अभिमान ही है। जनसाधारण में जो वंचित हैं, दरिद्री और असहाय हैं, उनकी ओर वे न्याय देने की बुद्धि से नहीं देखते और जो कुछ थोड़ी-बहुत उदारता दिखाते हैं, उसमें वर्गनिष्ठ अभिमान की बू होती है। दिया हुआ दान के रूप में स्पष्ट दिखावे के लिए होता है। यह दिखावा संस्था को दान का नाम देकर दिया जाता है या शिलान्यास के पत्थर पर अपना नाम खुदवा कर दिया गया हो, वर्गश्रेष्ठत्व की भावना इतनी तेज होती है कि समाज के राज-मार्ग पर वह मोटे-मोटे हरफों में लिखकर प्रकट की जाती है। बहुजन समाज जब उसका विरोध करता है, उस समय उनके वर्गीय अहंकार को ठेस पहुँचती है और उस समय प्राप्त परिस्थिति में से विवेकपूर्ण मार्ग ढूँढ़ना मुश्किल हो जाता है।

विषम समाज में जो सम्पत्तिशाली होते हैं, वे अपने हित-सम्बन्धों के क्षेत्र में ही अपने विचारों के घोड़े दौड़ाते हैं। बहुसंख्यक दरिद्री समाज को दबाने में और तुच्छ समझने से जो प्रतिक्रिया होती है, वही अन्त में जाकर इस श्रेष्ठ श्रेणी के लिए बहुत घातक सिद्ध होती है। अपने ही मनसूबों में मस्त हो जाने के कारण बदलते हुए समाज का परिणाम पहले उनके ध्यान में नहीं आता और आने के बाद दीर्घ दृष्टि से सोच-विचार कर कदम उठाने की क्षमता भी उनमें नहीं होती। इसके विपरीत जो दरिद्री हैं, उनमें धीरे-धीरे वर्ग-भावना

है। शुरू में अज्ञानवश तथा संगठन के अभाव में उन्हें क्या चाहिए, यह वे स्वयं बता नहीं सकते। दीर्घ काल तक एक विशिष्ट मनोवृत्ति में जीवन व्यतीत करने के कारण इस असंघटित वर्ग में हिम्मत नहीं दिखाई देती, आत्मविश्वास का लोप हुआ होता है, फिर धीरे-धीरे जन संगठन की मुस्थान होती है। उस समय उनमें जो क्रोध या द्वेष उत्पन्न होता है, उसे कब, कैसे और किस के विरुद्ध प्रदर्शित करें, यह उनकी समझ में नहीं आता। एक अर्थ में समाज का प्रभावशाली श्रेष्ठ वर्ग इस बहुसंख्यक बहुजन समाज के चरित्र तथा शील को कुण्ठित भी कर देता है। उनके अन्दर समायी हुई जिम्मेवारी की भावनाओं को कुचल देता है। सम्पत्ति से तो उन्हें दूर रखा ही जाता है। परन्तु श्रेष्ठ मानसिक धन से भी उन्हें विमुख किया जाता है। इसका परिणाम यह दिखाई देता है कि बहुजन समाज, जो उसे अप्रिय हैं उन्हें तोड़-फोड़कर-उखाड़कर फेंक देता है और अपने आपको व्यक्त कर देता है। उनमें रचनात्मक या विधायक प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। बहुजन समाज के सामाजिक, आर्थिक तथा राजकीय क्षेत्र में असंघटित तरीके से अपना कर्तृत्व दिखाने का और विधायक कार्य करने का अवसर न मिलने के कारण अब जो वे प्रयत्न करते हैं, उनका स्वरूप अधिकतर विध्वंसक अथवा विघटनात्मक ही होता है। छोटे-छोटे सामाजिक कार्य करने का अवसर मिलते रहने से समाज के अन्दर की विधायक प्रवृत्तियों को चालना मिलती है। आर्थिक क्षेत्र में या स्थानीय स्वराज्य क्षेत्र में काम करने का मौका मिला तो डिग्री की मोहर लगा हुआ ज्ञान न होते हुए भी कई व्यक्ति प्रभावशाली कार्य दिखाते हैं, परन्तु ऐसे अवसर समता न होने पर कम ही मिलते है! व्यक्ति को अपना कर्तृत्व, अपने अन्दर छिपी हुई योग्यता और भव्यता दिखाने की गुंजाइश नहीं होती। केवल धन से ही अपनी श्रेष्ठता दिखाकर सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को बढ़ावा देकर औरों को अवसर देने से इनकार किया जाता है। हर स्थान में कार्य में बढ़ावा मिलने के कारण सहज ही ऊँची श्रेणी के लोगों की बुद्धिमत्ता चमक जाती है और कार्य भी उज्ज्वल दिखाई देता है। देश का वास्तविक और सच्चा धन उसके बुद्धिमान् तथा कर्तृत्ववान नागरिक है। राष्ट्र की वास्तविक रक्षा, तेज हथियार अथवा एक क्षण में भस्म कर देने वाले बम नहीं कर सकते। बल्कि नागरिकों के अन्दर का धैर्य और उनके अन्दर विद्यमान बेधड़क साहस से ही राष्ट्र का सही रक्षण होता है देश की सच्ची प्रगति दो-चार शास्त्रज्ञ अथवा दस पाँच उद्योगपतियों के कर्तृत्व पर निर्भर नहीं करती परन्तु आम जनता के ज्ञान का सार तथा सामान्य नागरिकों की उपक्रमशीलता और प्रयत्नपरायणता इनपर निर्भर है। इसलिए बहुसंख्यक जनता जितना ज्ञान प्राप्त करेगी और अपना कर्तृत्व दिखायेगी उतना ही राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक है। जिस देश को कर्तृत्व की आवश्यकता होती है, दृढनिश्चयी नागरिकों की भी जरूरत होती है। उस समय वह गरज पूरी हो जाती है। हिन्दू समाज को चतुर्वर्ण व्यवस्था के अनुसार बाँट कर उसके एक चौथाई अंग को दुर्बल क्यों बना दिया गया था, इसका रहस्य समझना चाहिए। जब थोड़े से लोगों के हाथ में सम्पत्ति और तदनुसार सत्ता होगी तो ये ही कुछ लोग आम जनता के महत्त्वपूर्ण काम करेंगे। तब इने-गिने लोगों की इच्छा ही जनता की इच्छा मानी जाती है। समाज में विद्यमान सम्पत्ति के निर्माण के साधन इस तरीके से बरते जाते

है कि उससे जो सम्पत्तिशाली वर्ग है, उनके सुख और वैभव में अधिक वृद्धि होती है और अन्य जनता बुद्धि, साधन, धन और हिम्मत से हीन बन जाती है। इससे राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो जाती है। प्रभावशाली राष्ट्र अर्थात् जिसमें आम जनता प्रबल और प्रभावित हो ऐसा नहीं हो पाता।

श्रेष्ठ वर्ग सम्पत्ति के कारण सत्ताधीश बन जाता है और सत्ताधीश होने के नाते उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। जिस राष्ट्र में यह वर्ग थोड़ा बहुत भी प्रगतिशील रहा अथवा उसकी दृष्टि जरा भी जनताभिमुख रही तो वहाँ वह अधिक काल तक प्रभावशाली रहा ऐसा प्रायः देखने में आया है। परन्तु जहाँ इस वर्ग ने अहंकारी और स्वार्थलोलुप बन सब सुख-साधनों की पूँजी अपनी ही जेब में रखी कि वहाँ उसका पतन जब कभी हुआ वह कल्पनातीत हुआ है। जिस प्रकार मकान की आयु बढ़ाने के लिए सब को समयानुसार मरम्मत करनी चाहिए या हथियार काम देते रहें इसलिए उन्हें अदल-बदल करने पड़ते हैं अथवा फसल अच्छी आवे इसके लिए बीज चुनकर लेने पड़ते हैं, उसी प्रकार का कार्य समाज में भी रखना हो तो जिन कारणों से वह वर्चस्व कायम हुआ उन कारणों का हमेशा बने रहना जरूरी है तथा समयानुसार उनमें कुछ परिवर्तन भी होते रहना चाहिए। व्यक्तिगत गुण दोष वंश-परम्परा पर निर्भर रहते हैं। व्यक्ति के आदर्श तथा जीवन मूल्य में कुल-परम्परा का भी बहुत बड़ा हिस्सा होता है। वही नियम विशिष्ट वर्ग को भी लागू होता है। विशिष्ट वर्ग के जीवन विषयक कुछ मूल्य होते हैं। परम्पराएँ भी होती हैं और कुछ भावनाएँ भी। इन सब की सार-सम्भाल या परिवर्धन नहीं हुआ तो उस श्रेणी का पतन होने लगता है। व्यक्ति को जिस प्रकार अपना स्वयं का कुछ मौलिक वैशिष्ट्य डालकर पुराने मानसिक आभूषणों को चमकाना पड़ता है, इसी प्रकार वर्ग का भी होना है। व्यक्ति को विद्या परम्परानुक्रम से आवेगी ही यह जरूरी नहीं है, वही बात वर्ग के लिए भी लागू होती है। कभी किसी समय दिखाए हुए पराक्रम लगातार पीढ़ी दर पीढ़ी दिखाये जाएँगे यह जरूरी नहीं है। इसलिए उनका महत्व घटता जाता है। विद्या, विक्रम तथा चारित्र्य यह किसी एक वर्ग की अपनी मिल्कियत नहीं होती। वंशपरम्परागत वह चलती ही रहेगी यह भी सच नहीं है। ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ इसलिये वह बीघ्रता से ही दशग्रंथी बन जाता है या कभी दशग्रंथी अवश्य बनेगा ही ऐसा अनुभव नहीं है। समरांगण में तलवार चलाकर अपना रण-कौशल दिखाने वाले लोगों के बच्चों में साधारण धैर्य की भी कमी दिखाई देती है। क्षत्रिय कुल में पैदा होने से हर कोई भीम या अर्जुन बन जाय यह जरूरी नहीं। पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली वर्ण व्यवस्था में भी परम्परागत ज्ञान और पराक्रम का वारसा कायम रहे, यह जरूरी नहीं। चारित्र्य तथा शील का ज्ञान, जाति अथवा जन्म इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार संत किसी भी कुल में पैदा हो सकते हैं उसी प्रकार चरित्र-वान् और शीलवान का भी है। ज्ञान और पराक्रम के बारे में भी यही है। समाज में अवसर मिलने से कई प्यादों से फर्जी बन जाते हैं। भेड़ बकरी चराने वाले राज्य-कर्ता बन गये हैं और जिनको अपनी सही तक करनी नहीं आती है, वे करोड़ों रुपयों का लेनदेन करने वाले कारखानेदार बन गये हैं। उसी प्रकार कुछ व्यक्तियों में ऐसी

दिखाई देने लगे कि वहाँ भी पराक्रम के क्षेत्र निर्माण हो जाते हैं। नये विचारों के, नये आदर्शों के क्षितिज समाज के सामने दिखाई देने लगते हैं।

जैसे-जैसे सत्ताहीन तथा उपेक्षित जनता में अन्याय की भावना तीव्र होती जाती है वैसे-वैसे उस भावना का आविष्कार स्फोटक रूप धारण करने लगता है। धीरे-धीरे जनता की माँगों का स्वरूप केवल निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति करवाने तक या निश्चित अन्याय को दूर करवाने तक ही सीमित नहीं रह पाता। जिन कारणों से यह अन्याय या विषमता उत्पन्न हुई ऐसा वे अनुभव करते है, उन्ही कारणो को अर्थात् सामाजिक रचना को ही बदलना जरूरी है यह प्रतिपादन किया जाता है। अब उनकी माँगो की ओर उपेक्षा वृत्ति से देखा जाना या उनका हीन दृष्टि से निर्देशन करना आदि परिस्थिति बदल जाती है। सत्ताधीश तथा प्रभावशाली वर्ग अब डग-मगा जाता है। पुरानी घोषणाएँ अर्थशून्य सी वे अनुभव करते हैं। उसी वर्ग द्वारा किये गये अच्छे कार्यों को भी जनता भूल जाती है तथा उनके वे कार्य ईमानदारी पूर्ण थे यह भी मानने को तैयार नहीं होती। ऊपर से इस वर्ग के सम्बन्ध में जो परम्परागत आदर की भावना होती है वह भी नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में बौद्धिक चतुराई दिखाकर पुराने माल को नये का रूप देकर उसे बाजार में खपाने का कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाए, जनता उस धोखे में नहीं आ पाती। जो अविश्वास पैदा होता है, वह सम्पूर्ण वर्गगत होने के कारण उसके लिए अपवादकर्त्ता व्यक्ति को भी सबके साथ ही लपेट लिया जाता है। पराभूत हुआ सत्ताधीश व सम्पत्तिशाली वर्ग अपनी हार से अनुभव लेकर समझ से आगे का रास्ता पार करते हैं। यह सब अचानक होता है। परिस्थिति के अनुसार चलकर निभाने की वृत्ति उच्च श्रेणी मे आम तौर पर नही दिखाई देती। जिस देश के उच्चवर्ग में परिस्थिति के अनुसार अपने आपको मोड़ने का स्वभाव हो वहाँ उस वर्ग की राजसिंहासन से हटने पर भी समाज में उसकी प्रतिष्ठा तथा महत्व बना रहता है। व्यक्ति हो चाहे वर्ग हो अगर वह समाज में साथ निभाकर नहीं चलता है तो उसकी प्रगति नहीं हो सकती। किंबहुना, काल प्रवाह के साथ उसके पैरो तले की रेत खिसक जाती है व थोड़े समय के लिए वह न तैर सकता है न ही डूब सकता है। इधर से उधर लुढ़कने वाली त्रिशंकुसी उसकी स्थिति बन जाती है। समय को पहचानकर किस समय क्या व कैसे सम्भव है इसको ध्यान में रखकर उसके अनुसार व्यवहार शासन को ही राजनीति कहते हैं। अभिमान के कारण कुछ व्यक्ति परिस्थिति के साथ बनाकर काम नहीं लेते और कुछ व्यक्ति अज्ञानवश उसे समझ नही सकते इसलिए कई बार गाड़ी छूटने के बाद प्लेटफार्म पर प्रवेश किया जाय वैसी ही स्थिति इस वर्ग के लोगों की बन जाती है। हिन्दुस्तान के सनातनधर्मीय लोगों की ऐसी ही स्थिति है। हिन्दू पक्ष की भी आज के भारतीय तथा महाराष्ट्रीय राजकारण मे वही स्थिति बनी हुई है। उनका पुराना सिक्का राजनीति के क्षेत्र में कोई स्वीकार नही करता है। उनका जन्मसिद्ध अधिकार पर आधारित तत्त्वज्ञान आज के युग मे किसी को जँचता नहीं है। तात्कालिक भावनाओं का फायदा उठाकर कभी बीच-बचाव कर भी लिया तो भी अपेक्षाकृत प्रतिष्ठा मिली हुई नजर नहीं आती। दुनिया की परिस्थिति का परिवर्तन, नयी आर्थिक रचना सम्बन्धी प्रभाव से हुआ सिद्ध तत्त्व-

ज्ञान, दुनिया में हुई क्रान्ति इन सब का महत्त्व जिन पक्षों ने पहचाना नहीं वे पक्ष समाज में टिक नहीं सकते। समाज सत्तावादी तत्त्वज्ञान आज की दुनिया में चालू सिक्का है। उसकी गूँज आज संसार के वन-जंगलों में सुनाई देने लगी है, इसलिए हिन्दू समाज सत्तावाद नाम का एक नया वाद भारतीय जनता के सम्मुख आया। पिछले पचास वर्षों में उसे प्रगतिमय पक्ष कहते थे। यह पक्ष भी बहुजन समाज के अन्त करण को नहीं पहचान पाया। आज प्रगतिमय पक्ष का नाम भी भारतीय राजकारण में शेष नहीं रहा। तात्पर्य, नई दुनिया में बहुजन समाज पूर्णरूप से जाग्रत हो गया है। वह हर स्थान पर सत्ता काबू कर रहा है। बहुजन समाज अब 'शाकाम् वस्यात् लवणेन भक्ष्यान्' इस प्रकार की साधारण सहूलियतों से खुश नहीं हो सकता। उत्पादन क्षेत्र में अब केवल अधिक से अधिक वेतन इतनी ही माँग नहीं रही। मजदूर अब मिल्कियत चाहते हैं। बहुजन समाज की माँग व्यक्ति के लिए योग्य न्याय प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं रही, उसे अब सत्ता में हिस्सा चाहिए और वह उस सत्ता में अपना अधिकार जताना चाहते हैं। बहुसंख्यक समाज ने याने श्रमी समाज ने अब अपनी शक्ति को पहचान लिया है। राजनीति में अब उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह जितना सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि भविष्य में उनकी मनौती की जायेगी, उनकी आरती उतारी जायेगी। बहुजन समाज में अब संगठन के कारण चैतन्य निर्माण हो गया है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण व्यक्ति को उत्पादन यंत्र का एक हिस्सा मानने लगे थे। वह परिस्थिति अब नहीं रही। उत्पादन सृष्टि में अब उसका महत्त्व बढ़ गया है। हितैक्य के कारण हजारों व्यक्ति आज एक साथ आते हैं व अपने हितों के सम्बन्ध में संघटन द्वारा रक्षा करते आये हैं। जिस व्यवसाय में जो व्यक्ति आज काम कर रहे हैं, उस व्यवसाय का आज वे एक महत्त्वपूर्ण अंग बने हुए हैं। रेलवे मजदूर, पोस्ट वाले इस प्रकार की व्यावसायिक भावना आज के समाज में सर्वत्र दिखाई देती है। इसलिए आजकल की इस नई दुनिया में इस बदली हुई परिस्थिति का विचार करना चाहिए। राजकीय क्षेत्र में प्राप्त स्वातंत्र्य को अर्थपूर्ण करने के लिए उत्पादन क्षेत्र में भी उसका होना जरूरी है और वहाँ उसको सार्थक होने के लिए समता का लाना आवश्यक है। अत लोकशाही, अगर एक क्षेत्र में आ गई तो उसका अन्य क्षेत्र में आना अपरिहार्य हो जाता है। जब मत देने का अधिकार सारे संसार को दिया जाता है, तब सामाजिक सत्य की दृष्टि से भी सब समान होना ही चाहिए। इस विचार का निर्माण होता है व उस विचार में से ही आर्थिक समानता की माँग पैदा होती है।

राजकीय क्षेत्र में स्वातन्त्र्य समता की दृष्टि से महत्त्व का है। और इसीलिए औद्योगिक क्षेत्र में भी स्वातन्त्र्य उसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इस तथ्य को जो पक्ष नहीं पहचानेगा वह पक्ष आधुनिक युग में प्रभावशाली नहीं हो सकेगा। कुछ ऐतिहासिक कारणों से कई देशों में धनी वर्ग ने वंश-परम्परागत सत्ता को मर्यादित करने के लिए बहुजन समाज की सहायता ली। परन्तु उनकी सहायता से स्वातन्त्र्य प्राप्ति हुई इसका भान होते ही उन्होंने अपनी मदद की कीमत माँगनी शुरू कर दी। फल तोड़ने के लिए कन्धे पर चढ़ाया हुआ बूटा; फल तोड़ने के बाद फिर नीचे उतरने के लिए राजी

ही न हो कुछ ऐसी ही परिस्थिति कई पाश्चात्य राष्ट्रों में हो गई। राजकीय स्व-तन्त्रता तथा समता के लिए बहुजन समाज को साथ लेकर सत्ताधीश वर्ग और उत्पादक वर्ग के विरुद्ध मध्यम श्रेणी ने लड़ाई की। उस लड़ाई के परिणाम तथा उस लड़ाई का यश राजकीय क्षेत्र तक ही सीमित करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु जब एक बार आजादी का वायु-मण्डल निर्माण हो जाता है तब वह जीवन के हर क्षेत्र में फैल जाता है, यही अनुभव इग्लैण्ड तथा अन्य राष्ट्रों में आया है। समता की माँग सब आर्थिक क्षेत्रों में होने लगी व पिछले पचास वर्षों में लोकशाही द्वारा राजकीय क्षेत्र में चालू किया हुआ आन्दोलन आर्थिक क्षेत्र तक चला गया। साम्यवादी देशों में अब प्रायः आर्थिक क्षेत्र के अन्दर भी समता प्रस्थापित हो गई है। बल्कि सब उत्पादन पर जनता को अधिकार हो यह तत्वज्ञान वहाँ कार्यप्रवण हो गया है। जहाँ साम्यवाद नहीं है परन्तु लोकशाही है वहाँ भी मजदूरों के हित कल्याणार्थ मजदूरों के लिए पिछले ५० वर्षों में जो कायदे-कानून बने हैं, उन सबका उद्देश्य आर्थिक विषमता को मिटाने का है। वेतन सम्बन्धी कई कायदे-कानून बनाने के बावजूद भी उन देशों में मनोपमय आर्थिक समता कायम न हो सकी, इसलिए मजदूर वर्ग अभी भी सन्तुष्ट नहीं है। वे अब निश्चित रूप से मालिक बनना चाहते हैं व जो उद्योग-धन्धों के मालिक हैं वे अपने स्वामित्व के हक को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। सब सगठित मजदूर संस्थाओं ने अब सब उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण ही अपना ध्येय निश्चित कर लिया है। उस ध्येय को साध्य करने के लिए लोकशाही का ही एकमात्र मार्ग है। इस तथ्य को भी उन्होंने स्वीकार कर लिया है। अर्थात् आज जो व्यक्तिगत पूँजीवादी हैं व जिनके पास अपनी मिल्कियत है ऐसा वर्ग इसका विरोध कर रहे हैं। राजनीति में जो लोग समता तथा स्वतन्त्रता की जयजयकार करते थे वही उद्योगपति, वही पूँजीवादी आज भारत में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए विरोध कर रहे हैं। जब तक उनके स्वार्थ को आँच नहीं पहुँचती तब तक राजनीतिक स्वातन्त्र्य का आदर्श उन्हें स्वागतार्ह मालूम होता है। आर्थिक क्षेत्र में विषमता बनी रहे इसी शर्त पर राजकीय क्षेत्र में समता तथा स्वातन्त्र्य का पुरस्कार उन्होंने किया था ऐसा लगता है। स्वातन्त्र्य का सही अर्थ इस वर्ग की समझ में नहीं आया ऐसा लगता है। उन्हें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि मजदूरों को उत्पादन पद्धति तथा उत्पादन व्यवस्था में योग्य स्थान न देने से औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति प्रस्थापित नहीं हो सकती। सम्पत्ति निर्माण अर्थात् उत्पादन व्यवस्था में मजदूरों का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि इनका सहयोग न मिलने पर या उन्हें असंतुष्ट रखकर उत्पादन नहीं हो सकेगा। कम-से-कम वह उत्पादन फायदेमन्द नहीं होगा यह बात अब स्पष्ट है। इसलिए मालिक वर्ग को नये जमाने के साथ निभा लेना चाहिए। अब केवल राजकीय समता सूचक गांधी टोपी पहनकर काम नहीं बनेगा। जो कुछ वे प्राप्त करेंगे, मजदूरों के श्रम के बल पर तथा उनकी सहायता से ही। इसलिए मजदूरों को उनका उचित हिस्सा मिलना चाहिए। केवल इसलिए कि मालिक वर्ग वर्तमान सरकारी पक्ष का है व मजदूर संघटन भी उसी पक्ष का है इसलिए उनमें द्वैविध्य हो यह जरूरी नहीं है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में स्वतन्त्रता की प्रतिक्रिया विभिन्न वर्गों पर किस प्रकार हुई यह देखना अत्यन्त मनोरंजक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जिन्होंने प्रयत्न किए उन्हें अगर हम वर्ग की दृष्टि से देखें, उनमें उच्च वर्ग के लोगों का प्राधान्य दिखाई देगा। स्वातन्त्र्य प्राप्ति के प्रयत्नों का नेतृत्व निश्चित रूप से मध्यम वर्गीय था। धनिक वर्ग तथा साम्राज्यवादी वर्ग को मध्यम वर्ग सदा अपने निकट मालूम देता है। राष्ट्रीय सभा यद्यपि देश के लिए लड़नी थी फिर भी उसका अन्तर्गत स्वरूप पूर्णतया बहुजन हिताय बहुजन सुखाय था, ऐसा कहना मुश्किल ही है। राष्ट्रीय सभा की तात्विक पार्श्वभूमि समाजसत्तावाद के प्रतिकूल नहीं थी परन्तु समाज सत्तावाद का स्पष्ट पुरस्कार उसमें नहीं था इसलिए स्वातन्त्र्य प्राप्ति के पहले पहर में मध्यम वर्ग तथा धनीवर्ग द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद समाजसत्तावाद या अन्त हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन में आम जनता ने हिस्सा लिया था, संघटित मजदूर-संघ की सहानुभूति थी, व समयानुसार मजदूर-संघ भी उसमें शामिल होते रहे थे। परन्तु आजादी की लालसा सम्पूर्ण समाज में थी व सम्पूर्ण समाज वह चाहता था। लड़ाई का नेतृत्व कांग्रेस ने किया था इसलिए सत्ता "जानबुल" ने कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित की। राष्ट्रीय सभा के नेतृत्व में स्वातन्त्र्यप्राप्ति एक सामान्यतः विचारों की एकता थी। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वतन्त्रता के अर्थ सम्बन्ध में तथा उसके यथार्थ करने के विषय में आपस में तात्विक मतभेद उत्पन्न हुए यह सर्वविदित ही है। कांग्रेस के नेतृत्व में कुछ ज्ञानयुक्त श्रद्धा के साथ समाज सत्तावादी विचार रखने वाले व्यक्ति थे तो कुछ ऐसे भी थे जो पुरानी अर्थव्यवस्था के विषय में अधिक चिकित्सा किए बिना उत्पादन बढ़ाकर देश को समृद्ध करना चाहते, बँटवारे का प्रश्न उतना महत्त्व का नहीं, ऐसा मानने वाले थे। जहाँ कुछ व्यक्तियों का कहना था कि समाज सत्तावाद की स्थापना करने की दृष्टि से सत्ता का उपयोग किया जाना चाहिए, उसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए, वहाँ 'धीरे गाडी हाँक रे मेरे जवाहर लाल रे', ऐसी सलाह देने वाले भी कुछ मौजूद थे। राजकीय विचारों की एक गुदड़ी कांग्रेस ने निर्माण की थी व ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि निश्चित कार्य करना असम्भव हो गया। प्रचलित समाज का स्वरूप बदलता है और उस विषय में कुछ नियोजन करना जरूरी है यह विचार भी कइयों के मस्तिष्क में नहीं आता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यदि अन्नादि दारिद्रय जारी रहे तो वह आजादी मिलकर भी बेकार साबित होगी ऐसी आशंका कइयों के मन में आती थी और उनकी वह शंका सही भी थी। धार्मिकवर्ग ने राज्यसत्ता को छोड़कर समाजसत्तावादी विचारों का विरोध करना शुरू-शुरू में पसन्द नहीं किया। कांग्रेस में रहकर ही समाजसत्तावाद की ओर जोर से अग्रसर होने वाले रथ की गतिविधि कम करने में या सम्भव हुआ तो उसे रोक रखने के इरादे से भारत के पूँजीवादियों ने कुछ वर्ष प्रयत्न किए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में भाषण स्वातन्त्र्य होने के कारण प्रतिरेकी विचारधारा समाज के सम्मुख आने लगी। परिणामस्वरूप समाज सत्तावादी विचार-प्रवाह समाज में जोरों के साथ बहने लगा। एक तरफ पूँजीवाद अपने तरीके से राज्यसत्ता पर अपना

प्रभाव डालता था तो दूसरी तरफ बहुजन समाज का दारिद्रय तथा अज्ञान राज्य-सत्ता को चुप नहीं बैठने देते थे। सत्ता स्वीकार करते हुए थोड़ी सी लोकशाही राज्य संस्था में थी ही परन्तु जब भारत ने अपना संविधान बनाया व उसे स्वीकार किया उसके बाद नया युग शुरू हुआ। विचारों का मार्गदर्शन करने वाला तत्वज्ञान प्राप्त हुआ तथा लोकशाही साधनों के जो आदर्श संविधान ने स्वीकार किए हैं, उन आदर्शों को अमल में लाना चाहिए, यह स्पष्ट हो गया। सार्वजनिक मतदान का अधिकार सबको प्राप्त हुआ और इसलिए चुनाव का महत्त्व कल्पनातीत बढ़ गया। जो पार्टी चुनकर आएगी उसके तत्त्वज्ञान का सिक्का समाज में प्रभावशाली होगा और इसका मंत्र ही सब जगह पढ़ा जाएगा यह भी स्पष्ट हो गया। समाज का जो स्वरूप हम चाहते हैं उसे जनमत द्वारा अमल में लाना जरूरी हो गया। तलवार के बल पर सत्ता ग्रहण करना हराम हो गया। मतदान की पेटी सत्ता देनेवाली वस्तु बन गई। कम से कम सत्ता प्राप्त करने के मार्ग के सम्बन्ध में तथा साधनों के विषय में सब पार्टियों की तत्त्वज्ञान की दृष्टि से एकवाक्यता थी। बहुमत मान्यता यह लोकशाही उपनिषद् का महावाक्य था। बहुमत प्राप्त न होने पर राज्य के कानून को अमान्य करना या बहुमत पर आधारित सरकार का अवैध तरीकों से विरोध करना आदि इस प्रकार की बातें लोकशाही धर्म विरोधी मानी जाने लगीं। राज्य जिस मौलिक तत्त्व पर आधारित होता है, इस विषय में सब एक राय होते हैं। उस आदर्श को कैसे कार्यान्वित किया जाए, कल इस सम्बन्ध में विभिन्न पार्टियों में फरक होता है। अगर यह प्रवृत्ति राष्ट्र में नहीं होगी तो वहाँ लोकशाही कामयाब नहीं हो सकेगी यह स्पष्ट है। कई पार्टियाँ बहुमत प्राप्त नहीं कर पातीं और फिर वे लोकशाही की मर्यादाओं को मानने के लिए तैयार नहीं होतीं। लोकशाही का संयम फिर उन्हें शृंखला सी प्रतीत होता है। समाज का हित विरोध होना है और इस हित विरोध का शान्तिपूर्ण तरीकों से परिहार करना इसी का नाम लोकशाही है। अधिक से अधिक जनता का अधिक से अधिक परिमाण में हित साधने वाली अगर कोई राज्य व्यवस्था है तो वह लोकशाही ही है, यही इतिहास का अनुभव है। परन्तु इस लोकशाही को अगर सफल बनाना है तो उसकी मर्यादाओं तथा उसके संयमों का पालन करना अत्यावश्यक है। अगर सत्तारूढ़ पार्टी अपने हाथ आई हुई सत्ता का उपयोग जनता को दबाने के लिए करेगी तो वहाँ लोकशाही चल नहीं सकेगी। जो व्यक्ति जोर, जबर्दस्ती पर विश्वास करते हैं या कानून का दुरुपयोग कर अपनी सत्ता कायम रखना चाहते हों वे निश्चित रूप से अदूरदृष्टि वाले व्यक्ति हैं। लोकशाही सत्ता सब के लिए है इसलिए उसे बरतने वाले के मन व बुद्धि भी व्यापक व विशाल होनी चाहिए। सर्व समाज के हित का कार्य पूर्णरूप से अगर यशस्वी करना हो तो समाज के सब लोगों को अपनाना सत्तारूढ़ पार्टी के लिए आवश्यक है। जनता को साथ लेकर चलना चाहिए। केवल प्राप्त सत्ता को कायम रखने के लिए सत्ता का उपयोग करना लोकशाही की विडम्बना मात्र है तथा स्वतन्त्रता में लोगों की आजादी जैसे छिनना ही है।

लोकशाही राज्य व्यवस्था में अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित साधा जा सकता है। परन्तु लोकशाही व्यवस्था मे प्रचलित अर्थव्यवस्था पर यह स्थिति निर्भर करती है। आर्थिक व्यवस्था जितनी मात्रा मे समता स्वरूप होगी, न्याय्य वितरण आधारित होगा, उतनी ही मात्रा मे सुखद तथा समृद्ध वातावरण लोगो को प्राप्त होगा और जीवन के लिए जो आवश्यक है, समाज मे जो अधिकाधिक निर्माण होगा उसमे उन्हें न्याय्य हिस्सा मिलता रहेगा यह विश्वास उनमे पैदा होगा। इसके विपरीत जहाँ इस तरह का विश्वास निर्माण नही होता वहाँ जनता मतदान करे फिर भी वह सही मतदान नही होता। जहाँ जनता का मन सत्तारूढ सरकार की नीति से समरस अपितु प्रत्यक्ष सक्रिय सम्मति से राज्यकार्य चलता है वहाँ प्रगति की गति तीव्र होती है। उसका क्षेत्र व्यापक होता है। धन के वितरण मे अधिकाधिक समानता है, न्याय मिल रहा है इस विश्वास मे से जनता की सम्मति प्राप्त होती है। परन्तु जहाँ तीव्र आर्थिक विषमता हो वहाँ यह सम्मति जो कि प्रगति का चैतन्य समझी जाती है; राज्यसत्ता को प्राप्त नही होती। विषम व्यवस्था के खिलाफ विरोध किया जाता है और अगर राज्य के कारोबार मे आम जनता की सम्मति न हो तो सामाजिक सघर्ष और अशाति पैदा होती है। विद्यमान अन्याय का सदा ही विरोध हो, यह जरूरी नही है। कभी होता है और कभी समाज स्तब्ध बना रहता है। कभी हलचल तो कभी शान्त चुप्पी इस प्रकार यह निषेध का आन्दोलन चलता रहता है। छोटी-मोटी शिकायतो से, छोटे-मोटे दुःख से दुःखी लोग अनुभव से आदी बन जाते हैं और कई बार उन्हें अनिवार्य मानकर अपना जीवन व्यतीत करते होते है। परन्तु यह दिल का जख्म हमेशा के लिए ठीक हो जाए ऐसा नही होता। आर्थिक अन्याय से फिर सामाजिक अन्याय का निर्माण होता है और उसी से सामाजिक आत्मा को क्लेश पहुँचता है। विद्यमान पीढी अगर निषेध करना छोड भी दे तो नये उत्साह के नये प्रयत्नवादी मैदान मे आते हैं। जनता के साथ किये गये अन्याय तथा राजसत्ता द्वारा दिखाई गई उपेक्षा ऊपर से लोग भूल गये हो ऐसा प्रतीत होता है परन्तु उससे जनमत के अन्दर एक गहरा घाव हो जाता है, यह बात निश्चित है। एक क्षण ऐसा भी आता है कि उस उपेक्षा और अन्याय का प्रदर्शन किसी वरिष्ठ घटना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष ब्रह्मा भी चिढ जाए ऐसा भी प्रसग आता है। कुछ लोग अगर कुछ देर तक विशिष्ट अन्याय को सहते रहे तो बाकी लोगो को वह अन्याय, अन्याय नही, महसूस होता है, ऐसी सत्ताधीशो की धारणा होती है। लोग कुछ समय के लिए हलचल मचाएँगे फिर अन्त में मान जाएँगे ऐसा उन्हें विश्वास होता है। डण्डे के बल पर सब कुछ किया जा सकता है। ऐसा माननेवाले डण्डेशाही महात्मा राजकीय सृष्टि मे भी होते है। जिस द्विभाषी को जनता नही चाहती थी उसे पुलिस के जोर से जनता पर लादा जा सकता था ऐसा भी युक्तिवाद अभी तक किया जाता है। कुछ लोगो ने अन्याय सहा इसलिए वह न्याय नही बन सकता है। डर के कारण कोई बोलता न हो या बोलने से कोई लाभ नही होना है। इसलिए मौन धारण किया है। इस परिस्थिति में जो हो रहा है वह सर्वमान्य है ऐसा निष्कर्ष निकलना यह राजनीति मे बडी भारी

गलती है परन्तु फिर भी अनुभव से भी समझदार न बनने वालों की सत्ताधीश वर्ग में कमी नहीं है। अपना निजी अनुभव अर्थात् सब का अनुभव ऐसा समझने वाले लोग भी सत्ताधीश वर्ग में होते हैं। इसलिए जनता की जरूरतें उन्हें अनावश्यक दिखाई देती है और उन्होंने स्वयं जो योजना बनाई हो वही जनताहितार्थ है ऐसी धारणा उनकी होती है। इसलिए छोटी-छोटी बातों मे भी संघर्ष करना पड़ता है। काम के घण्टे कम करने का प्रश्न हो या वेतन कम और बाजार भाव अधिक यह सवाल हो या संघटन को मान्यता देने का प्रश्न हो, किसी भी प्रश्न के बारे में जनता के अनुभव को ध्यान मे लेकर उस प्रश्न का हल निकालना उन्हें योग्य नही लगता। जनता की सम्मति ही देश की स्वतन्त्रता तथा सरक्षण की पहिचान है, इस तथ्य को अगर भूल गये तो समाज का भविष्य अनिश्चित हो गया, यही इसका मतलब होता है। सरकार या सन्तुष्ट सत्तारूढ पार्टी को चाहिए कि अपनी नीति जनता को भली भांति समझा दे तथा जनता को यह विश्वास हो जाये कि यह नीति उसके अनुभव से मेल खाने वाली है। सत्ताधीश वर्ग का अनुभव कुछ भी रहा हो परन्तु जनता का अनुभव प्रस्तुत होने के कारण प्रभावशाली होना चाहिए। जो हुकूमतशाही तबियत के होते हैं या मनमानी चलाने वाले होते हैं उन्हें जो कुछ उनका अनुभव होता है, वही ठीक है, ऐसा लगता है। उसमें कुछ गलत है ऐसा वे नही सोचते और कुछ दोष हो तो भी उसे उनका अधिकार की कलम ठीक कर सकती है ऐसा उन्हें आत्मविश्वास होता है। परन्तु जब तक जनता को उनकी बात पटती नहीं है, जनता के अनुभव को जंचती नही है तब तक केवल डण्डे के बल पर उसे जनता पर लादना याने राज्यसत्ता के विरुद्ध बगावत तथा संघर्ष को आह्वान देना ही है। इस प्रकार से चलाया गया शासन क्षणिक यशस्वी होता है परन्तु उसके अन्तिम परिणाम अत्यन्त भयावह होते हैं। जिस सरकार के पीछे जनता की सम्मति हो, जिस सरकार के कारोबार मे जनता का हार्दिक सहकार्य हो वही सरकार सफल होती है। और उसकी यह सफलता स्थायी भी रहती है। जनता की सहमति होने के कारण नीति को कार्यान्वित करने मे सहूलियत होती है व यदि फिर भी कुछ दिक्कतें पैदा हो गईं तो उन्हें शीघ्रता से दूर किया जा सकता है। अगर जनता ने यह अनुभव किया कि उसकी आवश्यकताएँ पूरी की जा रही हैं तो वास्तव में जनता कामधेनु बन जाती है। सरकार जो जो मांगे वह देने के लिए तैयार हो जाती है। जनता फिर यह अनुभव करती है कि उसकी इच्छानुसार उसके विचारो की कदर करते हुए तथा उसके अनुभव का ख्याल कर कार्य किया जा रहा है। इसके विपरीत यही सरकार अपनी ही विचारधारा, अपना ही तत्वज्ञान व अपने ही निर्णय हमेशा आगे ढकेलती रहे तो आज या कल उसका विरोध अवश्य होगा और उस विरोध से कठिन प्रसंग निर्माण हो जाता है। फिर जो कुछ होता है वह लोगों को असह्य सा प्रतीत होता है। वे भी नागरिक हैं और उनके नागरिक अधिकारों की अवहेलना की जा रही है, यह भावना तीव्रता के साथ उनमें उभरती है। जो होना नहीं चाहिए था वह हो रहा है, कुछ तो भी मन को क्लेश पहुँचाने

वाली घटनाएँ हो रही हैं, ऐसा वे अनुभव करते हैं और दिन-प्रतिदिन उसे सहना उन्हें असह्य हो जाता है। दिल-तथा मन मारकर रहने की परिस्थिति फिर अधिक समय तक नही सही जाती। चुनाव द्वारा, सत्याग्रह द्वारा अथवा खुल्लम-खुल्ला विद्रोह द्वारा उस परिस्थिति से बाहर निकलने के लिए रास्ता निकाला जाता है। विद्यमान सरकार अच्छी है या बुरी यह जानने के लिए किसी वेदाभ्यासजड़ पण्डित से पूछने की आवश्यकता नही। किसी शास्त्रज्ञ की बुद्धिमत्ता पर या केवल तार्किक दृष्टि से किए हुए विचारो पर भी उसे निर्भर नही करना। अपितु जनता का उस सरकार के राज्य के कारोबार के विषय में जो अनुभव होता है उस पर निर्भर करना है। यह अन्तिम कसौटी होने के कारण जनता को नाराज करना या उसकी सहमति की परवाह किये बिना राज चलाना लोकशाही स्वतन्त्रता के खिलाफ है।

जनता की सम्मति गृहीत मानकर कोई भी राजसत्ता साधारण परिस्थिति मे राज्य कर सकती है, परन्तु असाधारण परिस्थिति के उत्पन्न होते ही गृहीत सम्मति दृश्यमान न होने के कारण व जनता के सहकार्य के अभाव मे सरकार सम्भ्रमित हो जाती है। जनता की भावनाओ को चोट पहुँची हुई होने के कारण वह भी सरकार की सहायता नही करती इसलिए राज्य सत्तारूढ लोगों को चाहिए कि वे लोकमत जानते रहने का हमेशा प्रयत्न करते रहे। लोकमत जानना जितना आवश्यक है उतना ही वह कार्य कठिन है। लोकमत यह रसायन कई बातो और विचारो से तथा सामाजिक भावनाओ से बनता है। कई बार वह वस्तुस्थिति को पूर्णतया बिना आकलन किए हुए बनता है, इसलिए वस्तुतः वह भिन्न होते हुए भी अलग दिखाई देता है। समाज की भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ प्रचारार्थ कार्य मे चतुर होती हैं, इसलिए वास्तविक स्थिति या सत्य सदा प्रकाश मे आयेगा यह जरूरी नही है। आज की दुनिया मे संस्थाओ का और पार्टियो का सघटन होने के कारण प्रचार के साधन उनके हाथ मे होते हैं और वे सत्य का विपरीत व विकृत स्वरूप लोकमत के बाजार मे ला सकते हैं। हजारो तारें राज्य सत्ता को भेजी जाती है। सैकड़ो सभाओ मे सत्य का विपरीत स्वरूप लोगो के सामने पेश किया जाता है। बहुत से प्रतिनिधि मण्डल अधिकारियो को आकर मिलते हैं तथा अखबारो मे निश्चित तरीको से प्रचार किया जाता है। इस प्रकार की चालें केवल एक ही पक्ष से नही की जाती परन्तु अन्य सभी पार्टियो की ओर से भी अपने-अपने तरीकों से सर्वथा विरोधी लोकमत है यह दिखाने का प्रयत्न किया जाता है। फिर ऐसी परिस्थिति मे सच्चा लोकमत क्या है, यह जानना सर्वथा मुश्किल हो जाता है। चुनाव द्वारा आम तौर पर लोकमत का अन्दाज हो जाता है, यह सच है, परन्तु फिर भी चुनाव के वातावरण मे सम्पूर्ण सत्य तथा सम्बन्धित परिस्थिति वा लोगो के सामने आना जरूरी नही है। कई बार विवेक की अपेक्षा भावना अधिक प्रबल होती है और उसी की विजय हो जाती है। और इस क्रिया में वास्तविक लोकमत चुनाव मे भी प्रकट नही हो पाता। परन्तु आम तौर पर चुनाव मे लोकमत का प्रदर्शन होता है, इसी सिद्धान्तानुसार लोकशाही आधारित है और लोकशाही मे लोकमत के बदलते ही वह फरक समाज की

नजर में आता है और राज्यकर्ता लोग अगर मदान्ध न हों तो उन्हें भी वह दिखाई देता है। परन्तु लोकमत में दिखाई देने वाले प्रत्येक परिवर्तन को सत्ताधीश पार्टी स्थायी नहीं मानती इसीलिए कई बार वही सरकार जो देश में अप्रिय समझी जाती है, उसका विधान सभा में बहुमत होता है। इसलिए वह अपनी सत्ता का दावा तथा नियन्त्रण नहीं छोड़ती। स्वेज नहर की घटना के बाद इंग्लैण्ड में सन् १९५६ में यही दिखाई दिया। इस समय अगर चुनाव किया जाता तो सत्ताधीश कंजरवेटिव पक्ष हार जाता परन्तु बदले हुए लोकमत की परवाह किये बिना कजरवेटिव पक्ष घसीटता गया और आगे आने वाले चुनावों में फिर उसने अपना बहुमत कायम रखा। जनता की सम्मति गृहीत मान कर कहाँ तक कोई पक्ष राज्य नियन्त्रण की गाड़ी खिंच सकता है इसका सही अन्दाज लगाना राजकीय कौशल का काम होता है। सत्ताधीश पक्ष को सम्पूर्ण सत्य जनता के समक्ष रखना चाहिए, इस नैतिक बन्धन का वह हमेशा पालन करे, यह जरूरी नहीं है। इसलिए सत्तारूढ पक्ष स्वयं जो नीति निर्धारित करता है, उसे लोगों को पटाने के लिए जी-जान से प्रयत्न किया जाता है। यही सत्य तथा वस्तुस्थिति जनता के सम्मुख रखी जाने की स्वतन्त्रता दी जाती है जिससे उनकी सत्ता को किसी प्रकार से खतरा न पहुँचता हो व फिर सत्ता तथा लोकशाही के मूल्यों को सत्ता व सरकार मान देते हैं, यह दावा पेश कर दिया जाता है परन्तु जनता के मन में उनके साथ किया गया अन्याय और सामाजिक आर्थिक विषमता काफी गहरा घर किए हुए होते हैं इसलिए उसके यह सत्ताधीश वर्ग विरोधी पूर्वग्रह कब फूट पड़ेंगे इसका कोई भरोसा नहीं होता। अन्याय की भावना और यह पूर्वग्रह स्वतन्त्रता के वातावरण से विगलत होते हैं। सत्ताधीश अपनी राय तथा विचारधारा को ही सामाजिक हितार्थ सही मानते हैं, केवल अपने ही अनुभव को सच मानते होने के कारण उसमें विपरीत कुछ हो सकता है या उसमें कुछ सत्य की मात्रा हो सकती है, यह वह अनुभव नहीं कर सकते। जब सकटकालीन परिस्थिति में देश के सामने दुर्धर प्रसग खड़ा हो जाता है, उस समय राज्य हितार्थ तथा सरक्षणार्थ नागरिकों की मौलिक स्वतन्त्रता को या तो स्थगित कर दिया जाता है या सकुचित कर दिया जाता है। थोड़ी बहुत गुंजाइश रखी भी जाती तो कुछ लोग देशप्रेम के कारण अथवा कुछ डर के कारण या उदासीनतावश अपने विचारों को प्रकट नहीं करते। जो लोग विद्यमान सत्ताधीश पक्ष के होते हैं, उन्हे दुगुना जोश आता है और उनकी वाचाल अर्थविहीन बकवास को ही समाज की राय समझा जाता है। विरोध के अभाव में जो सत्ताधीश पक्ष में बोला जाता है वही लोकमत निर्विवाद सरकार की तरफ का बन जाता है। युद्ध प्रसग में जनता की मन स्थिति आम तौर पर अस्थिर होती है। हार विषयक जो कुछ व्यर्थ बुरा-भला कहा जाता है, उसे मानने की ओर उसकी मनोवृत्ति होती है। शान्तिकाल की अपेक्षा संकटकाल में सत्य का जनता के सम्मुख आना अधिक जरूरी तथा समाज-हित की दृष्टि से इष्ट होता है। परन्तु प्रत्यक्ष-अनुभव इसके विपरीत होता है। लोग चुप हैं, इसलिए वे सन्तुष्ट हैं; वे बोलते नहीं इसलिए उनको सरकारी नीति जँच गई है, ऐसा मान लिया जाता है और यह वृत्ति केवल हुकूमतशाही सरकारों की ही होती है ऐसा नहीं है, लोकशाही

सरकारों का भी यही हाल होता है। विशेषतः जिस लोकशाही सरकार की अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप पूँजीवादी होता है और जिस समाज में आर्थिक विषमता होती है, वहाँ यह स्थिति दिखाई देती है। पूँजी प्रधान लोकशाही में लोग सरकार की तरफ से बोलते हैं, उन्हें ही लोकमत का प्रतिनिधि माना जाता है। अपनी विचार-धारा के खिलाफ जो विचार रखते हैं उन्हें क्रान्तिकारी तथा समाजविद्रोही या अगर कोई भी अपने विचार जाहिर न करते हुए चुपचाप रहे तो उनकी मौन सम्मति मानकर अपना राजकाज चलाते हैं। विरोधी मतों को दबा देना या उनके विरुद्ध सामाजिक शक्ति का प्रयोग करना समाज के हित में ठीक नहीं होता। मत न कह कर चुप बैठे रहने का फल भी समाज के हित में बुरा होता है। दो-चार उपद्रवापी व्यक्ति एवं दो-एक खटपट करने वाली संस्थाएँ उठें और कुछ-का-कुछ बकते फिरें, और उसी को लोगों की इच्छा मान लिया जाए तो यह सच्चे लोकतन्त्र तथा सच्ची स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा। ब्रिटिश लोगों के राज्यकाल का अनुभव हमें बतलाता है कि लोकमत को अपने अनुकूल साबित करने के लिए किन्हीं विशेष अखबारों के लेखों को प्रमाण रूप में पेश किया जाता था। जिन्हें समाज में कोई पूछता-ताछता नहीं था, उन्हें अनेक खिताब देकर उनकी सम्मति को ही लोगों की सम्मति घोषित कर दिया जाता था। लोकतन्त्र में ऐसा नहीं होना चाहिए। लोक-तन्त्री सरकार की स्थिरता एवं कार्यक्षमता लोगों की सच्ची निष्ठा एवं सच्चे सहयोग पर निर्भर करती है। लोकमत का सच्चा सोना कौन सा है तथा पीतल कौन-सा है यह संघर्ष के समय तत्काल पता चल पाता है। अतः सरकार को समाज में शान्ति एवं सन्तुलन बनाए रखने के लिए सच्चे लोकमत का बड़ी सावधानी से पता चलाना चाहिए तथा उसके अनुसार अपने कार्य की दिशा निश्चित करनी चाहिए।

साधारणतया जहाँ विचार-स्वतन्त्रता, मत-स्वतन्त्रता रहती है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक दल अपने मत एवं विचारधारा ही को सही बतलाता है तथा दूसरे दल की विचारधारा को गलत एवं समाजद्रोही मानता है। यह भी कहता है कि उसके दल को छोड़ अन्य कोई दल सत्य की रक्षा के लिए चिन्तित नहीं रहता। वस्तुस्थिति यह है कि पूर्ण सत्य के अभाव में व्यक्ति को स्थिति का सही-सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अन्धे लोग हाथी के भिन्न-भिन्न अवयवों को हाथ से छूकर उसके रूप के बारे में भिन्न-भिन्न मत कायम करते हैं, उसी प्रकार समाज के व्यक्ति भी अपना-अपना मत कायम किया करते हैं। और इस सारे घपले में समाज की संगठित संस्थाएँ एवं संगठित दल स्वतन्त्र विचार के व्यक्तियों को अपने प्रोपेगण्डे की भरमार से निष्प्रभ कर डालते हैं। झूठमूठ की भड़कीली खबरें छाप कर, अनर्गल लेख लिखकर प्रचार का ज्वालामुखी धधकाकर मत कायम करने की स्वतन्त्रता को अर्थहीन बना डालते हैं। तब व्यक्ति कहने लगते हैं 'मेरा मत अमुक समाचारपत्र का सा, अमुक दल का सा तथा अमुक नेता का सा है।' तैयार कपड़े खरीदने की भाँति ही तैयार मत स्वीकार करना व्यक्ति के लिए आसान हो जाता है। किंबहुना, दल द्वारा, नियन्त्रित राजनीति में व्यक्ति का व्यक्तित्व कम होता जाता है तथा सामाजिक एवं संगठनात्मक भाव उसके जीवन में अधिक होता जाता

है। यदि कोई स्वतन्त्र रूप में अपने कथन को प्रस्तुत करना चाहे तो उसके मार्ग में गाहे-बगाहे रुकावटें उत्पन्न की जाती हैं और यदि इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जोर पकड़ने लग जाए तो वह समाज में समता की स्थापना करने की दृष्टि से बहुत ही शक्तिशाली हो जाती है। और सिर्फ उसी एक वजह से समाज में प्रस्थापित हित-सम्बन्ध तथा उनका शासनाद करने वाले समाचार-पत्र ऐसे व्यक्तियों एवं उन व्यक्तियों के प्रयत्नों पर चारों ओर से टूट पडते हैं। इतना ही क्यों, विषम समाज में शिक्षा का प्रबन्ध कुछ ऐसा किया जाता है, जिससे जहाँ तक बन पडे नवीन विचारों का प्रसार न होने पाये। पाठ्यक्रम की पुस्तकों से लेकर विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ शिक्षाक्रम तक इसी प्रकार की स्थिति बनी रहती है। 'मगन तराजू आण' (मगन तराजू ले आओ), 'महादू बैल सोड' (महादेव, बैलों को खोल दे), 'मोरू पोथी वाच,' (मयूर पण्डित, पुस्तक पढ़ो) इत्यादि वाक्य सिर्फ भाषिक महत्त्व के ही नहीं हैं। इन वाक्यों में से मौजूदा सामाजिक व्यवस्था झाँकती है। अतः विचारों के दाँत मनुष्य को आने से पहले इस बात की खबरदारी रखी जाती है कि कहीं वे शूलदन्त न हो जाएँ। इस स्थिति में यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि हर व्यक्ति जो वयस्क हो गया है, स्वतन्त्र बुद्धि का निकलेगा ही। विषम समाज में व्यवसाय की व्यवस्था भी स्वतन्त्र विचारों के लिए कुछ ज्यादा अनुकूल नहीं होती। न्याय व कानून के क्षेत्रों में समाज की आवश्यकता की अपेक्षा पिछले उदाहरण (प्रिसिडैंट) पर अधिक जोर दिया जाता है। नई परिस्थिति के लिए पुराना कानून अधूरा साबित होता है, यह जानते हुए भी कानून के उद्देश्यों को छोड़कर कानून के शब्दों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। समाज की सस्थाएँ, समाज एवं राज्य की सत्ताएँ समाज के परम्परागत एवं प्रचलित आदर्शों को ही सनातन मानने की वृत्ति को प्रश्रय देती हैं। सत्य का प्रचार करने की प्रतिज्ञा के साथ जन्म लेने वाले समाचार-पत्र भी सत्य ही का कथन करेंगे ऐसा कहते-कहते सिर्फ सत्य को ही भुला बैठते हैं। जो न्याय्य होगा उसी का समर्थन करेंगे ऐसी घोषणा करते करते सिर्फ न्याय्य वस्तु का ही परित्याग कर बैठते हैं। राजनीति में आम जनता के सुख के लिए अपने प्रिय व्यक्तियों से भी सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़े तो हम वैसा करेंगे, ऐसा कहने वाले शासन की बागडोर हाथ में लेते ही अपने प्रिय व्यक्तियों का हित सम्पादन करने में जुट जाते हैं। उन्हीं की नियुक्तियाँ करते हैं। हम सारे देश एवं सारी जनता के हैं, कहते-कहते अपने ही तालुके एवं गाँव को देश मानने लग जाते हैं तथा अपने ही नाते-रिश्ते के लोगों तथा गाँव भाइयों एवं जातभाइयों को आम जनता मानने लग जाते हैं। इस वातावरण में यदि कोई विरोध करे तो समाज का वातावरण ऐसा बना दिया जाता है, जिससे ये विरोध करने वाले लोग समाज में रहते हुए भी अकेले हो जाते हैं। देश में रहते हुए भी निर्वासित हो जाते हैं। जनता में भाषण करने की स्वतन्त्रता के होते हुए भी वे अपनी उस स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकते। सत्ताधीश सदा इस बात का यत्न करते हैं कि उन लोगों के किसी भी विचार का प्रभाव प्रस्थापित हित के विरुद्ध न पड सके। तथापि इन सब कोशिशों का फल तात्कालिक ही होता है। अन्त में जो बात होना होती है, वह होके ही रहती है।

आर्थिक विषमता के कारण सत्ता में निहित शक्ति कम हो जाती है। जनता बहुसंख्यक होकर भी सामर्थ्ययुक्त नहीं होती। अल्पसंख्यक लोग अपनी सम्पत्ति तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के बल पर सामर्थ्यशाली होकर सत्ताधीश बन जाते हैं। साक्षात् सत्ताधीश न भी हो तो भी सत्ताधारी लोग उनके इशारे पर नाचने लग जाते हैं। किं-बहुना, सम्पत्ति, मान, वर्ग आदि बातें राजसत्ता को अपनी दासी बना लेती हैं। किंवा मार्क्स के शब्दों में कहना हो तो राजकीय सत्ता उपरिलिखित वर्गों की कार्यकारिणी समिति बन जाती है। इस परिस्थिति में बहुसंख्यक लोगों का सुख का मार्ग कण्टका-कीर्ण हो जाता है। उनको आत्मोन्नति से दूर रखने के बार-बार प्रयत्न किये जाते हैं। वास्तविक शक्ति तो जनता को होती है, पर वह मुट्ठी भर लोगों के लिये उपयोग में लाई जाती है। जो बहुसंख्यक जनता एवं बहुजन समाज को न्यायानुसार देना चाहिए, उसके विषय में विकृत दृष्टिकोण से काम लिया जाता है और राज्यसत्ता की सारी बुद्धि-शक्ति बहुजन समाज को उनके न्याय्य अधिकारों से वंचित रखने के उपाय ढूँढने में खर्च की जाती है। पुरानी रिआयतों को नई शक्ल में पेश किया जाता है। वरिष्ठ अधिकारियों के वेतन बढ़ाये जाते हैं तथा कनिष्ठ कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने का सवाल उठ खड़ा होने पर यह सोज्ज्वल कारण सामने किया जाता है कि उनके वेतन में वृद्धि करने से आर्थिक सन्तुलन बिगड़ जायगा। समाज में जो सामग्री होती है, उसका उपयोग उचित रीति से होना चाहिये, अतः उसका उपयोग गरीबों के लिए नहीं किया जाता। आज या कल करेंगे यह टेक सर्वथा क्षुद्र बातों में भी गायी जाती है। तात्पर्य यह कि बहुसंख्यक होने पर भी बहुजन समाज संगठन के अभाव में अपनी शक्ति को प्रभावी नहीं बना सकता। सीधी-सादी बातों में भी उसे निराशा का मुँह देखना पड़ता है। उन्हें जिस बात की जरूरत होती है उसकी जरूरत अपने जीवन को सार्थक करने के लिए होती है। और सार्थक जीवन समाज को प्रगति-परायण बनाने के लिए जरूरी होता है। कम से कम उसका परिणाम तो वैसा ही होता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता ढोल पीटने के लिए नहीं होती। उसके द्वारा जीवन को श्रेष्ठ उद्देश्यों एवं आदर्शों को हासिल करना होता है। महात्माजी ने गोलमेज परिषद् में कहा था कि मुझे स्वतन्त्रता माथे पर पट्टा बाँध कर उसका प्रदर्शन करने के लिए नहीं चाहिए। वरन् मुझे अज्ञान, दरिद्रता एवं अभावों की स्थिति में तथा निरुत्साही वृत्ति में पड़े हुए देश को सज्ञान, सुखी, उत्साही बनाने तथा उन्नति की ओर अभिमुख करने के लिए उसकी आवश्यकता है। अतः यदि मिली हुई स्वतन्त्रता से हमारे उद्देश्य की सिद्धि न हो तो कहना होगा कि अब तक हमने जिस देवता का पूजन किया है, वह पाषाण ही है। नितान्त भक्त निष्ठुर शत्रु बन जाता है। जनता को ऐसी स्वतन्त्रता अभीष्ट नहीं प्रतीत होती तथा राजकर्तागण भले ही अपने लोग हो अपने सम्बन्धी हो तो भी ऐसा लगता है कि वे अपने सहायक या अपने को सुख देने वाले नहीं है। युग-युग की दरिद्रता एवं विषमता को दूर करने के लिए बहुजन समाज को आर्थिक न्याय की आवश्यकता होती है। जनता की माँग आर्थिक समता की होती है। श्रम करने को वह तैयार होती है पर उनका वह श्रम सफल होगा या नहीं इस बात का सन्देह बना रहता है। और ऐसी स्थिति में उसको राज्य के

कारोबार में किसी किस्म की दिलचस्पी नहीं रह जाती। वह उदासीन हो जाती है। कुछ काल पश्चात् उसमें विरोध की भावना जाग जाती है तथा आगे चल कर वह कट्टर विरोधी बन जाती है। उसे अनुभव होने लगता है कि बहुसंख्या में होने पर भी वह अल्पसंख्यक सत्ताधारियों के हाथ का खिलौना बनी हुई है। जनता के कुछ लोग बोलते जरूर हैं, तो भी सामान्य जनता मौन रहती है। पूंजीवाद-प्रधान प्रजातन्त्र मे हांकने वाला कोई एक व्यक्ति नहीं होता बल्कि एक संगठित दल होता है। बहुजन समाज जिस सामष्टिक एवं सामुदायिक जीवन को बिताया करता है, उसमें उसे कोई प्रेरक-वस्तु दृष्टिगत नही होती। ऐसी कोई वस्तु नही नजर आती जिसके लिए दुनिया भर की मुसीबतें झेली जायें तथा मृत्यु तक का आलिंगन करने में हिचकिचाहट महसूस न हो। राज्य एवं राष्ट्र के प्रति सामान्यतया जनता की निष्ठा रहती है। पर पुजारी दुराचारी हो तो भक्त के मन की जो अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था राज्यरूपी देवालय में पुजारी रूपी सरकार के आचरण को देखकर जनता के मन में भी उत्पन्न होती है। व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक हो, उसके मन मे किसी न किसी वस्तु के प्रति दृढ निष्ठा होती है। किंबहुना, निष्ठाशून्य व्यक्ति का मिलना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। कुछ काल के लिए वह निष्ठाशून्य रह सकता है तथापि वह किसी न किसी निष्ठा की शरण मे चला जाता है। और एक बार निष्ठा के जागरित हो जाने पर जिस वस्तु के प्रति निष्ठा है, उसकी कितनी भी विरोधी आलोचना क्यों न हो, उसका विश्वास डगमगाता नही। राजनीति मे भी ऐसी ही अवस्था है। विभूति-पूजा का विरोध करने वाले भी समय पाकर विभूतिपूजक बन जाते हैं। इसी प्रकार किसी नेता पर विश्वास हो जाने के बाद उसकी बड़ी-बड़ी गलतियाँ भी राजनैतिक दांव-पेच मानी जाने लग जाती हैं। उनके मुंह से निकली सीधी-सादी बातें भी भविष्यवाणी समझी जाती हैं तथा पूरी अन्धश्रद्धा से उन पर विश्वास किया जाता है। जो निष्ठा एवं जो मनोभाव व्यक्ति के बारे में रहते हैं, वही निष्ठा एवं मनोभाव लोकतन्त्र मे दल के बारे में अथवा संगठन के बारे में लोगों के मन में दिखाई देते हैं। मजदूर संघ के बारे में निष्ठा उत्पन्न हो जाय तो उस संघ अथवा उसके नेता कुछ क्यो न करें उसे ठीक ही माना जायगा। जितना हितैक्य अधिक स्निग्ध होगा, नेताओं एवं अनुयायियों के सम्बन्ध जितने घनिष्ठ होंगे उतनी ही निष्ठा अधिक दृढ एवं शक्तिशाली होगी। तब सरकार की भी पर्वाह नहीं की जाती। जब व्यक्ति यह मानने लगते हैं कि मजदूर संघ उनका अपना है, रेलवे फेडरेशन उनका अपना है, क्लास फोर यूनियन उनका अपना है तथा उनके हित के लिए प्रयत्न किया करता है तथा सदा जागरूक रहता है, तो उनकी निष्ठा अपने संगठनों के प्रति अधिक मजबूत हो जाती है तथा यदि कभी सरकार और संगठन के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाय, तो वे अपने संगठन के प्रति अधिक वफादार हो जाते हैं। सरकार भले ही संघ के कार्य को देशविघातक कहे या देशद्रोही कहे, पर उनकी निष्ठा मे अन्तर नही आता। लोग अपने संघ का साथ छोड़ने के लिए तैयार नही होते। इस प्रवृत्ति का कारण यही होता है कि राज्य के कार्यकलापो में उनके अनुभवो की पर्वाह नहीं की जाती

तथा संघ के सारे कार्य उनके अनुभवों के ही आधार पर हुआ करते हैं। किंबहुना, व्यक्तियों के अनुभव ही संघ की कार्य प्रवण शक्ति होती है।

आर्थिक विषमता के रहते समाज भले ही ऊपर से एकात्म दृष्टिगत हो, पर वास्तव में वह वैसा नहीं होता। एक गाड़ी में जिस प्रकार अलग-अलग दर्जे के डिब्बे होते हैं उसी प्रकार वर्ग व्यवस्था में समाज के व्यक्तियों के भी दर्जे हुआ करते हैं। समाज के दो स्पष्ट विभाग होते हैं। एक उन लोगों का वर्ग जिनके पास सम्पत्ति है, सत्ता है, प्रतिष्ठा है तथा जिन्हें, जो कुछ वे चाहते हैं, करने की सुविधा प्राप्त होती है। दूसरा उन लोगों का वर्ग, जो गरीब हैं, असंगठित हैं, अज्ञानी हैं, उपेक्षित हैं एवं वंचित हैं। थोड़ी देर को हम यह मान सकते हैं कि राष्ट्र नामक एक औपचारिक छत्र के नीचे ये दो राष्ट्र हैं, जो युद्ध के पैंतरे में आमने-सामने खड़े हैं। जो अभावग्रस्त वर्ग होता है, जिसके पास सत्ता एवं सम्पत्ति कुछ भी नहीं, वह संगठित हो जाता है, तथा जो संघ एवं संगठन उसका उद्धार किया करता है, उसके प्रति वह निष्ठावान बन जाता है। बाहरी दुश्मन देश के साथ लड़ाई होते समय नागरिकों के मन में जो स्वामिभक्ति, तीव्र देश प्रेम एवं त्याग की भावना काम किया करती है, वैसी ही भावना इस अभावग्रस्त वर्ग के लोगों के मन में भी कार्य-प्रवण होती है। मालदार वर्ग उन्हें अपना सचमुच का शत्रु वर्ग प्रतीत होने लगता है। उस समय वह वर्ग अपने संघ के लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार रहता है। हड़ताल की नैतिक पृष्ठभूमि हमेशा स्वार्थत्याग पर आधारित होती है। सत्ताधारी वर्ग कुछ क्यों न करे, उस पर दुष्ट उद्देश्यों का आरोप किया जाने लगता है। अगर कहीं सत्ताधारी लोग न्यायानुसार आचरण करें भी, तो भी उसमें से लोगों को बेईमानी की गंध आने लगती है। सत्ताधारी मालदार वर्ग उन्हें मानव रूप में राक्षसवर्ग प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार मालदार वर्ग को भी सामाजिक न्याय माँगने वाले, आर्थिक समता माँगने वाले संगठन समाजद्रोही एवं देशद्रोही प्रतीत होते हैं। अभावग्रस्त वर्ग को जो वस्तु अभीष्ट प्रतीत होती है, उससे इनकार करना ही सम्पत्तिशाली वर्ग को अपनी भलाई की बात प्रतीत होती है। अभावग्रस्त लोगों को जो अनुभव आता है, वह चूँकि सम्पत्तिशाली लोगों को नहीं आया होता, अत: उस अनुभव को सत्य मानने को उनका मन तैयार नहीं होता और वे लोग अपने ही अनुभव को सही समझते हैं। तथा उसी को ध्यान में रखकर वे अपनी सत्ता स्थापित किया करते हैं। तब अभावग्रस्त वर्ग को लगता है कि समाज के चित्रपट में उनके लिए कोई स्थान नहीं है, वे सिर्फ गाड़ी खींचने तथा बड़ों के चलने के रास्ते पर चादरें बिछाने भर को हैं। इस प्रतीति का परिपाक आगे चलकर न टलने वाले संघर्ष में होता है। नये विचारों की प्रगति के लिए ऐसी अवस्था में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, इस बात को भारत के लोग भली-भाँति जानते हैं। यों देखा जाय तो वेदोक्त कर्म करने में बहुजन समाज को कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति मिलने वाली नहीं थी, हाँ, एक सामाजिक प्रतिष्ठा, एक सांस्कृतिक अभिमान जरूर प्राप्त होने वाला था। तथापि इस सीधी-सादी बात के लिए भी ऊपर के वर्ग के लोगों ने कितना विरोध किया, इस बात का इतिहास अभी ताजा है। राजनीति में प्रगतिशील एवं त्याग वृत्ति वाले 'केसरी' जैसे समाचारपत्र भी साठ वर्ष पहले वेदोक्त

चार्यों का अधिकार बहुजन समाज को नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया करते थे और जहाँ संस्थानों का सम्पत्तिमान् वर्ग का सम्बन्ध आया, वहाँ तो अपने को क्रान्तिकारक कहने वाले लोग भी जातिविषयक एवं वर्ग-विषयक भावना से प्रेरित होकर बहुजन समाज का विरोध करने लगे, ऐसी घटना महाराष्ट्र के इतिहास में घटित हुई है। संस्थानों को विलीन हो जाना चाहिए तथा वहाँ की प्रजा को गुलामी से मुक्त किया जाना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करने वाले लोग प्रतिगामी लोगों की आलोचना का विषय बने। यह भी कहा जाने लगा कि संस्थान तो पुराने वैभव की निशानी है, नवीन आशाओं का सतत बहने वाला झरना है। संस्थानिकों के कुकृत्यों को, उनके अत्याचार एवं अनाचार को सार्वजनिक आलोचना की प्रकाश-ज्योति में लाने का प्रयत्न करने वाले की जान तक खतरे में पड़ जाती थी, इस बात को अभी तक महाराष्ट्र में भुलाया नहीं जा सकता। बहुत से संस्थानिकों ने अंग्रेजों के रहने तक बहुजन समाज की स्वतन्त्रता का विरोध ही किया था। प्रजा-परिषद् के सदस्यों के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया जाता था, इस इतिहास को लोग अभी तक भुला नहीं पाये हैं। अनेक संस्थानिक तो ऐसे भी थे जो अपनी रियासत में होने वाले दुष्कृत्यों का भंडाफोड़ न होने देने के विचार से रियासत से बाहर छपने वाले समाचारपत्रों को आर्थिक सहायता भी किया करते थे। रियासत से बाहर के साहित्यिकों को पुरस्कार देकर रियासत में न मिल सकने वाली सामाजिक प्रतिष्ठा को रियासत के बाहर से प्राप्त किया करते थे। विरोध को नष्ट करने के दान तथा दण्ड दोनों उपाय काम में लाये जाते थे। सरदारों, इनामदारों तथा जागीरदारों का अब कोई सामाजिक प्रयोजन नहीं रह गया है। सामाजिक सेवा तथा उपयोगिता ये दोनों बातें अब इस वर्ग से नहीं प्राप्त हो सकती, यह बात जानते हुए भी आज भी इन लोगों के भाट सभी कहीं मिल जाते हैं। 'खोत' को 'साटेमाती' से जनता को मुक्त करने के लिए जो प्रयत्न किये गये, उनका समर्थन करने वाले समाचार-पत्र तथा लोग रत्नागिरी की गलियों से लेकर पूना के सदाशिव पेठ के 'हौद' तक मौजूद थे। तात्पर्य यह है कि समाज की आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते हैं, उनका प्रायः विरोध ही होता है। प्रचलित समाज व्यवस्था तथा विषम आर्थिक परिस्थिति को बनाये रखना चाहिए, ऐसा कहने वाला एक वर्ग सब कहीं मिल जाता है। कारण यह है कि विषम आर्थिक स्थिति में जिसको जो अनुभव आता है, उसके अनुसार ही उसकी बुद्धि एवं भावना बना करती है। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति है, वह चाहता है कि उसकी वह सम्पत्ति तब तक उसके पास बनी रहे, जब तक आसमान में चाँद और सूरज मौजूद हैं और जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसकी मनोभावना होती है कि उसके पास भी कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिए।

जिस समाज में आर्थिक विषमता बनी रहती है, उस समाज में स्वभावतः प्रत्येक को, विशेषतः मालदार लोगों को एक प्रकार की अनिश्चितता एवं भीति प्रतीत होती रहती है। आज की बात कल रह सकेगी? आज इतना अत्याचार हो गया है। कल अधिक हो जाएगा क्या? आज इनों को तो कुचल दिया, कल को क्या होगा? आज जबर्दस्ती खेतों में हल चलाया, कल कहीं हमारे परों पर तो हल

नहीं चल जाएगा? आज मिल के बाहर लोगों ने नारे लगाए हैं। कल कहीं मिल के भीतर घुसकर हथौड़ा तो नहीं चला बैठेंगे? इस प्रकार की भीति समाज के सभी स्तरों पर काम करने वाले लोगों की बनी रहती है। सन् १९१५-१६ से लगभग यह शुरू हुई और तब से ऊपर के वर्ग में एक भिन्न स्वरूप का वातावरण उत्पन्न हो गया है तथा वह आज भी बना हुआ है। लगभग सन् १९२०-२१ में विविध संस्थानों (रियासतों) में संस्थानिकों के खिलाफ आन्दोलन शुरू हुआ और तब सन् १९४८ तक कोई संस्थानिक चैन की नींद सो सका हो, ऐसा नहीं हुआ। सन् १९०८ में खुदी राम बोस ने पिस्तौल चलाई। उसकी आवाज तब तक अंग्रेजों की छाती में धड़धड़ाहट पैदा करती रही जब तक कि वे लोग १९४७ में भारत छोड़कर चले नहीं गये। तात्पर्य यह कि जहाँ समता नहीं है, वहाँ बाहर से भले ही शान्ति दिखाई दे पर मन में शान्ति नहीं रह पाती। आज या कल क्या हो जाए, इसकी निश्चिंति नहीं रह जाती। अपना मन ही अपने को काट खाने को दौड़ने लगता है और जिसकी कल्पना तक नहीं थी, वही बात होने लग जाती है। समाज में सब कुछ ठीक चलता हुआ नजर आता है, पर राज्यकर्त्ताओं को इस बात की निश्चिंति नहीं रह जाती कि वे और कब तक उसी प्रकार बने रहेंगे। एक बार ऐसे शान्त दिखाई देने वाले वातावरण में जरा-सा भी स्फोट हो गया कि बस हर व्यक्ति सोचने लगता है कि जो कुछ हाथ लगता है, उसे लो और भाग खड़े हो। सन् १९४५ में अंग्रेजों की भाँति संस्थानिकों को भी पक्का यकीन हो गया था कि अब भारत में अंग्रेज नहीं रहेंगे। अतः उनमें से बहुतेरे महानुभावों ने आने वाले २-३ बरसों में जितनी भी दौलत निजी बनायी जा सकती थी, उसे बना ली और जब अपनी सत्ता को तिलांजलि देने का मौका आया, तब देखा गया कि अनेकों का धन कोष एकदम खाली हो गया है। इतिहास का यह अनुभव है कि जब एक बार असंतोष एवं अन्याय के प्रति रोष लोगों के मन में जड़ें जमा लेता है, तब वह सिर्फ मौके की ताक में रहता है। सत्ताधारी तथा पूँजीपति लोग, कितनी भी कोशिश क्यों न करें, वह मौका टल नहीं सकता। सामोपचार से काम लिया जाता है, भेदोपचार से काम लिया जाता है, दण्डोपचार से काम लिया जाता है, अटल भविष्य को टालने की भरसक कोशिश की जाती है, पर पहाड़ की चोटी पर से नीचे लुढ़का हुआ पत्थर पहाड़ की तलहटी तक पहुँचे बिना नहीं रह पाता। सारे के सारे सत्ताधारी, सारे के सारे मालदार लोग अपनी प्रतिष्ठा के शिखर से सरकने के बाद सीधा तलहटी पर ही आकर के दम लेते हैं। इतिहास का यही सिद्धान्त है। कहीं-कहीं उन्हें कुछ सहूलियतें दी जाती हैं। कहीं काउंसिलें बनती हैं, कहीं द्विचक्र शासन-पद्धति रहती है, पर इन सहूलियतों के बावजूद भी उनका जो आखीर होना होता है, वह होके ही रहता है। सहूलियतों की राजनीति से अभीष्ट की सिद्धि कभी नहीं होती। उलटे इससे बहुजन समाज को यही अनुभूति होती है कि अब सत्ताधारियों के दिन फिर चुके हैं। बहुत दफा दूरदर्शी सत्ताधारी लोग बड़ी सूझ-बूझ से काम लेते हैं और उसके कारण उनका अन्त कुछ देर के लिए टल जाता है। नाटक के बीच जैसे कोई प्रहसन होता है, वैसा ही कुछ यहाँ भी होता है। पर उससे नाटक का

आगे होना नही रुकता। बहुत बार सत्ताधारी लोग नवीन विचारों का स्वागत करते हैं। पर उसके पीछे यही छिपा होता है कि उनके विचारों के ऊपर वे लोग जो हमला करना चाहते हैं, उसकी तैयारी के लिए ज्यादा समय उन्हें मिल जाए। अंग्रेजों ने भारत छोडने से पहले के ६० वर्षों में सब किस्म के प्रयोग करके देख लिए थे। पर अभ्यस्त राजनीतिज्ञ होने के कारण उन्होंने जो उनसे छीना जा रहा था, उस को स्वेच्छा से छोड़ दिया तथा पुण्य का सम्पादन किया। भारत के अनेक संस्थानिकों (देशी राजाओं) ने विरोध करने का प्रयत्न किया; पर अनेकों अंग्रेजों का उदाहरण आंखों के सामने रखकर आत्मसमर्पण कर दिया, यह भी सत्य है। इतिहास का अनुभव यह है कि सत्ताधारी लोग जहाँ तक बन पडता है, अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते। पर जब अनिवार्य हो जाता है तब छटाँक-छटाँक करके अपना सेर का माप पूरा करते हैं। तथा जब देखते हैं कि अब अंत आ ही पहुँचा है, तब जो कुछ बचा-खुचा रह गया है, उसे स्वीकार करने में ही अपनी खैर है, ऐसा समझ जाते हैं और तब वे समझ पाते हैं कि अपनी दुनियाँ का खात्मा कर देने मे ही स्वतन्त्रता की दुनियाँ का उदय है। स्वतन्त्रता का युद्ध जब एक बार छिड जाता है, तब यह अनेक पीढ़ियों तक उत्तराधिकार की भाँति पहुँचता रहता है। तथा इसमे सदेह नही कि युद्ध का पर्यवसान स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे होना है।

स्वतन्त्रता की लड़ाई के शुरू होने पर उसका अन्त सदा स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे होता है, यह इतिहास का सिद्धान्त ठीक है। तथापि स्वतन्त्रता के युद्ध के आरम्भ होते ही सत्ताधारी एव उनके साथियों अर्थात् मालदार लोगों के मन में डर पैदा हो जाता है। तथा जिस प्रकार कस को सब कहीं श्रीकृष्ण ही दिखाई देता था, वैसी ही अवस्था सत्ताधारियों की हो जाती है। तब उन्हें रामायण मे भी राजद्रोह दिखाई देने लग जाता है। सीधे सादे भजनों में भी उन्हें लगता है कि राजद्रोह का पाठ पढाया जा रहा है। 'कीचक-वध' नाटक का अभिनय उन्हें अपने ऊपर बीतने वाले प्रसगों का चित्र प्रतीत होता है। समाज में जरा सी खुलकर चर्चा होने लगी कि उनकी दृष्टि में राजद्रोह का प्रचार शुरू हो जाता है। कदम-कदम पर उनके मन रूपी घोड़े को संताजी घोरपड़े नजर आने लगते है। तब इन बड़े एवं मालदार लोगों को लगता है, ठाठें मारने वाले जनसमुद्र के इस असन्तोष को कोई दबा दे—कुचल दे। तब वे अपने सहायक सत्ताधारियों से आग्रह करते हैं कि वे इस आन्दोलन को दबा दें। सत्ता एव सम्पत्ति की एक दृष्टि से मिलीभगत होती है। फलस्वरूप एक कानून के जोर पर, तो दूसरा सामाजिक ताकत के जोर पर लूट-खसोट करना आरम्भ कर देता है। सत्ताधारी लोग कानून के मुताबिक हिंसा किया करते हैं तथा सम्पत्ति-शाली लोग प्रोपेगेंडा के साधन को काम मे लाकर समाज की शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। पर दोनों ही सत्य एव युक्ति से डरा करते हैं। किसी भी समाज में जब कुछ लोग खुल्लम-खुल्ला अत्याचार करने लगते हैं, तब उन्हे भी किन्ही तत्त्वों एव युक्तियों का आधार लेना पड़ता है। ईसपनीति की कथा में भेड़िये को भी मेमने को खाने से पहले उस पर पानी खराब करने का आरोप लगाना पडा। और जब यह आरोप साबित न हो सका तो उसे मेमने के बाप पर गाली देने का आरोप

करना पड़ा और तभी वह भेजने को मान गया। यही कुछ मनुष्य के बारे में भी सही है। मनुष्य कितना भी दुष्ट क्यों न हो, कितना भी तानाशाह क्यों न हो, फिर भी वह यह प्रयत्न किया करता है कि उसने जो कुछ कृत्य किया है, वह न्यायसंगत है। किसी भी कृत्य को करने के बाद उसे फटकार सुनाने वाली सदसद्विवेक बुद्धि को मनवाने की आवश्यकता महसूस होती है। अत जब हिंसा के सामने अहिंसा खड़ी हो जाती है, तब हिंसा की शक्ति घट जाती है तथा समय आने पर हिंसा शरणागति प्राप्त करती है। विरोधी पक्ष की युक्तियों को माना जाय तो अपने को सत्ता एवं सम्पत्ति पर उदक छोड़ना पड़ जायगा, ऐसा उनकी बुद्धि उन्हें कहती है। अत युक्ति अथवा विवेक को वे स्थान नहीं देते। उनके कान सुनने का किया को भूल जाते हैं। विरोधियों के युक्तिवाद के आगे घुटने टेककर उन्हें कुछ सहूलियत देने की सोचें तो उन्हें लगता है कि उनका दावा गलत है, ऐसी स्वीकारोक्ति देनी पड़ जायगी। युक्ति का सम्मान करने से यह सिद्ध हो जाएगा कि वे स्वयं असत्य का साथ देने वाले हैं। अत जब भी कोई उनके काम-काज अथवा वर्चस्व के सम्बन्ध में शंका प्रकट करता है, तब उसे समाज एवं राज्य का द्रोही कहकर ये सत्ताधारी एवं मालदार लोग उसका निर्मूलन करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। तब होता यह है कि राज्य हमें सुख एवं सुरक्षा प्रदान करने वाला है, यह श्रद्धा जनता के मन में से बड़ी तीव्र गति से उठ जाती है। जनता के वास्तविक सुखों एवं दुःखों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और यदि कभी ध्यान दिया भी गया तो उसपर विचार नहीं किया जाता। मिल के प्राण लेवा वातावरण में ८ घंटे काम करने के बाद मजदूर शरीर से तो थकता ही है, पर वहाँ उसके साथ जो सलूक किया जाता है, उससे उसका मन भी थक जाता है एवं उदास हो जाता है। ऐसी हालत में वह किसी 'चाल' की गंदी कोठरी में, १०-१५ की कोठरी में तीन जोड़ों के साथ अपना कुनबा चलाता है। मालिक लोगों को इसकी जानकारी नहीं होती और सरकार के प्रतिनिधि तो केवल १० बरस में एक बार केवल मर्दुमशुमारी के समय ही वहाँ जाते हैं। जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों को भी चुनाव के पहले वाले सप्ताह को छोड़ फुरसत ही नहीं मिलती। उनके नंगे-अधनंगे बच्चे रास्ते में घूमते-फिरते हैं। उनकी पढ़ाई-लिखाई का कोई इन्तजाम नहीं रहता। कहने का अभिप्राय यह कि बहुसंख्यक जनता के जीवन का अनुभव मालिक लोगों को तथा सत्ताधारियों को नहीं होता। पुराने इतिहास के ताम्रपट पर मौजूदा वक्त में सत्तारूढ़ बने रहने का अधिकार बताया जाता है। उसके विरुद्ध कुछ कहा सुना जाए तो कानून एवं सुव्यवस्था के नाम पर जनता की आवाज को कुचलने की कोशिश की जाती है। विषम समाज के इन दो राष्ट्रों—अर्थात् मालदार एवं गरीब वर्गों में रहने वाले लोग अलग-अलग दुनिया में रहते हैं और जब कभी वे एक जगह आते हैं तब ऊपर की दुनिया वाले लोग इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि उनकी इस्त्री वाले कपड़ों की क्रीज कहीं बिगड़ न जाए। दोनों की अभिरुचियों में भी बहुत अन्तर होता है। यदि एक वर्ग को बालगन्धर्व का नाटक पसन्द आता है तो दूसरे को पट्ठे बापूराव का तमाशा पसन्द आता है। एक को ललित एवं मधुर बोलने वाले नायकों से युक्त उपन्यास

अधिक अच्छे लगते हैं तो दूसरे को अभद्र बातों से भरी किताबें अधिक अच्छी लगती हैं। आचार-विचार एवं संस्कृति आदि सभी बातों में विरोध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मजदूरों की सभा में बोलने के लिए खड़ा हुआ वरिष्ठ वर्ग का समाज सत्तावादी कार्यकर्ता भी भिन्न प्रतीत होने लगता है। उसके हाव-भाव, उसकी भाषा भिन्न प्रतीत होती है। उसकी सहानुभूति भले ही बहुजन-समाज के प्रति उमड़ी पड़ती हो तो भी बहुत दफा उसके आँसू नक्राश्रु होते हैं। अधिक से अधिक न्याय प्रदान करने की भावना से कहूँ तो कहना होगा कि उसकी सहानुभूति बौद्धिक होती है पर उसमें आत्मीयता का पुट नहीं रह पाता। तात्पर्य यह कि दोनों दुनियाओं के लोग जब एक जगह आते हैं, तो वहाँ निश्चय से एकता उत्पन्न हो जाती हो, ऐसी बात नहीं है। केवल इसी भर से कि वे एक ही गाड़ी में सवार हैं, यथार्थ रूप में सहयात्री नहीं हो सकते। शरीर एक स्थान पर भले ही दीखें पर मनों के बीच का फासला दो ध्रुवों के बीच के फासले जितना होता है। बहुजन समाज किसी बात को जोर से कह कर पेश करे तो उसे धमकी माना जाता है। कोई बात पूरी ताकत से पेश की जाए तो वहाँ हिंसा की बू आने लगती है। और समाज में आर्थिक विषमता हो तो सामाजिक न्याय नहीं मिलता। सामाजिक न्याय के अभाव में समाज में अस्थिरता बनी रहती है। उसमें संतुलन नहीं रह जाता। और यदि कहीं सामाजिक न्याय प्रदान करने का दृश्य दिखाई भी दे तो भी जनता उसके भुलावे में नहीं आती। उलटे उसे यही लगता है कि इसमें प्रोपेगेंडे का कोई जहर भरा होगा। और इस सबका फल होता है वर्ग-संघर्ष का निर्माण और एक बार वर्ग-संघर्ष छिड़ गया कि फिर इस बात का भरोसा नहीं किया जा सकता कि दोनों पहलवान अहिंसा एवं वैधता के अखाड़े में रह कर ही कुश्ती लड़ेंगे। जिस समाज में जिन्दगी में होने वाली आमदनी तथा उसके लिए किये गये प्रयत्नों में कोई कार्यकारण भाव नहीं रहता वहाँ विफल हुए-हुए प्रयत्न, खण्डित हुए-हुए मनोरथ, पैरों तले रौंदी गई महत्त्वाकांक्षाएँ हिंसा का आश्रय लेती हैं। या तो न्याय्य वस्तु दी जाए या फिर हिंसा का सामना करने के लिए तैयार रहा जाय। इनके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं नजर आता। और जब न्याय से इनकार करने की क्रिया लगातार चलती चली जाती है तथा विनाश का तट समीप आने लग जाता है, तब सत्ताधारी एवं मालदार लोग बुझने के पहले जैसे दीया तेजी से भभकता है, उस प्रकार जो कुछ पास रह गया है, उसे और अधिक मजबूती से थामे रखने का आखिरी प्रयत्न किया जाता है। जलियान वाला बाग पहले होता है और तब कहीं युग का परिवर्तन नजर आता है। जैसे-जैसे सचाई एवं मुक्ति की जीत होती चली जाती है वैसे-वैसे पूँजीवादी हित-सम्बन्ध बिखरने लग जाते हैं और अन्त में सत्य विजयी होता है। उसके विजयी होने का अर्थ है स्वतन्त्रता का विजयी होना। स्वतन्त्रता के विजयी होने का अर्थ है समता का विजयी होना। मालदार एवं गरीब वर्गों में छिड़े युद्ध का पर्यवसान मालदार लोगों की पराजय में होता है। विनाश एवं सर्वनाश के बचने का एकमात्र उपाय यही है कि जिसका जो न्याय्य है, वह उसे दिया जाय। न्याय के साथ मुठभेड़ उसका उत्तर नहीं है। उसका उत्तर है आत्मसमर्पण। पर मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि अपनी मुट्ठी में

बन्द वस्तु को वह तब तक नही छोड़ता, जब तक उसका हाथ टूट नहीं जाता । न्याय के साथ झगडने मे कितना नुकसान है, इसकी जानकारी नही होती और जब जानकारी होती है, तब उनका सब कुछ लुट चुका होता है। चोटी उखड़े या बड़ की पारवी टूटे, इस दृढ निश्चय के साथ झगड़ने को तैयार होने वाले सत्ताधारी एवं सम्पत्तिशाली लोग ही शिक्षानष्ट हो जाते हैं, यही अब तक का अनुभव हमें बताता है।

स्वतन्त्रता एव सत्ता के बीच यदि लडाई छिड़ जाए तो अन्त मे सत्ता का पराभव हो जाता है, यह सही है, तो भी उस क्षण के आने तक के बीच के काल में स्वतन्त्रता पराभूत हुई नजर आती है, तानाशाही का भाव बढा हुआ नजर आता है। पहली लडाई के बाद का जर्मनी का इतिहास हमे बताता है कि वहाँ के लोगों ने लोक-राज्य की स्थापना की; परन्तु युद्ध के अनन्तर भी कुछ काल के लिए स्तब्ध एवं पराभूत हुआ-हुआ सत्ताधारी एव सम्पत्तिमान् वर्ग सिर ऊपर उठाने लगा, स्वतन्त्रता-वादी पक्ष एव सगठित मजदूर दल को जो कुछ करना चाहिए था, वह उन्होने नहीं किया । अन्त मे फल यह हुआ कैसरशाही की अपेक्षा भी अधिक स्वतन्त्रता का हनन करने वाली हिटलरशाही आई और कुछ काल पश्चात् हिटलरशाही का लोप हो गया । कुछ स्वतन्त्रता मिली; पर उसकी कीमत अभी तक जर्मन लोगो ने पूरी तरह चुकाई प्रतीत नही होती । तथापि १६वी-२०वी सदी के जगत् का इतिहास सामान्यतया यही प्रदर्शित करता है कि अन्त मे स्वतन्त्रतावादी जनता सफल होती है। १६वी सदी मे तथा २०वी सदी मे भी राष्ट्रवाद का विचार अधिक शक्तिशाली था। और राष्ट्रवाद एव स्वतन्त्रता की कल्पना को मिलाकर एक नई विचारधारा संसार भर मे फैल गई, तथा सभी कही राष्ट्रराज्य (नेशन-स्टेट) की माँग ने जोर पकड़ा। सामान्यतया यह विचार उत्तरोत्तर स्पष्ट होता गया कि स्वतन्त्रता की दृष्टि से राज्य एव राष्ट्र की मर्यादाएँ समान होनी चाहिएँ । इसी का यह अर्थ हुआ कि एक राज्य में एक सरकार के नीचे दो राष्ट्रो का बना रहना नैतिक दृष्टि से अनुचित है तथा इसी को साम्राज्यवाद का नाम दिया गया । एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर राज्य करना एक प्रकार से उस राष्ट्र को गुलामी मे रखना है। १६वी तथा २०वी सदी में भी यह राष्ट्र राज्य का स्वय निर्णय का आन्दोलन शक्तिशाली रूप से चल रहा था एव वह बहुत बडी मात्रा में सफल हो गया है, ऐसा नजर आता है। राष्ट्र एव स्वतन्त्रता की कल्पना मे से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता नामक एक चैतन्य युक्त भावना का उदय हुआ है । राष्ट्र का अर्थ यदि एकत्व एवं पृथक्त्व का मिश्रण किया जाए तो उचित होगा। हम आपस मे एक हैं पर अन्यो से भिन्न हैं। इन दोनों भावनाओं का मिश्रण राष्ट्रीय भावना मे है। ऐक्य एवं पार्थक्य के सगम में से राष्ट्र का तीर्थोदक उत्पन्न होता है और इसी भावना का परिणाम आज अफ्रीका महाद्वीप में भी दृष्टिगोचर हो रहा है। १६वी सदी मे जर्मन नामक एक राष्ट्र का निर्माण हुआ, इटली नामक राष्ट्र का निर्माण हुआ । एशिया के साम्राज्य मे से उत्तर की ओर अनेक देश बाहर निकले तथा ये राष्ट्र बन गए । पहले महायुद्ध के पश्चात् स्वय-निर्णय के तत्त्व के अनुसार अनेक छोटे-छोटे राष्ट्र यूरोप मे उत्पन्न हुए । २०वी सदी के आरम्भ में अंग्रेजी साम्राज्य के

कुछ विभाग औपनिवेशिक स्वायत्तता के सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न राष्ट्र बने और गत १० वर्षों में अर्थात् दूसरे महायुद्ध के अनन्तर भारत, पाकिस्तान तथा सीलोन स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदित हुए अर्थात् राष्ट्र राज्य बने। अफ्रीका में भी उल्लिखित रीत्या राष्ट्रवाद का वातावरण उत्पन्न हो चला है। साम्राज्यवाद अर्थात् पुराना साम्राज्यवाद बड़े वेग से नष्ट हो रहा है। किंबहुना, नष्ट किया जा रहा है। जिस प्रकार समुद्र-मन्थन से अमृत निकला था, उसी प्रकार पहले महायुद्ध से स्वयनिर्णय का सिद्धान्त निकला। तथापि दूसरे महायुद्ध तक यह अमृत मिलावट से खाली नहीं है, ऐसा अनुभव हुआ। क्योंकि स्वयनिर्णय से राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ, यही नहीं है, तो भी संसार में अशान्ति अधिक बढ़ गई। दूसरे महायुद्ध का कारण, लोग कहते हैं कि स्वयनिर्णय की मांग तथा राष्ट्र राज्य की महत्त्वाकांक्षा ही थी। लोगों का यह कहना एकदम गलत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फ्रेंच साम्राज्य के विनाश से उत्पन्न राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना समूची १६वीं सदी में प्रभावशाली रही। पहले महायुद्ध में उस भावना को स्वयनिर्णय का सहारा मिला। और उसमें से, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, अनेक छोटे-छोटे राष्ट्र-राज्य उत्पन्न हुए तथा राजनैतिक चित्रपट पर उनका उपयोग पाद्य के समान किया गया। पहले महायुद्ध से स्वयंनिर्णय का उदय हुआ तथा स्वयनिर्णय में से दूसरे महायुद्ध का जन्म हुआ। संसार में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अब एक प्रचण्ड शक्ति बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच की घटनाओं का निर्माण करने वाली तथा उसका नियमन करने वाली दुहरी शक्ति बन गई है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की कल्पना में राष्ट्र तथा स्वतन्त्रता ये दो कल्पनाएँ आती हैं। स्वतन्त्रता के अर्थ एवं आशय का विवरण इस ग्रन्थ में पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है। व्यक्ति एवं स्वतन्त्रता का राज्य से जो सम्बन्ध होता है, वैसा ही कुछ सम्बन्ध राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के बीच में होता है। राष्ट्र अन्ततोगत्वा एक भावना है। उस भावना का वर्णन किया जा सकेगा पर सर्वथा तर्कशुद्ध व्याख्या करना कठिन है। राज्य का एवं राज्य विषयक कल्पना के विकास का ऊहापोह एवं विस्तृत विवरण प्रस्तुत लेखक के 'राज्य शास्त्र विचार' नामक ग्रन्थ में किया गया है। तथापि यहाँ उसका संक्षेप में वर्णन करना अभीष्ट होगा। राष्ट्र एक मानसिक भावना है और उद्गम भी मानसिक परिस्थिति में से ही हुआ है। मैं भारतीय हूँ, मैं महाराष्ट्रीय हूँ, इस भावना में जो-जो बातें अन्तर्भूत होती हैं, उनकी पूरी जानकारी मुझे होती है। मैं भारतीय हूँ तथा ऋग्वेद से लेकर कालिदास तक जो कुछ भी रचा गया है, गाया गया है, उन सबके बारे में विद्यमान आत्मीयता इस भावना में मौजूद रहती है। राष्ट्र की भावना के साथ ही प्रादेशिक भावना की कल्पना भी मन में आती है, यह सच है। तथापि प्राचीन काल में इस भावना के भीतर सब कहीं प्रादेशिकता का अन्तर्भाव नहीं होता था, यह ऐतिहासिक सत्य है। लोग उन दिनों स्थिर नहीं हुए थे और जीविका के लिए उन्हें निरन्तर टोलियाँ बना कर घूमना पड़ता था। प्रत्येक टोली में एकता की भावना रहती थी। अर्थात् एक दृष्टि से राष्ट्र की भावना थी। वह टोली किस प्रकार बनी यह देखना भी महत्त्वपूर्ण

राज्य के क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर उसका कानूनी अधिकार होता है। नागरिक के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त, चालू सम्पत्ति से लेकर मृत्यु के बाद छोड़ी गई सम्पत्ति तक, सब बातों पर राज्य का अधिकार माना जाता है। राज्य यदि नागरिकों के जीवन एवं वित्त पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दे तो उसे अनुमति रहती है। अन्य किसी से उसके लिए अनुमति मांगने की जरूरत नहीं रहती। अपने उद्देश्य तथा ध्येय क्या हों, उनको कार्यरूप में परिणत करने के साधन क्या हों, राज्य का संरक्षण एवं संवर्धन किस प्रकार किया जाए, कार्यपालन की व्यवस्था क्या हो, इत्यादि बातों को निश्चित करने का अधिकार उसी का है। अन्य किसी के प्रति वह उत्तरदायी नहीं है। राज्य में किसे आने दिया जाए, किस माल का आयात या निर्यात किया जाए, इस बारे में राज्य को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं होती। न्याय, सजा, पढ़ाई-लिखाई, आदि की व्यवस्था करने—संक्षेप में अपने प्रादेशिक क्षेत्र में जो भी मे आये करने की पूरी छूट प्रभुत्व सम्पन्न राज्य को प्राप्त है। प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का कानून की दृष्टि में अर्थ है—सब प्रकार की सत्ताओं से मुक्त होना। राज्य यदि जगत् के तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कुछ गलत काम कर बैठे, ऐसा कोई प्रयोग कर बैठे, जो दुनिया में कभी किया नहीं गया, तो भी कानून की दृष्टि से वह सब राज्य के अधिकारक्षेत्र में आता है। अधिकार में रहते हुए कोई काम किया गया तो उसका यह अर्थ नहीं कि न्याय्य या अभीष्ट कार्य ही किया गया है। यदि राज्य संस्था के इतिहास को देखें तो हमें पता चलेगा कि राज्य ने अनेक बार अन्याय के कानून एवं कृत्य किए हैं। निःसन्देह इस बात का दावा किया जाता है कि राज्य हमेशा राज्य के कल्याण का ही काम किया करता है। जो बात व्यक्ति के लिए अन्याय की सिद्ध होती है, वह राज्य के लिए अन्याय की बात नहीं हो सकती, यह स्पष्ट है। व्यक्ति के जीवन के लिए लागू होने वाले नैतिक आदर्श राज्य के जीवन के लिए लागू नहीं हो सकते। वे अप्रस्तुत एवं अधूरे साबित होते हैं। राष्ट्र जब राज्य होता है, तब राष्ट्र के सारे व्यक्तिगत नागरिकों के जीवन की केवल शक्ति का वह योग मात्र नहीं होता। उसकी अपेक्षा अधिक शक्ति राज्य को प्राप्त होती रहती है। जब चार व्यक्ति एकत्र आते हैं, तब वह सिर्फ योग [+] नहीं रह जाता, संगठन हो जाने के कारण वहाँ गुणा [×] होता है। व्यक्तिगत धैर्य का जोड़ और घटा तो वहाँ रहता ही है पर उसके साथ ही संगठन का भी धैर्य वहाँ रहता है। सामान्य जीवन में भी घबराने वाले व्यक्ति यदि चार लोगों के समूह में चले जाएँ तो उनमें धैर्य विराजने लगता है, इसका रहस्य एकदम साफ है। इसी के साथ व्यक्ति की अस्मिता, अहंभाव, अभिमान आदि सारी बातों का भी व्यक्ति जब समष्टि रूप में आता है, तब गुणा [×] हो जाता है। एक व्यक्ति एवं दूसरे व्यक्ति के बीच जो पृथक् भाव होता है, वह राष्ट्र के होने में और अधिक स्पष्ट होता जाता है तथा राष्ट्र के राज्य बन जाने पर उस पृथग्भाव को एक कानूनी रूप प्राप्त हो जाता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। यह पृथग्भाव राष्ट्रीय भावना के मूल में होता है। अथवा जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह भाव ही उसका मुख्य लक्षण होता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो नैतिक आदर्श प्रभावशाली होते हैं, वे निःसन्देह राष्ट्रीय

होगा। सम्भव है कि वे एक ही परिवार के लोग हो, या अन्य किसी कारण से वे एकत्र आये हो, या वे एक ही भाषा बोलने वाले हो। तथापि ज्ञात काल से इतना मालूम है कि ये टोलियाँ, ये जनसघ अस्तित्व में आए हुए है। वंश, भाषा, समान नेतृत्व आदि बातो के होने भर से राष्ट्र की भावना उत्पन्न हो जाती है ऐसा कहना ठीक नही। यह तो होना ही चाहिए। पर इसके साथ-साथ कुछ और भी होना चाहिए। वह केवल आधिभौतिक नही होना चाहिए आध्यात्मिक भी होना चाहिए। एक भाषा बोलने वाले लोगो के अनेक राष्ट्र है। एक ही वंश के लोगो के अनेक राष्ट्र हैं। एक ही राजकीय अनुशासन में रहने वाले अनेक राज्य है। समान परम्परा, समान पराक्रम, तथा एक साथ मिल-जुलकर भोगे गये सुख-दुःख आदि सब बातें राष्ट्र की भावना की मदद करने वाली तथा समर्थन करने वाली होती है, यह सही है तथापि मानव का ऐतिहासिक उन्नति से सम्बन्धित अस्थिरता से लेकर स्थिरता तक 'चरैवेति' वृत्ति से लेकर अचल स्थिति की घटना तक जो प्रवास हुआ है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। घुमन्तू टोलियाँ पहले पैदल घूमा करती थी। बाद में वाहनों का युग शुरू हुआ। गधे, घोडे, ऊँट आदि साधनो को काम में लाया जाने लगा। उसके बाद रथो एव गाडियो का उपयोग होने लगा। इस उन्नति के साथ-साथ कही जमीन में पैदा हुए अन्न-धान्य का पता चला और कुछ टोलियाँ वहा रहने लग गई। बस्ती होने के साथ-साथ वस्तु की भावना भी उत्पन्न हुई। तब वह क्षेत्र सबका न रहकर कुछ खास लोगो का हो गया। तथा सामुदायिक मिलकियत का भाव वहाँ काम करने लगा। अपनी टोली से बाहर के लोग अपने से अलग है, यह भाव उत्पन्न हुआ और तब झगडे हुए, लडाइयाँ हुई, भूमि का कुछ भाग पराक्रम का हिस्सा हो गया। जहाँ लोग लडे और उन्होने विजय प्राप्त की, वे स्थान, पूजा-स्थान एव पवित्र-स्थान हो गए। जहाँ पूर्वज लोग धारातीर्थ में पडे थे, वे स्थान तीर्थ बन गए, श्रद्धा-स्थान बन गए और तब टोली के राष्ट्र-विषयक अध्यात्म-भाव के लिए वह भूमि आधिभौतिक भाग बन गई। उसके देह और आत्मा ये दो रूप हो गए। तब राष्ट्र एक निश्चित प्रदेश हो गया, जिसमें वे लोग रहने लगे जो अपने को एक एव अन्यो से भिन्न मानते थे। राष्ट्र की भावना में आत्मीयता के साथ ही पृथक्त्व का भाव भी रहता है। किबहुना, पृथक्त्व की भावना से ही राष्ट्र का लक्षण स्पष्ट हो जाता है। अपनी भूमि निश्चित हो जाने के बाद, उस पर जो कोई आक्रमण करता है, उसका डटकर मुकाबला किया जाता है। इसी कल्पना का विकास होता चला गया तथा आज सारे जगत् में राजनीति की रचना राष्ट्र राज्य के तत्व के अनुसार ही हुई है।

१९वी सदी के आरम्भ तक हर राष्ट्र स्वतन्त्र राज्य था, ऐसी बात नही। पर प्रत्येक राष्ट्र को स्वतन्त्र राज्य होने का जन्मसिद्ध अधिकार है, ऐसा थोड़ा सा विचार १९वी सदी के आखीर-आखीर में यूरोप के राजनैतिक तत्वज्ञान में समाविष्ट हो चुका था। इसका अर्थ है अपने आप में स्वतन्त्र एव प्रभुत्व-सम्पन्न सगठन होना। प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का अर्थ है अपने क्षेत्र में एकमात्र उसीका सत्ताधारी होना। उसकी आज्ञा का उल्लघन दण्डनीय कृत्य सिद्ध होता है। सजा का पात्र सिद्ध होता है।

राज्य के क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर उसका कानूनी अधिकार होता है। नागरिक के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त, चालू सम्पत्ति से लेकर मृत्यु के बाद छोड़ी गई सम्पत्ति तक, सब बातों पर राज्य का अधिकार माना जाता है। राज्य यदि नागरिकों के जीवन एवं वित्त पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दे तो उसे अनुमति रहती है। अन्य किसी से उसके लिए अनुमति माँगने की जरूरत नहीं रहती। अपने उद्देश्य तथा ध्येय क्या हों, उनको कार्यरूप में परिणत करने के साधन क्या हों, राज्य का संरक्षण एवं संवर्धन किस प्रकार किया जाए, कार्यपालन की व्यवस्था क्या हो, इत्यादि बातों को निश्चित करने का अधिकार उसी का है। अन्य किसी के प्रति वह उत्तरदायी नहीं है। राज्य में किसे आने दिया जाए, किस माल का आयात या निर्यात किया जाए, इस बारे में राज्य को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं होती। न्याय, सजा, पढ़ाई-लिखाई, आदि की व्यवस्था करने—संक्षेप में अपने प्रादेशिक क्षेत्र में जो जी में आये करने की पूरी छूट प्रभुत्व सम्पन्न राज्य को प्राप्त है। प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का कानून की दृष्टि से अर्थ है—सब प्रकार की सत्ताओं से मुक्त होना। राज्य यदि जगत् के तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कुछ गलत काम कर बैठे, ऐसा कोई प्रयोग कर बैठे, जो दुनियाँ में कभी किया नहीं गया, तो भी कानून की दृष्टि से वह सब राज्य के अधिकारक्षेत्र में आता है। अधिकार में रहते हुए कोई काम किया गया तो उसका यह अर्थ नहीं कि न्याय्य या अभीष्ट कार्य ही किया गया है। यदि राज्य संस्था के इतिहास को देखें तो हमें पता चलेगा कि राज्य ने अनेक बार अन्याय के कानून एवं कृत्य किए हैं। निःसन्देह इस बात का दावा किया जाता है कि राज्य हमेशा राज्य के कल्याण का ही काम किया करता है। जो बात व्यक्ति के लिए अन्याय की सिद्ध होती है, वह राज्य के लिए अन्याय की बात नहीं हो सकती, यह स्पष्ट है। व्यक्ति के जीवन के लिए लागू होने वाले नैतिक आदर्श राज्य के जीवन के लिए लागू नहीं हो सकते। वे अप्रस्तुत एवं अधूरे साबित होते हैं। राष्ट्र जब राज्य होता है, तब राष्ट्र के सारे व्यक्तिगत नागरिकों के जीवन की केवल शक्ति का वह योग मात्र नहीं होता। उसकी अपेक्षा अधिक शक्ति राज्य को प्राप्त होती रहती है। जब चार व्यक्ति एकत्र आते हैं, तब वह सिर्फ योग [+] नहीं रह जाता, संगठन हो जाने के कारण वहाँ गुणा [×] होता है। व्यक्तिगत धैर्य का जोड़ और घटा तो वहाँ रहता ही है पर उसके साथ ही संगठन का भी धैर्य वहाँ रहता है। सामान्य जीवन में भी घबराने वाले व्यक्ति यदि चार लोगों के समूह में चले जाएँ तो उनमें धैर्य विराजने लगता है, इसका रहस्य एकदम साफ है। इसी के साथ व्यक्ति की अस्मिता, महद्भाव, अभिमान आदि सारी बातों का भी व्यक्ति जब समष्टि रूप में आता है, तब गुणा [×] हो जाता है। एक व्यक्ति एवं दूसरे व्यक्ति के बीच जो पृथक् भाव होता है, वह राष्ट्र के होने में और अधिक स्पष्ट होता जाता है तथा राष्ट्र के राज्य बन जाने पर उस पृथग्भाव को एक कानूनी रूप प्राप्त हो जाता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। यह पृथग्भाव राष्ट्रीय भावना के मूल में होता है। अथवा जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह भाव ही उसका मुख्य लक्षण होता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो नैतिक आदर्श प्रभावशाली होते हैं, वे निःसन्देह राष्ट्रीय

जीवनगत नैतिक आदर्शों की तुलना मे घटिया दर्जे के होते हैं। एक व्यक्ति यदि दूसरे व्यक्ति को मार डाले तो वह हत्या का अपराध हो जाता है। पर यदि हजारो व्यक्ति हजारों व्यक्तियो को मार डालें तो उसे युद्ध की सज्ञा दी जाती है। जब दो राज्यों मे आपस मे लडाई छिड जाती है तो वैयक्तिक झगडों मे उत्पन्न होने वाले रोष की अपेक्षा कई गुना अधिक रोष जनता प्रदर्शित किया करती है और युद्ध का फल पराजित राष्ट्रो की जनता की स्वतन्त्रता के अपहरण के रूप मे परिणत होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी नियन्त्रण रखा जाए। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ कानून के अनुकूल रहने वाली स्वतन्त्रता किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे जो स्वतन्त्रता हर राज्य के उपभोग के लिए रहती है, उस पर भी कुछ नियन्त्रण जगत् की शान्ति की दृष्टि से अवश्य होना चाहिए और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता रहती है। और इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का महत्त्व हुआ करता है। किबहुना, यह कहना अधिक उचित होगा कि जब जगत् के सारे राज्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मानने के लिए तैयार होगे तभी उनकी अपनी स्वतन्त्रता सार्थक एव प्रभावशाली हो सकेगी।

राज्य की सत्ता अमर्याद है। तथापि राज्य का स्वरूप एव गौरव इस बात पर निर्भर करता है कि उस सत्ता का उपयोग किस तरह किया जाता है। वह यदि किन्ही खास व्यक्तियों, गुटो या वर्गों के हित के लिए उसका उपयोग करेगा, तो देश मे सामाजिक शाति नही रह जाएगी, यह हम पहले कह आए हैं। आज की दुनियाँ मे मालदार वर्ग अपने काम का जाल केवल देश मे ही नही, परदेश मे भी फैलाया करता है। पहले व्यापार पहुँचता है, पीछे मे सत्ता पहुँचती है। पहले तराजू पहुँचती है तब तलवार पहुँचती है। कम-से-कम भारत के लिए तो यह अनुभव जाना पहचाना है। देश की सरकार मालदार लोगो के इशारे पर काम किया करती है। तथा तब मालदार लोगो की प्रतिष्ठा राज्य की प्रतिष्ठा हो जाती है। साहूकार या मालिक के अपमान को जिस प्रकार काश्तकार लोग अपना अपमान मान बैठते है, उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय जगत् मे पूँजीपतियो का अपमान हो जाए या उनके साथ कुछ अन्याय हो जाए तो उसे राष्ट्र का अपमान मानकर राज्यसत्ता पूँजीपतियो की सहायता के लिए दौडी-दौडी जाती है। ईस्ट इडिया कम्पनी की कोठियों की रक्षा के लिए अग्रेजो राज्य की पलटनें यहाँ आई। दक्षिण अफ्रीका मे सोने की खानो के मालिक मालदार अग्रेज लोग थे। इस कारण अग्रेजो की सेनाएँ उनकी रक्षा के लिए अफ्रीका में गई। आज भी दक्षिण अमेरिकी राज्यो में यूनाइटेड स्टेट के पूँजीपतियों की सहायता के लिए यूनाइटेड स्टेट की सरकार दौडी-दौडी जाती है। पूँजी चाहे तेल के उद्योग मे लगी हो, या फौलाद के उद्योग मे या चाय के बागानो मे, एक बात साफ है कि अपने देश की पूँजी जब दूसरे देश मे जाती है, तब राज्य उसकी रक्षा का भार अपने सिर पर ले लेता है। कभी-कभी यह बात जाहिर नही रहती फिर भी पूँजीपतियो को इस बात का पूरा यकीन होता है कि उनके देश की

सरकार उनका साथ जरूर देगी और जब अनेक पराये देशों में अपनी आर्थिक पकड़ को मजबूत करने के लिए राजकीय सत्ता दौड़ कर पहुँचती है, तब वहाँ साम्राज्यवाद स्थापित हो जाता है और तब पिछड़े हुए प्रदेश एवं पिछड़े राष्ट्र पूँजीवादी प्रभावशाली राष्ट्रों के गुलाम हो जाते हैं। अधिक उन्नत राष्ट्र के पूँजी लगाने के कारण पिछड़े देशों की कुछ उन्नति जरूर होती है तथापि उसके राजनैतिक परिणाम अच्छे नहीं होते। कानून एवं व्यवस्था के सुधरने पर भी, रहन-सहन का दर्जा बढ़ जाने पर भी चरित्र पतनोन्मुख हो जाता है, एवं उत्तरदायिता की प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। दूसरी ओर पूँजी लगाने वाले देश की अमर्याद आर्थिक उन्नति होती है। १८वीं सदी में भारत की सम्पत्ति इग्लैण्ड में पहुँची और उसके बल पर इंग्लैण्ड की पूँजी एवं उद्योग बढ़े। किंबहुना, इग्लैण्ड में १९वीं सदी में जो आर्थिक सम्पन्नता दृष्टिगत होती थी, वह भारतीय सम्पत्ति का ही फल था। फिलीपाईन एवं दक्षिण अमेरिकी संस्थानों का अमरीका ने जो शोषण किया था वही अमरीका की समृद्धि का कारण बना। आर्थिक पंजे में आने वाले राष्ट्रों की थोड़ी बहुत आर्थिक उन्नति होती है, पर उनका आदर्श क्षयोन्मुख हो जाता है। राज्य कितना भी अच्छा राज्य क्यों न हो, उसे स्वराज्य की प्रतिष्ठा कभी प्राप्त नहीं हो सकती। स्वराज्य का अर्थ है आत्मविश्वास। उससे नागरिकों के रचनात्मक कर्तृत्व को एक प्रकार का उत्तेजन प्राप्त होता है। स्वराज्य का अर्थ जहाँ गलती करने का अधिकार है, वहाँ अपनी गलती को सुधारने की उत्तरदायिता भी है। कोई भी राज्य प्रजा के संतोष की नोक पर ही खड़ा हुआ करता है और यदि प्रजा को यह अनुभव हो जाए कि राज्य के कार्यकलापों में उसकी अनुभूतियों का कोई स्थान नहीं है, तो वह अप्रसन्न हो जाती है। जिन कानूनों एवं व्यवस्थाओं का अनुभव उन्हें प्राप्त करना पड़ता है, वे उनकी अनुभूतियों के लिए विसगत हो जाते हैं। किंबहुना, प्रकृति का विचार किए बिना चिकित्सा करने के लिए जैसे कोई किसी पेटेंट दवा का सेवन करता है, उसी प्रकार का व्यवहार यहाँ भी नजर आता है और जहाँ राज्यकर्त्ता एवं प्रजा एक ही समाज के घटक नहीं होते, एक संस्कृति के उत्तराधिकारी नहीं होते, वहाँ उत्पन्न होने वाला प्रारम्भिक स्वल्प का असंतोष अतिशीघ्र तीव्र हो उठता है। विदेशी सत्ताधारी लोग साम, दाम, दण्ड एवं भेद इन चारों उपायों को काम में लाते हैं। भीति के वातावरण में बने रहने के कारण अपनी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग करने की ओर उनकी प्रवृत्ति होती है। जनता का समर्थन प्राप्त न होने के कारण उस राज्य सत्ता के लिए दमनचक्र के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता। अतएव विश्वशांति की स्थापना की दृष्टि से साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं पिछड़ों को उन्नत बनाने के हेतु तथाकथित उन्नतिवाद आदि सब निरुपयोगी साबित होते हैं।

राष्ट्रराज्य हो जाने के कारण वहाँ का पूँजीवादी वर्ग अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चला जाता है और तब वह अपने स्वार्थ के लिए अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा को दाँव पर लगाता है। अतः यदि हम चाहते हैं कि विश्वशांति बनी रहे तो राष्ट्रराज्य की शक्ति एवं अधिकार पर अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से कुछ अंकुश अवश्य होना चाहिए।

ससार के लोगो को जिस शान्ति, सभ्यता एव सस्कृति की सामान्यतया कामना रहती है, उसको बनाए रखने के लिए प्रत्येक राष्ट्रराज्य पर नियंत्रण होना चाहिए और जिस क्षेत्र मे एकाधिक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य हों, वहाँ किसी एक राज्य की ओर से फतवा जारी नही होने देना चाहिए। वैसा यदि हो जाए तो वह राष्ट्र साम्राज्य न भी हो, तो भी उसकी वृत्ति साम्राज्यवादी अवश्य हो जाती है। आज की दुनियाँ मे राज्यो की स्वतन्त्रता को बनाये रखते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के खातिर आवश्यक ऐक्य एव हितैक्य को सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति एव समाज के हितो के बीच सघर्ष हो जाने पर समाज के हित को प्रमुख समझा जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय हित एव राष्ट्रराज्य के हित मे सघर्ष हो जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय हित को प्रमुख समझा जाना चाहिए। विश्व की आवश्यकता को राज्य की आवश्यकता की तुलना मे अधिक प्रमुख समझा जाना चाहिए। यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे कुछ विवाद उपस्थित करे तो अन्यो को उसका न्याय करने के लिए आगे आना चाहिए। विचार-विनिमय एव शान्तिमय उपायो से उन सवालो को हल किया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से उचित है। राज्यो के बीच उत्पन्न होने वाले विवाद कई प्रकार के होते हैं। दो राज्यो के बीच की सीमा को निश्चित करना बहुत जरूरी है। अधिकार की सीमावाला प्रदेश राज्य का एक मुख्य लक्षण है। इस प्रकार के राज्य की सीमा का इकतर्फा निर्धारण काम नही आता। दूसरे सम्बन्धित राज्य से विचारविमर्श करके ही यह काम किया जाना चाहिए। आजकल की दुनियाँ मे यातायात् के साधनो के क्षेत्र मे इत्ती प्रगति हो गई है कि विभिन्न देशो एव विभिन्न महाद्वीपो के बीच का अन्तर अर्थहीन हो गया है। अनेक स्वतन्त्र राज्यो के रहते हुए भी अवस्था यह है कि विश्व की सारी प्रजा मे एक प्रकार की जागतिक एकत्व की भावना काम करने लग गई है। विनोबा जी की 'जय जगत्' की घोषणा विद्यमान परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप एव विश्व के भविष्य की दृष्टि से सर्वथा अर्थपूर्ण है। आज दुनियाँ के किसी भी कोने मे कोई 'खुटक' हो जाए, सारी दुनियाँ मे उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठती है। कोरिया मे लडाई हुई और पूना मे महँगाई हो गई। इन दोनो घटनाओ मे ऊपरी तौर से कोई कार्य-कारण भाव न भी नजर आए तो भी वह है निश्चित। और जैसे मुहल्ले मे गडबड हो जाने से हर एक घर-मालिक सावधान हो जाता है, उसी प्रकार आज के विश्व की स्थिति है। व्यक्तिगत राष्ट्र के सारे व्यवहार बहुत बडे पैमाने पर एक दूसरे पर अवलम्बित रहते है। आज यदि कोई राष्ट्र अलिप्त रहना भी चाहे, तो भी नहीं रह सकता। उसकी इच्छा हो या न हो, अपने झगडो मे उसे पडना ही पडता है। यू० एन० ओ० की चावडी मे बैठना ही पडता है। चौधरीगीरी करनी पडती है। एव शांति बनाए रखने के लिए विवादो को निपटाने की कोशिश करनी ही पडती है। उसमे भाग लेना ही पडता है। कोई राष्ट्र सम्बन्ध-विच्छेद करना भी चाहे तो नही कर सकता। विश्व की शांति मे प्रत्येक राष्ट्र की सुरक्षा निहित है। विश्व की राजनीति मे सन्तुलन रहे, तो उसकी अपनी राजनीति मे भी सन्तुलन बना रह सकेगा। आज

हर राष्ट्र जो भी कुछ करता है, उसका असर सूक्ष्मरीति से क्यों न हो, विश्व के सभी राष्ट्रों पर पड़ता है। इंग्लैण्ड में किस दल की जीत हुई, अमेरिका में किस दल का प्रेसिडेंट चुना गया, चीन के राजनैतिक दलों में क्या हो रहा है, क्रुश्चेव का स्थान अटल है या नहीं, आदि सब बातों का प्रभाव सिर्फ सम्बन्धित राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहता। केरल में साम्यवादी पक्ष सत्ताधीश बना। इसका अर्थ कई लोगों ने यह किया कि चुनाव के मार्ग से साम्यवाद के विजय की आशा है। अवैध मार्ग से तथा असंसदीय साधनों से उस सरकार को अपदस्थ किया गया। इस घटना का असर केवल हिन्दुस्तान की राजनीति पर ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं, वरन् किसी-न-किसी अंश में अन्य राष्ट्रों की राजनीति पर भी उसका असर हुआ है। अफ्रीका में काले अफ्रीकियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, इस बात का असर विश्व की राजनीति पर हुआ है। अमेरिका में नीग्रो लोगों को अभी तक समान अधिकार नहीं दिए जाते। इसका असर केवल अमेरिकी चुनावों तक ही सीमित नहीं रह गया है। हर राष्ट्र का घरेलू झगड़ा भी आज विश्व के चौराहे पर चर्चित होता है। यदि कोई किसी नए शस्त्र या अस्त्र का आविष्कार करे तो उसका असर अन्य राष्ट्रों पर होता है तथा अधिक विनाशकारी शस्त्रों के निर्माण की होड़ लग जाती है और उससे सारे विश्व में खतरनाक हालत पैदा हो जाती है। सीधे-सादे क्षेत्रों की भी आज यही हालत है। अतः इन बातों से एक राष्ट्र का नहीं, कई राष्ट्रों का सम्बन्ध आता है। इन मामलों में कुछ-न-कुछ नियन्त्रण एवं सामुदायिक मार्ग-दर्शन अवश्य होना चाहिए। यदि विवाद केवल दो राष्ट्रों के बीच हो तो उचित यह होगा कि वे दोनों आपस में मिलजुल कर शान्तिपूर्वक कोई सुलह-समझौता कर लें। पर यदि ऐसा न हो तो उस अवस्था में जो आग सुलगेगी, वह उन दो राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रह सकेगी। राह चलते दो आदमियों में कोई फसाद हो जाए तो कुछ लोग वहाँ जमा हो जाते हैं। कुछ इस पक्ष के तो कुछ उस पक्ष के और तब दंगा शुरू हो जाता है। दुकानें बन्द हो जाती हैं। लोक-व्यवहार स्तब्ध हो जाता है। लगभग यही कुछ तब होता है, जब दो राष्ट्रों में झगड़ा शुरू हो जाता है। अतः जिन बातों में लोगों के अधिक हित सम्बन्ध निगड़ित नहीं होते, उन बातों में सारे विश्व के लिए एकसूत्रता लाई जानी चाहिए। एक नीति होनी चाहिए। इस बात को कोई नामंजूर नहीं करेगा। अफीम, चरस आदि का नियमन, यातायात का नियमन, महामारी का नियमन, तथा मजदूरों से सम्बन्धित नीति आदि बातों में पर्याप्त सहयोग आधुनिक विश्व के अनेक राष्ट्रों के बीच बना हुआ है। व्यापार-विषयक क्षेत्र में भी कुछ प्रथाएँ एवं व्यवस्थाएँ अब सर्वसम्मत हो चुकी हैं। यही नहीं, अन्न-धान्य के बारे में भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ निर्माण हो चुकी हैं। तथा एक दृष्टि से इस क्षेत्र के द्वारा समूचे विश्व का नियमन किया जाता है। गेहूँ, चावल तथा दवाइयों की सप्लाई के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ निर्माण हो चुकी हैं तथा किन्हीं विशेष नियमों के अनुसार उनका काम चलता है। यही नहीं संसार में पूँजी के वितरण की दृष्टि से भी 'वर्ल्ड बैंक ऑफ मॉनीटरी फंड' सरीखी संस्थाएँ अस्तित्व में आ चुकी हैं। विश्व में अब पहले जैसी आर्थिक एवं व्यापार-विषयक परिस्थिति नहीं रह गई है। इन दोनों क्षेत्रों में कुछ नियम काम में

लाए जाते हैं तथा 'कटथ्रोट कम्पिटीशन' अब पर्याप्त कम हो गए है। तात्पर्य यह कि अनेक क्षेत्रों मे विभिन्न राष्ट्रों के बीच हितैक्य निर्माण हो जाने के कारण शान्ति भग करने वाली अनेक बाते लुप्त हो गई हैं और यह सब इसलिए हुआ कि व्यक्तिगत राष्ट्रों या राज्यो ने स्वेच्छा से जागतिक नियमनो एव नियन्त्रणो को स्वीकार किया है।

गत आधी सदी मे जो दो महायुद्ध हुए तथा जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए—रचनात्मक तथा विनाशात्मक दोनो प्रकार के—उनके कारण हर राष्ट्र का विश्व-सम्बन्धी दृष्टिकोण बदल गया है। एक दृष्टि मे सारा विश्व एक हो गया है। अतः किसी खास देश की उन्नति मे विश्व के लिए खतरा पैदा हो जाता है। विश्वशान्ति तथा विश्व-प्रतिष्ठा के लिए विश्व के सारे देशो की उन्नति होना जरूरी है। सारे विश्व की उन्नति के लिए किसी एक शास्त्र, एक नियन्त्रण तथा एक नियामक की आवश्यकता होगी। कोई बात दुनियाँ के भले के लिए है या बुरे के लिए, इसे निश्चित करने के लिए एक सर्वोच्च सत्ता का होना बहुत जरूरी है और आधुनिक विश्व मे स्वभावत ऐसी सत्ता का स्वरूप सस्था या सगठन ही हो सकता है। संसार का यह शास्ता या नियन्त्रक धर्मोपदेशक की तरह का हो, तो उससे काम नही चल सकता। केवल लाभ की कुछ बातें कहने वाले का सा उसका रूप नही होना चाहिए। निर्णय देने तथा उस पर अमल करवाने वाला यह सगठन हो तो उसके लिए सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रो को अपनी प्रभुता मे कुछ कमी तो करवानी होगी ही। जिस प्रकार समाज का अग बनने के बाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुछ सकुचित हो जाती है, उसी प्रकार स्वतन्त्र राष्ट्रों का नियमन करने वाले जागतिक सगठन का अग बनने के बाद राष्ट्रों को भी अपनी स्वतन्त्रता को कुछ सकुचित करवाना होगा। इस प्रकार के जागतिक सगठन तभी सार्वभौम एव कार्यक्षम हो सकते हैं, जब उसका अग बने हुए सब स्वतन्त्र राज्य अपने प्रभुत्व का कुछ अश उस सगठन को दे डालें। मध्य-युगीन राज्यस्वतन्त्रता की कल्पना कभी की नामशेष हो चुकी है। उन्नीसवी सदी की राज्यस्वतन्त्रता की कल्पना अधूरी एव अप्रस्तुत है। आज के युग मे अगर किसी भी राज्य की स्वतन्त्रता को सार्थक होना है, तो उसे अपनी स्वतन्त्रता पर थोड़े बहुत अकुश तथा जागतिक शासन को स्वीकार करना ही होगा। यदि कोई राष्ट्र विश्व की सर्वोच्च सत्ता की बात को मानने से इनकार करने लगे तो उसे बड़ी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। आज दक्षिण अफ्रीका के राज्य की यही हालत है। आज यदि कोई स्वतन्त्र राज्य प्रतिष्ठा के सवाल को लेकर हठवादिता से काम लेने लगे, तो उसका यह आचरण अदूरदर्शिता का द्योतक होगा। जिस प्रकार व्यक्तियो को न्याय देना राज्य का कर्तव्य है, उसी प्रकार राज्यो को न्याय देना अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का कर्तव्य है। सयुक्त राष्ट्र सघ अथवा हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ये संस्थाएँ आज विश्व में प्रमुख मानी जाती हैं। जोश अथवा शक्ति के बल पर कोई अपने हठ पर अड़ा रहना चाहे तो वह सम्भव नहीं हो पाएगा। विवादों को युक्ति एवं विचार-विनिमय द्वारा निपटाना चाहिए। या तो तलवार के जोर पर उनका निपटान किया जा सकता है या फिर युक्ति

के जोर पर लिया जा सकता है। युक्ति को स्वीकार कर विवेक बुद्धि के निर्णय के अनुसार सवालों को हल करना स्वतन्त्रता का लक्षण है। वादी प्रतिवादी दोनों पूरी तरह स्वतन्त्र हैं। अतएव शस्त्र को हाथ न लगाते हुए शास्त्र की शरण में जाकर उन्हें युक्ति प्रतियुक्ति का आश्रय लेना चाहिए। यदि हर राज्य अपनी स्वतन्त्रता की पूर्णता के विषय में आग्रह करने लगे और कहने लगे कि वह जागतिक लोकमत को स्वीकार नहीं करेगा तो विश्व में शान्ति नहीं रह पायेगी तथा पूर्ण स्वतन्त्रतावादी राष्ट्र भी अपनी स्वतन्त्रता को बहुत देर तक सुरक्षित नहीं रख पाएँगे। आजकल के युग में यदि कोई राष्ट्र अपने ही हठ पर अड़ा रहना चाहे तो अन्य राष्ट्र उसे वैसा नहीं करने देंगे। स्वेज नहर के सवाल से अमेरिका तथा रूस का सीधा सम्बन्ध नहीं था, तो भी उन्होंने इस सवाल पर अपना अभिप्राय प्रकट किया। अत: वह सवाल बातचीत एवं सुलह समझौते से निपट गया, युद्ध से नहीं। अफ्रीका महाद्वीप में आज जो उपनिवेशवाद की अन्त्येष्टि होने जा रही है, उसका भी मूल कारण विश्व की राय ही है। इग्लैण्ड आज अपने अफ्रीकी उपनिवेशों को स्वतन्त्रता दे रहा है; बेल्जियम कांगो को स्वतन्त्रता दे रहा है। फ्रेंच राष्ट्र अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान कर रहे हैं। इन सब घटनाओं का यही अर्थ है कि ये राज्य एवं उनके अधीनस्थ प्रदेशों के झगड़े आज विश्व की चर्चा के विषय बन गए हैं। गाँव में झगड़ा होने पर उस गाँव का पटेल झगड़ने वालों को चावडी पर बुलाता है और उनके झगड़े को खत्म करता है। यही स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब दो राष्ट्रों में झगड़ा होने पर विश्व का लोकमत अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र संघ बीचबचाव के लिए उसमें पड़ता है। यदि कोई केवल भावना एवं शक्ति के जोर पर विश्व की समस्या को सुलझाना चाहे तो न्याय्य दृष्टि से वह सुलझा नहीं पाएगा। जो विजयी होगा वह उन्मत्त हो जाएगा तथा जो पराजित हो जाएगा, वह बदला लेने की ठानेगा। अत: उचित यही होगा कि विश्व शान्ति को बनाए रखने के लिए विवदमान राष्ट्रों को चाहिए कि वे विवेक, विचारविनिमय, एवं युक्ति की राह चुनें।

राज्यों के विवादों की भांति अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा भी विवेक एवं युक्ति के मार्ग ही से होना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का फैसला सुलह समझौते से न हुआ तो युद्ध का टालना असम्भव हो जाएगा और तब उस युद्ध को किन्हीं विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित करना कठिन हो जाएगा। किसी भी क्षण दो राष्ट्रों के बीच का झगड़ा अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर सकता है। सुलह समझौते से जब सवाल हल नहीं होते, युद्ध की सम्भावना पक्की हो जाती है, तब सम्बन्धित राष्ट्रों के मन भीतिग्रस्त हो जाते हैं। और तब गुटबन्दी (अलाएंस) शुरू हो जाती है। नाना प्रकार के रक्षा सम्बन्धी समझौते किए जाते हैं। दुनिया भर में डर तथा अनिश्चितता का वातावरण छा जाता है। और यदि प्रत्यक्ष रूप से युद्ध न छिड़े तो भी युद्ध की परिस्थिति निर्माण हो जाती है। अगर घर में रहने वालों को मालूम हो जाए कि घर में साँप घुसा हुआ है तो वे चैन की नींद नहीं सो सकते और वे लोग बुरी तरह चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं। ठीक यही अवस्था शीत की हो जाती है। अपनी स्वतन्त्रता के दुरभिमान के कारण, अपनी राष्ट्रीय भावना के अमर याद आविष्कार

कारखाने में मशीन चलाने वाला मजदूर, स्कूल में इतिहास भूगोल पढ़ाने वाला अध्यापक, आदि सबके सब सिपाही समझे जाते हैं तथा कोई भी तोप के गोलों से तथा बमबारी से सुरक्षित नहीं रह पाता। आधुनिक युद्धों में समूचे राष्ट्र को युद्ध के पैंतरे में खड़ा होना होता है। समूचा राष्ट्र युद्धकाल में हर तरह से संगठित होता है। अन्य समय में भूषणवत् प्रतीत होने वाली नागरिक स्वतन्त्रताएँ युद्ध में विजय के मार्ग में रुकावट प्रतीत होती हैं। इसलिए युद्ध की तोप का पहला गोला छूटते ही नागरिक स्वतन्त्रताएँ जड़मूल से हिल उठती हैं। राज्य युद्ध में विजय हासिल करने के इरादे से इन स्वतन्त्रताओं को खत्म कर देता है। युद्ध के शुरू होते ही इस प्रकार की स्वतन्त्रताएँ खत्म हो जाती हैं। युद्ध काल में भले ही समूचा राष्ट्र युद्धतंत्र बनता हो, राष्ट्र के सबके सब लोग लड़ाकू बनते हों, तो भी युद्ध शुरू होने से पूर्व, युद्ध की तैयारी के समय तथा युद्ध की घोषणा होने तक लोगों को अपनी राय जाहिर करने की छूट रहती है। युद्ध शुरू होने से पूर्व के इस काल में यदि लोकमत जागरित न हो तो सत्ताधारी एवं उनके सहायक वर्ग तथा व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि से युद्ध के प्रश्न पर विचार करते हैं। एक बार युद्ध छिड़ गया कि फिर विचार-विनिमय, सुलह, समझौता आदि बातें मुश्किल हो जाती हैं। जब कुछ देर तक युद्ध चालू रहता है और दोनों पक्षों को उसके कुछ परिणाम भोगने पड़ते हैं, तब कुछ-कुछ विवेक जागता है। तथापि जो महत्वपूर्ण समय होता है, वह युद्ध शुरू होने से पूर्व का ही होता है और उन दिनों बहुमतयुक्त लोगों ने यदि राज्यसत्ता को विवेक का रास्ता न सुझाया तो जो वर्ग सत्ताधारी होते हैं वे उस विकट परिस्थिति से फायदा उठाते हैं तथा दलगत राजनीति का खेल खेलते हैं। उनका तो खेल होता है और तालाब के मेंढकों की तरह सामान्य जनता की जान जाती है। सत्ताधारियों के हाथों में सही माने में पूरी सत्ता आ जाती है। और यदि उनके विरुद्ध तत्काल क्रान्ति न हो तो किसी भी बात की कोई मर्यादा नहीं रह जाती। तथा ये वर्ग ही राष्ट्र का पर्यायवाची बन जाते हैं जिसके फलस्वरूप राज्य की स्वतन्त्रता उनके स्वैराचरण का साधन बन जाती है। तथा देश एवं देश की सभ्यता और संस्कृति इनके हाथों चौपट हो जाती है। देश पर आने वाली आपत्ति एवं संकट के ये वर्ग शिल्पकार साबित होते हैं। इन सब बातों को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विश्व के व्यवहारों में राज्य की स्वतन्त्रताओं पर अंकुश का होना बहुत जरूरी हो जाता है। अन्याय होते समय व्यक्ति उदासीन रहे, अपने दल के डर से चुपचाप रहे, विरोधी पक्ष त्याग करने से कतराए तो इन बातों का फल यह होता है कि मौजूदा राज्य सत्ता युद्ध के पूर्व बेलगाम हो जाती है तथा विश्व की शान्ति खतरे में पड़ जाती है। कील के कारण नाल, नाल के कारण घोड़ा तथा घोड़े के कारण घुड़सवार खत्म हो जाता है—इस किस्म की परिणाम की शृंखला निर्माण होती है।

चाहे समाज हो या राष्ट्र हो, दोनों की वृत्ति एवं स्वरूप उसके घटक भूत नागरिकों की वृत्ति पर अवलंबित रहते हैं। दो व्यक्तियों के तथा दो राष्ट्रों के बीच के व्यवहार में समानता होती है। जिस प्रकार किसी राज्य में अनेक हित-सम्बन्ध होते हैं, और उनके सन्दर्भ में व्यक्ति व्यक्ति के बीच, व्यक्ति एवं संघ के

बीच तथा व्यक्ति एवं राज्य के बीच वार्ताएँ आकार धारण किया करती हैं। सुख, आनन्द एवं मनोरंजन के उद्देश्य से लोग एक जगह जमा हुआ करते हैं। संघ बनते हैं। किंबहुना, राज्य के सम्बन्ध में भी यह भाव स्पष्ट रहता है। अतः व्यक्तियों के व्यवहार में समाज जिन नीतितत्त्वों को चाहता है, वही नीतितत्त्व राष्ट्रों के व्यवहार में भी अपेक्षित समझे जाते हैं। मजदूर संघ का आचरण कैसा हो तथा उसका सम्बन्ध राज्य के साथ किस प्रकार का रहे इस बारे में जो विचार समाज में प्रकट किए जाते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में विभिन्न राष्ट्रों को आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में प्रकट किए जाने वाले विचारों से मेल खाने वाला होना चाहिए। आम तौर पर व्यक्ति से बगैर पूछे, उसकी राय बगैर लिए यदि कोई फैसला उस पर लाद दिया जाए तो व्यक्ति उसका विरोध करता है, निन्दा करता है। राज्य के विभिन्न गणों एवं संस्थाओं से पूछे बगैर, उन्हें अपनी बात पेश करने का मौका दिए बगैर राज्य कोई निर्णय करे तो वे उसे चुपचाप मंजूर नहीं करते। उसकी निन्दा एवं विरोध करते हैं। ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी किसी के विरुद्ध निर्णय लेते समय यदि कोई विचार-विनिमय न करे तो वहाँ भी विरोध होता है। तात्पर्य यह है कि जो भावना व्यक्ति की होती है, वही जाति, समाज एवं राष्ट्र की होती है। अनेक दानों वाले मकई के भुट्टे की मिठास उसके हर दाने की मिठास पर अवलंबित होती है। कस्तूरी के गोले तथा उसके कण के सुगन्ध में क्वालिटी का फरक नहीं होता, सिर्फ क्वाण्टिटी का फरक होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कोई व्यवस्था करनी हो, तो जिन राष्ट्रों पर उसका प्रभाव पड़ता है, उनका विचार अवश्य करना चाहिए। सन् १६२० में वर्साय के राजमहल में बैठकर यूरोप एवं अफ्रीका के देशों की जो बाँट की गई, उससे सन्तोष एवं समाधान के स्थान पर भावी अनर्थ का ही बीजारोपण किया गया। जिस बात को व्यक्ति नहीं मान सकते, उसे समष्टि या समाज भी नहीं मान सकता, यह स्पष्ट है। अतः राज्य के कामकाज को व्यक्ति का समर्थन प्राप्त हो तो राज्य में सुख रहता है, शान्ति रहती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यक्तिगत राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त हो, तभी वास्तविक शान्ति की व्यवस्था स्थिर बनी रहेगी। आजकल राष्ट्रसंघ में बहस होती है, विचार-विनिमय होता है तथा किसी भी राष्ट्र को खत्म करने या नुकसान पहुँचाने जैसी बात नहीं की जाती। यह शुभ लक्षण है। व्यक्ति जब समाज में आता है, तब उसके विकास के लिए अनुकूल वातावरण उसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार राष्ट्र राज्य जब अधिक व्यापक विश्व संगठन में आता है, तब उसके विकास के लिए अधिक अनुकूलता हो जाती है। उसका कर्तृत्व उत्साही बनता है। विश्व संगठन में आने से उसकी स्वतन्त्रता थोड़ी सी अंकुशित हो जाती है, यह निश्चित है। परन्तु उसी अंकुश के कारण राष्ट्रराज्य की स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित होती है। गाँव में पुलिस की चौकी ही न हो, तो लड़ाई-फसाद हो जाने पर उसका अन्त सिर फुटौवल ही में होगा। पर यदि लोगों को मालूम हो कि गाँव में पुलिस चौकी मौजूद है, तो फसाद होते ही या होने की नौबत आते ही कोई न कोई दौड़ा-दौड़ा पुलिस चौकी पर जाता है। चोरी हो तो इस बात का इत्मीनान हो जाता है कि अपने ऊपर कोई यों ही हमला

नहीं करेगा। यही इत्मीनान विश्व संगठन के रहते अनुभव होता है। राष्ट्रसंघ की मौजूदगी की वजह से मौजूदा राष्ट्र राज्य सुरक्षित हैं। और जैसे-जैसे विश्व संगठन के माध्यम से राष्ट्रों का पारस्परिक सहयोग बढ़ेगा वैसे-वैसे उनकी सुरक्षा मजबूत होती चली जाएगी। प्रगति को अधिक गति प्राप्त होगी। अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक नैतिकता आती है तथा व्यवहार में भी अधिक उपयुक्तता आती है। जो अनुभव व्यक्तिगत जीवन में आता है, वही अनुभव व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में राष्ट्रराज्यों को आता है। व्यक्ति के समाज में रहने के कारण जो जी में आए वह करने का अधिकार उसे नहीं रहता। समाज की दृष्टि से कुछ अंकुश उस पर लगाने पड़ते हैं। उसी प्रकार विश्व में राष्ट्र राज्य के उदित होने भर से उसे अमर्याद सत्ता नहीं प्राप्त होती। उसकी स्वतन्त्रता एवं सत्ता पर भी अंकुश रहता है और उसे मानना लाभदायक ही होता है। समाज में भले ही राज्य का कर्तृत्व बढ़ा-चढ़ा हो, उसके आदेश माने जाते हों, पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी वह उसी तरह अपना सिक्का चलाना चाहे तो नहीं चल सकेगा। समाज में भी जो सत्ता प्राप्त हुई होती है, वह बिना किसी शर्त के नहीं होती। कागज पर भले ही वह पूरी हो, संविधान में भले ही उस पर कोई शर्त न लगी हो, तो भी अव्याहृत अंकुश उसमें अवश्य होते हैं। कोई सत्ताधारी उनका उल्लंघन सहसा नहीं किया करता। क्योंकि उस प्रकार का उल्लंघन करने से सत्ता का उनके हाथ से छिन जाना अनिवार्य हो जाएगा इस बात की जानकारी उन्हें रहती है और कोई भी सत्ता इन अंकुशों की मौजूदगी के कारण अपने को अपमानित अनुभव नहीं करती। इसी प्रकार जब कोई भी राष्ट्रराज्य विश्व के राजमार्ग से जाता है, तब वह भी औरों के साथ-साथ किन्हीं अंकुशों को स्वीकार करता है तथा उसमें किसी प्रकार का अपमान समझने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में थोड़े से नियमनों का उद्देश्य ध्यान में रखकर अस्तित्व में आई हुई संस्था है, 'लीग ऑफ नेशन्स्'। सन् १९२० से लेकर १९३९ तक अर्थात् दो महायुद्धों के बीच के काल में लीग ऑफ नेशन्स् कुछ नियमन किया करती थी। उसी का एक भाग है 'आई० एल० ओ०' अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन। इस संस्था ने मजदूरों से सम्बन्धित क्षेत्र में बहुत कुछ काम किया है। तथापि व्यक्तिगत राष्ट्र-राज्यों की स्वतन्त्रता पर प्रभावशाली रूप में अंकुश लगाने के काम में लीग ऑफ-नेशन्स् को सफलता नहीं मिली। मंचूरिया पर किए गए जापान के आक्रमण को रोकना उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। एबिसीनिया पर होने वाले अत्याचारों को उसे आँखें बन्द करके देखना पड़ा। तो भी यह हम कह सकते हैं कि विश्व नियमन की दृष्टि से लीग एक प्रशंसनीय कदम था। अनेक मौकों पर लीग ने बहुत से अच्छे निर्णय किये थे। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में उसने ऐसे फैसले किए जो दोनों पक्षों को मंजूर हुए। तथापि जो कुछ घटित हो रहा था, उसका, धीरज के साथ सामना वह न कर सकी। कारण यह था कि उसके पास दण्ड-विषयक कोई योजना नहीं थी। छोटे राष्ट्रों के प्रश्न पर वह जोर से बोलती थी पर जब बड़े राष्ट्रों में कलह उत्पन्न होता था, तब लीग के संस्थापक एवं मार्गदर्शक लोग कुछ नहीं करते थे। क्योंकि वे

लोग जानते थे कि उनका फैसला माना नहीं जाएगा। सन् १९१९-२० में किन्ही स्थानों पर वह चुप रही, कही उसने आँखें बन्द कर लीं, कही उसने तत्त्वभ्रष्टता से काम लिया। उसके संगठन में बडे राष्ट्रों का प्रभाव अधिक था और उसी के कारण हुआ यह कि ससार मे शान्ति बनाए रखने के उद्देश्य से स्थापित हुई वह लीग की संस्था दूसरे महायुद्ध के लिए आवश्यक वातावरण निर्माण करने मे कारणीभूत हुई। दो युद्धो के बीच की शान्ति दूसरे महायुद्ध के पूर्व का उद्योग-पर्व साबित हुई। शस्त्रास्त्रों के प्राथमिक प्रयोग भिन्न-भिन्न राष्ट्रो ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में किए। बडे-बडे राष्ट्रो ने इस काल में यह निश्चित किया कि उनके शत्रु कौन है तथा आने वाले युद्ध की कुण्डली तैयार की और विश्व-शान्ति को कठिन एवं युद्ध को अटल बना दिया। ३-४ सौ बरसो के प्रयत्न से ससार के स्वतन्त्र राष्ट्रो ने अपनी स्वतन्त्रता पर थोडे से अकुश स्वीकार किए थे। तथापि लीग का जन्म शान्ति के मूल पर कुठारवत् सिद्ध हुआ यही कहना चाहिए। युद्ध बन्द हो चुका था; पर मन के भीतर का द्वेष एव सन्ताप ठण्डा नही हुआ था। विजयी राष्ट्रो के मन मे बदले की भावना काम कर रही थी। पराजित राष्ट्रो मे भी वही भावना उत्पन्न हो चली थी। अतः इस परिस्थिति मे लीग के नैतिक स्वरूप के अधिकार को भी लोगो ने कुछ अधिक महत्त्व नही दिया। विश्व के राष्ट्रो के बीच ऐसी अनेक सामाजिक एव आर्थिक समस्याएँ थी, जिन पर मतैक्य होना कुछ कठिन नही था। जिन क्षेत्रो मे आम तौर पर हितैक्य नजर आता था, उनमे लीग ऑफ नेशन्स् ने कुछ काम किया है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता। दूसरी बात यह हुई कि वह एक ऐसी कचहरी बन गई, जहाँ वादी-प्रतिवादी लोग आकर वाद-विवाद किया करते थे। अनेक बार लोकमत का दावा प्रभावशाली साबित हुआ। तो भी लीग को बडे राष्ट्रो का सच्चा समर्थन प्राप्त नहीं था। उलटे लीग का उपयोग उन्होने मौजूदा अन्याय को बदस्तूर कायम रखने के लिए किया। पराजित राष्ट्र का प्रदेश छीन लिया गया। उसके उपनिवेशो को विजयी राष्ट्रो के हाथ में वहाँ की जनता का पालन करने के लिए दे दिया गया। सद्भावना का प्रदर्शन लीग की हर सभा मे किया जाता था। पर उस सद्भावना का आगे और कुछ नही बना। एक विचार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की राजनीति में जड़ें जमाने लगा था और वह यह था कि आदर्शों के विभेद के रहते हुए भी अनेक राष्ट्र चाहे तो किसी सद् उद्देश्य से एकत्र आ सकते हैं तथा सहयोग के बल पर कुछ एक क्षेत्रो मे तो अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय नियमन को लागू करवा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सरकार जैसी कोई वस्तु उन दिनो निर्माण नही हुई थी। तो भी दूरदर्शी राजनीतिज्ञो का ध्यान इस बात की ओर अवश्य गया कि अन्तर्राष्ट्रीय काम-काज के लिए बहुत बडा क्षेत्र मौजूद है।

लीग के सम्बन्ध मे लोगों ने जो बडी-बडी उम्मीदें लगा रखी थी, वे यद्यपि पूरी न हो पायी, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे, विश्व-शान्ति की दृष्टि से एवं विश्वव्यवस्था की दृष्टि से आगे कदम जरूर बढा है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता। बहुजनसमाज को सही मानो मे स्वतन्त्रता दिलानी है, तो पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने से बात नही बनेगी। वितरण की व्यवस्था न्यायो-

चित होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को स्वाभिमानपूर्वक जीवित रहने का अधिकार है, इत्यादि बातें मौलिक स्वरूप की समझी जाने लगी तथा पहले महायुद्ध के बाद यह सिद्धान्त भी अधिक प्रबल रूप से लोगों के सामने आया कि देश के भीतर के पूँजीवाद का पोषण विश्व के पूँजीवाद द्वारा होता है। देश के भीतर के पूँजीवादी देश की सीमा से बाहर हाथ-पैर फैलाने लगते हैं तथा अपने उत्पादन को उचित मुनाफा दिलाने के लिए वे देश की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को दाँव पर लगाते हैं। कभी-कभी तो मुट्ठी भर लोगों के फायदे के लिए समूचे राष्ट्र को युद्ध में पड़ना पड़ जाता है। इस दृष्टि से विश्व में यदि कोई सार्वभौम नियमन अमल में आए तो ठीक रहेगा, ऐसा लोगों को प्रतीत होने लगा था तथा इसी से लीग का निर्माण हुआ। लीग के जीवन-काल में अनेकों ने ये विचार प्रतिपादित किए थे कि विश्व में एक विश्व राज्य होना चाहिए। अमेरिका के अध्यक्ष पद के चुनाव में उम्मीदवार बन कर खड़ा होने वाले श्री विल्की ने तो 'एकविश्व' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। विश्व में एक राज्य की बात केवल कल्पना न रहकर १० वर्ष पूर्व बहु चर्चा का विषय बन चुकी थी। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ से पूर्व लीग यदि अपनी नीति पर मजबूत रहती तो कदाचित् एक विश्व राज्य की कल्पना अधिक स्पष्ट रूप से साकार हो गई होती। दूसरे महायुद्ध के बाद यही कल्पना किंचित् भिन्न रूप में लोगों के सामने आ रही है। विश्व की शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने तथा उसकी आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नति करने की दृष्टि से किसी नियामक व्यवस्था का होना अच्छा है, ऐसा लोगों की समझ में आ गया है। जिस प्रकार राष्ट्र के लिए आर्थिक विषमता का होना बुरा एवं अन्याय-कारक है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में किन्हीं राष्ट्रों का आर्थिक दृष्ट्या सम्पन्न होना तथा किन्हीं का विपन्न होना, किन्हीं का मालदार होना तथा किन्हीं का गरीब होना शान्ति का पोषक नहीं है। विश्व में अनिर्बंध स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इस मत का अमेरिकन अध्यक्ष रूजवेल्ट ने बहुत जोरदार रूप में प्रतिपादन किया था। महायुद्ध में हिट्लर के विरुद्ध संगठित हुए राष्ट्रों की इस मामले में एक राय थी कि संसार में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहना चाहिए, डर नहीं रहना चाहिए, उन्नति की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा नागरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए और इसी मतैक्य में से राष्ट्रसंघ (यू० एन० ओ०) का जन्म हुआ। यू० एन० ओ० की सनद एक दृष्टि से विश्व का एक राज्य होने के तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत प्रगतिशील विचारों का निदर्शक है। यू० एन० ओ० के संविधान में विश्व की एक पार्लियामेण्ट की कल्पना के बीज मौजूद हैं। किन्हीं भी विवादों की सुनवाई राष्ट्रसंघ में होती है। उन पर बहस होती है, फैसले किए जाते हैं, बहुत जल्दी के मामलों पर विचार करने के लिए जो सिक्यूरिटी काउंसिल काम करती है, उसका स्वरूप राज्य की कार्यकारी सत्ता से कुछ मिलता-जुलता है। यू० एन० ओ० के संगठन ने गत १४ वर्षों में अनेक महायुद्धों के अथवा कहिए युद्धों के प्रसंगों को टाला है। युद्ध न होने देने के लिए युद्ध के कारणों को कम करने की लगातार कोशिश कर रहा है। इस संगठन के होने से किसी भी देश को इस बात का अनुभव नहीं होता कि उसकी स्वतन्त्रता घट गई है। यू० एन० ओ० में संलग्न आई० एल० ओ० नाम का मजदूरों का संगठन आज भी मजदूरों के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्ट्या

प्रभावशाली है। इस संगठन ने जो कुछ मंजूर किया होगा उसे इस संगठन के सभासद राष्ट्रों का मंजूर करना नैतिक कर्तव्य सिद्ध होता है और आम तौर पर उसे मंजूर किया भी जाता है। यू० एन० ओ० या राष्ट्र संघ के फैसलों को मानना अब केवल नैतिक बन्धन भर रह गया हो ऐसी बात नहीं है। दण्ड-व्यवस्था भी हो चुकी है और उचित समय पर राष्ट्रसंघ अपनी दण्ड-व्यवस्था पर अमल भी करने लग गया है। राष्ट्रसंघ में हुए फैसलों से तथा उनका पालन करने की परम्परा से किसी भी राष्ट्र को यह अनुभव नहीं होता कि उसकी स्वतन्त्रता में कमी आ गई है। राष्ट्रसंघ व्यक्तिगत राष्ट्रों की रक्षा की दृष्टि से लीग की अपेक्षा अधिक समर्थ एवं शक्तिशाली सिद्ध हुआ है। चूंकि राष्ट्रसंघ में हर किसी की सुनवाई होती है, अतः राष्ट्रों की सीमाएँ पहले से अधिक सुरक्षित हैं। और यदि चीन राष्ट्रसंघ का सदस्य होता तो आज का सीमा विवाद उत्पन्न न हुआ होता। या बहुत ही शीघ्र खत्म हो गया होता। संघ के नियमन एवं नियन्त्रण के कारण किसी भी राज्य की पार्लियामेण्ट की सार्वभौमता पर आक्रमण हुआ है, ऐसा किसी को प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत संघ की स्थापना के बाद से करोड़ों लोग एवं लाखों मीलों के प्रदेश दूसरों की गुलामी से मुक्त हो गए हैं। मुक्त होकर जो देश स्वतन्त्र हुए वे स्वतन्त्र राज्य के रूप में राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए हैं। सदस्य हो जाने के बाद उन्होंने मानो स्वतन्त्रता के अपने-अपने विमान ही उतारे हैं, ऐसा दृष्टिगत होता है। राष्ट्रसंघ बन जाने के कारण किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में बलपूर्वक कोई परिवर्तन नहीं लाया गया है। उलटे शिक्षा, व्यापार, संस्कृति इत्यादि क्षेत्रों में राष्ट्रसंघ के माध्यम से जो काम किए जा रहे हैं, उनसे संसार के ज्ञान में बढ़ती ही हो रही है। राष्ट्रसंघ की एक शाखा 'यूनेस्को' सांस्कृतिक एवं कल्याण के क्षेत्रों में जो काम कर रही है, वह प्रशंसनीय है तथा इन कामों से किसी भी राष्ट्र के जीवन पर कोई अंकुश आया है, ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता। विश्व के धान्य का सम्भरण एवं वितरण, अपंग बच्चों के सम्बन्ध में कुछ नियमन राष्ट्रसंघ के हाथों किया जाता है तथा उससे विभिन्न राष्ट्रों के जीवन में सहायता होती है, यह बात हर कोई मानेगा। न्यायदान के कार्य में अथवा नैतिकता से सम्बन्धित किसी भी मामले में राष्ट्रसंघ किसी प्रकार का नियमन नहीं करता। किंबहुना, प्रत्येक राष्ट्र का जो व्यक्तिगत या खास जीवन होता है, उसमें राष्ट्रसंघ अड़गा नहीं लगाता। उलटे राष्ट्रसंघ के कामों से जीवन के उन क्षेत्रों में सहायता ही होती है। कहने का तात्पर्य यह कि सामुदायिक रीति के जीवन के किन्हीं क्षेत्रों में सारे जगत् में समानता लाने से तथा उन क्षेत्रों में नियमन करने में राष्ट्र की प्रगति ही होती है तथा इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमन अभीष्ट है, ऐसा लोगों को अब अधिकाधिक समझ में आने लगा है। और जिन क्षेत्रों में समानता है, उनमें किसी विश्वव्यवस्था द्वारा अधिकाधिक नियमन किया जाना अभीष्ट ही सिद्ध होगा। विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को अपने सुख एवं उन्नति के लिए आवश्यक बातें एवं सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ, इसे स्वीकार कर लेने के बाद केवल एक-दो राष्ट्रों में नियोजन-व्यवस्था के होने से वे सब प्राप्त नहीं हो सकतीं। सारी दुनियाँ में नियोजन की व्यवस्था का होना जरूरी है। और यदि हम चाहते हैं कि सारी दुनियाँ में नियोजन किया जाए, तो उसे करने के लिए

किसी विश्व संस्था एवं विश्वव्यवस्था का होना आवश्यक है । तथा इस दृष्टि से यदि विश्व राज्य की स्थापना हो तो अच्छा ही होगा । एक विश्व राज्य की स्थापना से विश्व में सबकी भाषा और धर्म एक हो जाएँगे तथा सब कहीं एक जैसापन एवं एक ही साँचे में ढला जीवन नजर आने लग जाएगा, ऐसा समझना ठीक न होगा । मानव यों एक ही है । यह मौलिक एकता एक विश्व राज्य की स्थापना से सदेह हो जाएगी । अपनी स्वायत्तता को सुरक्षित रखते हुए, एक व्यापक एवं विशाल जीवन में हिस्सा लेने तथा समरस होने का अवसर उसे इस व्यवस्था में प्राप्त हो जाएगा । विश्व व्यवस्था में सम्मिलित होने से स्वतन्त्रता हाथ से चली जाती है, महत्त्व कम हो जाता है, अनेक बन्धन निर्माण हो जाते हैं, इत्यादि जो बातें कही जाती हैं, वे सब सही हैं । चित्र को यदि फ्रेम में बैठा दिया जाए तो, जिस प्रकार वह चित्र अच्छा दिखाई देता है, उसमें प्रमाणबद्धता आ जाती है, वैसा ही अनुभव यहाँ भी होता है । जगत् में नियमन हो जाने से व्यक्तिगत राष्ट्र की स्वतन्त्रता अधिक अर्थपूर्ण हो जाती है । क्योंकि उस व्यवस्था में अधिक विश्वसनीयता एवं अधिक सुरक्षा होती है । और राष्ट्र की दृष्टि से अधिक विश्वसनीयता, अधिक सुरक्षितता एवं अधिक शान्ति का अर्थ है व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी अधिक सार्थकता एवं अधिक समृद्धि । व्यक्ति इस प्रकार से विश्व व्यवस्था के कार्यों में औचित्ययुक्त सिद्ध होता है तथा उस व्यवस्था से उसकी प्रगति होती है और इस प्रकार की व्यवस्था निर्माण करना जहाँ उसके अपने हित में है वहाँ वह उसका कर्त्तव्य भी है ।

प्रकरण—४

स्वतन्त्रता, समता तथा कानून

स्वतन्त्रता की कल्पना के बारे में विचार करते समय हम कह आए हैं कि सच्ची स्वतन्त्रता समता के बिना अर्थहीन है। और यदि हम चाहते हैं कि नागरिकों को समता एवं स्वतन्त्रता दोनों का अनुभव प्राप्त हो तो हमें राज्य के गठन एवं संविधान को प्रजातन्त्रात्मक रूप का बनाना होगा। पाश्चात्य देशों में जब राज्य-विषयक कल्पनाओं का विचार प्रजातन्त्र की दृष्टि से होने लगा एवं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा राज्य के अधिकारों के बीच का विरोध स्पष्ट अनुभव होने लगा, तब स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी अनेकों को भय लगने लगा तथा वैसा ही कुछ समता से सम्बन्धित कल्पनाओं के मामले में भी हुआ। हम पहले बता आए हैं कि जब हम स्वतन्त्रता तथा समता के बारे में विचार करने बैठते हैं, तब वह निरपेक्ष भाव से नहीं किया जा सकता। इस परिस्थिति में कल्पनाएँ एक आधार लेने लगती हैं; एक आवरण धारण करने लगती हैं, अतः स्वतन्त्रता एवं समता दोनों ही की कल्पना के बारे में विचार करते समय हमें लगेगा कि दोनों ही कल्पनाएँ निरपेक्ष नहीं हैं और हमें यह याद रखना होगा कि इन पर हमें समाज के सन्दर्भ में ही विचार करना चाहिए। हमें स्वतन्त्रता एवं समता की वृत्तियों को ध्यान में रख कर विचार करना होता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है विद्यमान परिस्थिति में व्यक्ति को अपने बारे में स्वयं निर्णय लेने का अधिकार। पर यह निर्णय उसे परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, शक्यता, युक्ति तथा औचित्य का विचार करके लेना होता है। व्यक्ति सामान्यतया अपने सुख तथा व्यक्तित्व की रक्षा की दृष्टि से विचार किया करता है। और स्वतन्त्रता उसके अभीष्ट को प्राप्त करने का एक साधन है। अपने ध्येय की ओर ले जाने वाला एक मार्ग है। उद्देश्य तथा आदर्श से हीन स्वतन्त्रता को कोई अंगीकार नहीं करता। चमचा केवल चमचा होने से प्रिय नहीं होता। उसके द्वारा कटोरी में रखी हुई बासुन्दी (दूध की रबड़ी) निकालनी होती है अतः वह प्रिय होता है। ठीक यही बात स्वतन्त्रता की भी है। मुझे लिखने के लिए स्वतन्त्रता चाहिए। बोलने के लिए स्वतन्त्रता चाहिए। किन्हीं व्यक्तियों को मैं देखना चाहता हूँ, किन्हीं क्षेत्रों का मैं दर्शन करना चाहता हूँ, अतः मुझे संचार की स्वतन्त्रता चाहिए। यह बात साफ है कि केवल प्राथमिक आवश्यकताओं—अन्न, वस्त्र एवं निवास—की पूर्ति से ही मनुष्य सुखी नहीं हो जाता। यह सब तो चाहिए ही, इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ चाहिए। ये सब चीजें उसे बगैर मेहनत के हासिल हो जाएँ तो भी उसका असन्तोष

दूर नहीं हो पाता। उसका जीवन केवल अन्नमय नहीं होता। अतः वह कुछ और अधिक करना चाहता है। अतः उसे वह सब करने के लिए अवसर एवं स्वतन्त्रता की आवश्यकता रहती है। उसके बगैर उसका जीवन अधूरा रह जाता है। वह चलता है, पर उसमें गति नहीं आ पाती। वह सुनता है, पर उसमें श्रवणीय कुछ भी नहीं रहता। संक्षेप में वह जीवित तो रहता है, पर उसमें जान नहीं होती। स्वतन्त्रता की भाँति समता को भी समाज के सन्दर्भ में कार्यप्रवण होना चाहिए। समता का अर्थ एक जैसा होना नहीं है। या विधि शास्त्रगत समानता भी नहीं है। इसी प्रकार केवल न्यायभाव (इक्विटी) भी उसका अर्थ नहीं है।

मनुष्यमात्र में मानवता एवं अध्यात्म की दृष्टि से समानता मौजूद है। समता का बस यही अर्थ लिया जाना चाहिए। समता का अर्थ किसी टकसाल में से निकलने वाले सिक्कों की सी समता नहीं है। अर्थात् हरेक की वही शक्ल हो, वही वजन हो, वही कीमत हो—ऐसी समता न तो होती है न हो ही सकती है। बनावटी समता स्वतन्त्रता की कमी को पूरी नहीं कर सकती। इसी प्रकार तर-तम भाव को उत्पन्न करने वाले अन्यायपूर्ण कानून भी स्वतन्त्रता के लिए मुनासब नहीं हैं। लोभ, गर्व, अहंकार आदि से सामाजिक विषमता पैदा होती है, यह सही है। तथापि समता की माँग या प्रवृत्ति, मत्सर, भय, या डाह आदि बातों से पैदा होती है, यह कहना भी पूरी तरह ठीक नहीं है। सृष्टि में न्याय तो मौजूद है; पर सब कहीं समता का भाव भी मौजूद है, यह कहना सच नहीं है। सृष्टि में किस्म-किस्म के पेड़ पौधे हैं, किस्म-किस्म के फल हैं; फूल हैं, किस्म-किस्म के ऊँचे-नीचे धरातल हैं; अतः सृष्टि को समता अभीष्ट नहीं, यह कहना उचित न होगा। समता का अभिप्राय यह है कि वह विषमता में से उत्पन्न होती है। उसे निर्माण करने वाली कोई शक्ति वहाँ सूचित होती है; संकल्पित होती है; तथा जहाँ कहीं भी कुछ विषम एवं अन्याय-युक्त वस्तु दृष्टिगत हो, उसे समता एवं न्याययुक्त बनाने के लिए कार्यशील होती है। स्वतन्त्रता एवं समता में समन्वय की स्थापना करनी होती है। मूलतः वे दोनों परस्पर विरोधी भाव हैं, ऐसा कुछ एक व्यक्तियों का कहना एकदम गलत नहीं कहा जा सकता।

स्वतन्त्रता को पाश्चात्य राजनीतिज्ञ लोग प्रगति एवं विकास का साधन मानते हैं। स्वतन्त्रता प्रगति की जान होने के कारण उसका सम्बन्ध देश की राज्य-व्यवस्था के साथ आता है, यह स्पष्ट है। और यदि देश की राज्यव्यवस्था स्वतन्त्रता का पोषण करने वाली न हुई तो प्रगति एकदम रुक जाएगी, ऐसी बात नहीं है। पर वह प्रगति जनसामान्य के अनुभव का विषय नहीं बन सकेगी तथा जिस रूप में वे उसे देखना चाहते हैं, वैसी वह नहीं हो सकेगी। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में स्वतन्त्रता की कल्पना पाश्चात्य राजकीय क्षेत्र में अधिकाधिक स्पष्ट होती चली गई। राज्य प्रजा के सुख के लिए है, यह कहने का मौका उन्हें मिले, इसका असली अर्थ हुआ राज-कार्य में लोकमत को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। तथा लोगों ने अनुभव किया कि लोकमत का महत्त्व बढ़ाने के लिए राज्य में प्रजातन्त्र की स्थापना करनी ही होगी। प्रजातन्त्र का अर्थ है राज्य के कामकाज में लोगों का

हाथ होना। केवल गरीब बहुजन समाज के प्रति सहानुभूति होना भी उसका अर्थ नहीं है। प्रजातन्त्र को केवल एक जीवन दृष्टि मानने से भी काम नहीं चलेगा। प्रजातन्त्र का अर्थ केवल राजकीय क्षेत्र में लोगों का परिणामकारक प्रभाव समझना भी ठीक न होगा, क्योंकि यह बहुत ही संकुचित है। प्रजातन्त्र का यह भी अर्थ नहीं कि राज्य का हर व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से राज्य के कामकाज में भाग लेता है। विद्यमान प्रजातन्त्र का स्वरूप यह है कि लोग अपने प्रतिनिधियों के द्वारा राजकीय कामकाज पर अपना प्रभाव डालते हैं तथा प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार सबको— अर्थात् वयस्कों को होता है। यह अधिकार देने के मामले में समानता होती है। मौजूदा प्रजातन्त्र का रूप बताना हो तो कहा जा सकता है कि कानून की दृष्टि से तथा राजनीति की दृष्टि से समता का होना—अर्थात् सब पर एक ही कानून लागू होगा तथा सबको मतदान का अधिकार रहेगा। साथ ही जो बहुसम्मति होगी उसके अनुसार ही राज्य का कामकाज चलाना भी इस एकता की कल्पना में समाविष्ट है। प्रजातन्त्री-शासन में अल्पसंख्यकों की रक्षा, मौलिक अधिकारों की व्यवस्था, बहुमत वालों पर प्रतिबन्ध आदि बातें भी होती हैं तथापि प्रजातन्त्र का अर्थ लोगों का शासन व्यवस्था पर प्रभाव यह सामान्य रूप से स्वीकृत किया जाता है। प्रसिद्ध अमेरिकन राष्ट्रपति जेफरसन प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में कहता है कि प्रजातन्त्र उस व्यवस्था को कहते हैं, जिसमें गुणों के एवं योग्यताओं से श्रेष्ठ व्यक्तियों को राज्य का कामकाज चलाने के लिए चुना जाता है। उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि जब तक अमेरिका खेती-प्रधान है, तभी तक यह सम्भव है। पर जब अमेरिका उद्योग-प्रधान हो जाएगा, बड़े-बड़े शहर वहाँ बस जाएँगे, तब अमेरिका का प्रजातन्त्र भ्रष्ट हो जाएगा। केवल संख्या की दृष्टि से विचार करें तो कहना होगा कि जिस राज्य-व्यवस्था में अधिकतम लोगों को मतदान का अधिकार है, वहाँ प्रजातन्त्र अधिक है। पर प्रजातन्त्र का यह स्वरूप औपचारिक है। इसी प्रकार यदि कोई ऐसा राष्ट्र, जहाँ निरंकुश शासन-पद्धति है, बहुत प्रगतियुक्त हो, तो यह नहीं कहा जा सकेगा कि वहाँ प्रजातन्त्र है। इसके विपरीत यदि ५१ प्रतिशत लोग देश पर कल्पनातीत निरंकुश शासन करें तो भी उसे प्रजातन्त्र ही माना जाता है तथा इस प्रजातन्त्री शासन पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही रहता। इस प्रकार का दलगत अधिनायकतन्त्र व्यक्तिगत अधिनायकतन्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक लोकद्रोही तथा अधिक दलीय स्वार्थ से युक्त साबित होता है। आज भी सोवियत रशिया तथा अन्य साम्यवादी राष्ट्र प्रजातन्त्री होने का ही दावा करते हैं। वस्तुत. व्यक्ति की दृष्टि से प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता के वहाँ दर्शन नही होते। तथा सर्वथा प्रजातन्त्र का आधार लेकर ही हिटलर अधिनायक बना, यह इतिहास का बिलकुल ताजा उदाहरण है। सामान्यतया व्यक्तिगत अधिनायक प्रजातन्त्री मार्ग से भले ही आया हो, अन्त में उसका नाश होता है तथा स्वतन्त्रता की विजय होती है, इसमे सन्देह नही। परन्तु इस अन्तिम क्षण के आने तक कितने ही व्यक्तियो का अन्त हो जाता है। कितने ही नैतिक एव प्रजातन्त्री मूल्यो का नाश हो जाता है।

स्वेच्छाचारी शासन में से होते हुए प्रजातन्त्री राज्य के मार्ग ही में स्वेच्छाचारी शासन गुजरा करता है। यह कोई आज का ही अनुभव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्राचीन काल में भी लोगों को यह अनुभव प्राप्त हुआ है, इसका उल्लेख अरस्तू के ग्रन्थों में पाया जाता है। ऐसा ही कुछ अनुभव फ्रेंच राज्य क्रान्ति के बाद फ्रांस को भी प्राप्त हुआ। 'स्वतन्त्रता, समता, एवं भ्रातृभाव' इस आवाज में ही स्वेच्छाचारी शासन की रणभेरी सुनाई दी तथा उस काल में भी ऐसे राजनीतिज्ञ थे, जो कहते थे कि अन्त में प्रजातन्त्र अर्थात् स्वतन्त्रता की ही जीत होगी। उन्नीसवीं सदी में फ्रेंच क्रान्ति के बाद जो परिणाम दिखाई देते थे, वे प्रजातन्त्र के लिए अनुकूल थे, यह ठीक है, तथापि यह कहना ठीक न होगा कि उस प्रजातन्त्र की ओर प्रवृत्त विचारों के भीतर अधिनायकतन्त्र का समर्थन करने वाली विचारधारा थी ही नहीं। एडमण्ड बर्क, लॉर्ड एक्टन, सीले, मेन आदि द्वारा लिखित ग्रन्थों में प्रजातन्त्र के गर्भ में ही अधिनायकतन्त्र के प्रादुर्भूत होने का भय प्रदर्शित किया गया था और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलेगा कि इस भय का कारण यह है कि स्वतन्त्रता की कमी को पूरा करने के लिए समता की आवश्यकता प्रतीत होगी और फिर उसी के भीतर से अधिनायकतन्त्र जन्म लेगा। सब कहीं समानता होनी चाहिए, सामाजिक भूमि समतल होनी चाहिए, यह वृत्ति जब एक बार घर कर लेती है, तब वह चुप नहीं बैठती। तब यह विचार आता है कि ऊपर के वर्गों को नीचे घसीटा जाए तथा नीचे के वर्गों को ऊपर लाया जाए। तब वहाँ समावेशकता दृष्टिगोचर होती है। और ऐसी अवस्था में स्वतन्त्रता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। एक दफा सबको समान बनाने का विचार दिमाग में आ जाए कि बस उस दृष्टि से रखा जाने वाला हर कदम विचारों की गति को जोरदार कर देता है। आग में घी के पड़ने से आग और तेज हो जाती है। यही कुछ यहाँ भी होने लगता है। और यदि इस क्रिया का विरोध न हो, तो सारे राष्ट्र में समानता पैर जमाने लग जाती है। और सबसे बुरी बात यह हो जाती है कि जो नमूना सामने आए, उससे मेल कायम न कर सकने वाला हर व्यक्ति पापी एवं अनैतिक समझा जाने लगता है। वह कृत्रिम समझा जाने लगता है। सच तो यह है कि जो नमूना उस समय सामने आता है, वह स्वयं कृत्रिम होते हुए भी स्वाभाविक समझा जाता है। और आज भी जिस देश में एक जैसे साँचे के नमूने में विश्वास किया जाता है, उस देश के लोगों को अन्य देशों की विविधता अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती है। सब लोगों को समान बनाने की धुन में जब लोग समानता की सीमाओं को भूल जाते हैं, तब प्रगति के लिए आवश्यक प्रवृत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं, ऐसा कुछ लोगों का आक्षेप है। उन्नीसवीं सदी में कुछ लोगों ने यह तर्क भी उपस्थित किया कि समानता से ध्येयनिष्ठा समाप्त हो जाती है, निरी यान्त्रिकता एवं चैतन्यहीनता आ जाती है; उलटे विविधता के रहने से संगठन शक्ति बढ़ जाती है एवं विविधता में जीवन है तथा समानता में मृत्यु है। फ्रेंच क्रान्ति के बाद समता एवं सदृशता एक उन्मादक वृत्ति बन गई तथा फल यह हुआ कि अनेकों की स्वतन्त्रता घट गई। मनुष्य का स्वभाव यह है कि जो ... नजदीक होती है, उसके बारे

में उसे स्वाधीनता एवं आनन्द की अनुभूति होती है। मेरी पत्नी, मेरा घर, मेरी बैठक, मेरी जीवन-व्यवस्था आदि बातों में मेरापन विशेष होने के कारण उसे आनन्द अनुभव होता है। हार्मोनियम एक होने पर भी अनेक व्यक्ति उससे अनेक रागों का स्वर निकालते हैं। ठीक इसी प्रकार समाज के एक होते हुए भी उसमें विविधता के लिए स्थान होना चाहिए। पर समता की धुन में केवल राजकीय समता एवं सामाजिक समता तक ही सीमित न रहकर सब व्यक्तियों के सर्वांगीण जीवन में भी समता लाने का सैद्धान्तिक आग्रह होने लगा तथा लोगों के हाथ में शासन-शक्ति के आ जाने के कारण विविधता पर हमले होने लगे। विविधता पर होने वाले हमलों की वजह से उसी तरह विरोध की भावना भी और पनपती चली गई। सामान्यतया समता एवं सदृशता के नाम से निरंकुश शासन शुरू हो गया। जर्मनी में यही अनुभव देखने को मिला। अरस्तू समता तथा निरंकुश शासन के आपसी सम्बन्धों को जानता था। उन्नीसवीं सदी में अनेक राजनीतिज्ञों ने अरस्तू के उक्त कथन की अपने ज्ञान के द्वारा पुष्टि की।

प्राचीन ग्रीक देश का इतिहास बताता है कि लोगों की खुशामद करके, उनके भीतर की हीन भावनाओं को उभारा गया तथा समाज के भीतर जो कुछ अच्छी बातें थीं उन्हें नष्ट कर दिया गया तथा इस मामले में सम्पत्ति एवं गुणों का भी विचार नहीं किया गया। समता एवं सदृशता के नाम पर कहीं-कहीं तो ऐसी अविवेकपूर्ण विचारधारा को बढ़ावा मिला कि प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक व्यक्ति का स्वामित्व है। वास्तव में समता एवं सदृशता की सीमाओं को पहचान लेना चाहिए। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि समता यदि सम्भव है, तो केवल प्रजातन्त्र में ही सम्भव है तथा यह वही समता हो सकती है जो स्वतन्त्रता की पूरक हो, गुलामी वाली समता नहीं। सब के लिए कानून एक ही हो, यह ठीक है। पर एक ही कानून विषम सामाजिक परिस्थितियों के लोगों पर लाद देना ठीक नहीं। उसे कानून भले ही कहा जाए, पर न्याय नहीं कहा जा सकता। एक ही कानून का शेर और गीदड़ दोनों पर लागू किया जाना कोई पसंद नहीं करेगा। पर साथ ही एक ही कानून लागू करने की आवश्यकता भी निर्विवाद है। प्रजातन्त्र में कानून बहुमत द्वारा बनाया जाता है और तब बहुमत का निर्णय प्रत्येक क्षेत्र पर लागू होता है। प्रजातन्त्र में सामान्य रूप से हर व्यक्ति समझता है कि वह किसी से कम नहीं है; अतः दूसरों को अपने से कम करने की प्रवृत्ति एवं प्रबन्ध होने लगते हैं। जहाँ दूसरों के बड़प्पन अथवा श्रेष्ठत्व को—चाहे वह व्यक्ति विषयक हो, चाहे वर्ग विषयक—कम करने में सफलता नहीं मिलती, वहाँ व्यक्ति द्वेष एवं वर्ग द्वेष की भावना समाज में घर कर जाती है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि समता की प्रवृत्ति द्वेष भावना के साथ किन्हीं उत्कृष्ट भावनाओं को भी जन्म दिया करती है। समता केवल द्वेष पर आधारित भावना है, यह कहना ठीक नहीं है। अतः प्रजातन्त्र का कार्य एवं प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि द्वेष सीमित हो जाए तथा समता से उत्पन्न होने वाली श्रेष्ठ भावना अधिक कार्यक्षम साबित हो। बहुतों को स्वतन्त्रता एवं समता का यह सम्बन्ध प्रिय नहीं है। तो भी एक बार सब कहीं समता स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हो जाए तो कुछ

अनुदार प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, यह सच है; पर फिर भी वह देर तक टिका नहीं करती। समाज में औदार्य का उदय, सुस्थिति प्राप्त हो जाने पर, वेग से होने लगता है। कुछ लोग स्वभावतः उदार होते हैं। विषमता की स्थिति में जैसे मत्सर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अभावग्रस्त प्राणी को देखकर प्रभावहीन व्यक्ति के मन में उसकी सहायता करने की भावना भी उत्पन्न होती है। और जब विषमता कम होने लगती है, उस समय सुस्थिति एवं किंचित् समता की स्थिति होने के कारण औदार्य को प्रोत्साहन मिलता है। बहुतों की सम्मति में, प्रजातन्त्र संकुचित भावनाओं को अधिक प्रश्रय देता है। पर यह सही नहीं है। लगभग १०० वर्ष पूर्व मेकॉले ने कहा था कि प्रजातन्त्री संस्थाएँ, विशुद्ध प्रजातन्त्री संस्थाएँ, आज नहीं कल स्वतन्त्रता एवं सभ्यता दोनों का नाश कर देंगी तथा जहाँ जनसंख्या अधिक होगी, वहाँ यह अधिक शीघ्रतापूर्वक होगा। तथापि गत १०० वर्षों का अनुभव यह है कि सुस्थिति युक्त अमेरिका ने तथा समता-युक्त रशिया ने राजनैतिक कारणों से क्यों न हो, जितनी उदारता प्रदर्शित की है, वह स्पृहणीय है। तथा यह उदारता निश्चित ही सभ्यता का एक लक्षण है। गत १०० वर्षों में प्रजातन्त्र के अस्तित्व के कारण राज्यों में स्वतन्त्रता एवं सभ्यता का लोप हो गया हो, ऐसा देखने में नहीं आया। आर्थिक कारणों से प्रजातन्त्री संस्थाओं के रूप विविध हो गए तथा स्वतन्त्रता का अर्थ नया-नया रूप लेता चला गया। लॉर्ड एक्टन का कथन है कि यदि फ्रेंच राज्यक्रान्ति में समता का तत्त्व न होता, तो राज्यक्रान्ति सफल न हो पाती। क्योंकि तब केवल स्वतन्त्रता अवशिष्ट रह गई होती। फ्रेंच क्रान्ति के समय मध्यम वर्ग को स्वतन्त्रता चाहिए थी तथा निम्न वर्ग को समता चाहिए थी। हमारे मत में आज भी वही अवस्था है। मध्यम वर्ग की आसक्ति समता की अपेक्षा स्वतन्त्रता के प्रति अधिक होती है। इसका कारण उनकी बौद्धिक पार्श्व-भूमि है। निम्न वर्ग वालों को समता अभीष्ट होती है। कारण उनके जीवन में क्षणे-क्षणे तथा पदे-पदे विषमता के बुरे अनुभव आते रहते हैं।

सवाल यह पैदा होता है कि प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता—स्वतन्त्रता एवं समता के बीच क्या वास्तव में कोई विरोध है? इस ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर यही विचार-धारा प्रतिपादित की गई है कि प्रजातन्त्र न हो तो स्वतन्त्रता नहीं, तथा समता न हो तो स्वतन्त्रता का अधूरापन दूर नहीं होता। वह सार्थक नहीं हो पाती। तथापि कुछ लोगों का मत है कि समता के बिना भी अर्थात् यथार्थ समता के बिना भी प्रजातन्त्र का काम चल सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक विषमता के रहते हो सच्चा प्रजातन्त्र पनप सकता है और सच्चा प्रजातन्त्र वही है, जहाँ आर्थिक मामलों में अनिर्बन्ध स्वतन्त्रता हो। आज भी भारत में हाल ही में स्थापित नये राजनैतिक दल 'स्वतन्त्र पार्टी' की मुख्य भूमिका यही है। उस दल को आर्थिक क्षेत्र में नियोजन नहीं चाहिए। क्योंकि वह नियमन एवं नियन्त्रण नहीं चाहता। प्रजातन्त्र केवल इसी लिए चाहिए कि यदि वह दल इस क्षण प्रजातन्त्र का विरोध करने लगे तो राजनीति के क्षेत्र में उसके लिए पैर रखना भी असम्भव हो जाए। नए-नए राजनैतिक विचार एवं सिद्धान्त लोगों के सामने आ रहे हैं। अतः लोगों को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से उन पर विचार करना चाहिए। आज विश्व की स्थिति ऐसी है कि प्रजातन्त्र के सम्बन्ध

में लोग कुछ अच्छा या बुरा अनुभव पा चुके हैं। तथा सामान्य रूप से प्रजातन्त्री व्यवस्था में स्वतन्त्रता का सम्पोषण होता है, सुख की आशा होती है, ऐसा अनुभव आया हुआ है। और जहाँ प्रजातन्त्र को तुच्छ दृष्टि से देखा गया अथवा उसका विपरीत अर्थ किया गया, वहाँ जो परिस्थिति पैदा हुई, वह विचार करने योग्य है। जर्मनी, इटली इन दो राष्ट्रों मे महायुद्धो के बीच के काल मे जो कुछ हुआ उससे कुछ लोगो का विश्वास प्रजातन्त्र के सम्बन्ध मे घट गया हो, तो भी दूसरे महायुद्ध के बाद यह भी साबित हो गया कि प्रजातन्त्र को छोड अन्य कोई उपाय भी नही रह गया है। सोवियत रशिया मे गत ४० वर्षों मे जो कुछ हुआ है, उसका अर्थ इतना ही है कि प्रजातन्त्र का जो अर्थ इग्लैण्ड और अमेरिका मे लगाया जाता है, वह वहाँ नही लगाया गया। एक बात निश्चित है कि प्रजातन्त्र की कल्पना मे कही-न-कही समता अवश्य निहित है। और आज के युग मे समता का आलाप अलापे वगैर काम नही चल सकता। अतः अधिनायकतन्त्र को भी कही प्रजातन्त्र का नाम देने का अर्थहीन प्रयास किया जाता है। लोगो के मत से जब हिटलर का निर्वाचन हुआ तब भी उसे प्रजातन्त्र का नाम दिया गया। पाकिस्तान मे जब जनरल अयूब निर्वाचित हुए, तब भी उसे प्रजातन्त्र का ही लक्षण माना गया। लोगों के सामने जो विकल्प पेश किया जाता है, वह यह कि व्यक्ति के बीच चुनाव नही होता तथा जो व्यक्ति प्रतिष्ठित हो गया है वह ऐसा कुछ काम करता है कि मन मे कुछ क्यो न हो, हाथ से तथा मन से उस प्रतिष्ठित व्यक्ति को जो कुछ इष्ट है, वही लिखा जाता है। हिटलर को ६८ प्रतिशत मत प्राप्त हुए तथा अयूब को ६६ प्रतिशत मत प्राप्त हुए। इसे देखकर समता का भाव प्रजातन्त्र की आत्मा है, यह स्वीकार करके उसे विकृत रूप दिया जाता है। यदि प्रजातन्त्र का स्वरूप सीधा-सादा रख दिया जाए, तो समता का भाव जीवन के सब क्षेत्रों मे फैलेगा और तब समाज को उल्लू बनाने की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी। आज भी जो नियमन एव नियन्त्रण किया जाता है, वह भी प्रजातन्त्र का मन्त्र पढकर ही किया जाता है। प्रजातन्त्र केवल राजनीति के क्षेत्र मे ही नही रुका रहता, उसके कदम आर्थिक प्रजातन्त्र की ओर मुड जाते हैं। और आर्थिक प्रजातन्त्र का अर्थ हुआ राष्ट्र का स्वामित्व, नौकरशाही, योजना, नियमन एव नियन्त्रण और इन सबका प्रभाव व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पडता है। अत स्वतन्त्रता की दुहाई देकर समता का ही विरोध करने की प्रवृत्ति जैसे यूरोप एव अमेरिका मे है, वैसे ही भारत मे भी जोर से शुरू हो गई है तथा उसी विचारधारा का एक अग मानकर प्रजातन्त्र का भी विरोध होने लगा है। प्रजातन्त्र का अर्थ प्रजा मात्र के सुख के लिए यत्नशील एव सब को न्याय प्रदान करने वाली व्यवस्था मान लेने के बाद उसका कार्यक्षेत्र अनन्त हो जाता है तथा उसे कार्यक्षम बनाने के लिए व्यक्ति के जीवन पर उसे अमर्याद सत्ता देनी पडती है। सामान्य लोगो के लिए व्यक्तिशः करना सम्भव नही है, यह सोचकर राज्य सारी योजना को अपने हाथ मे ले लेता है। और तब व्यक्ति इस समाज का घटक होने की दृष्टि से महत्त्वहीन हो जाता है तथा राज्य के आज्ञाधारक नागरिक का भाव उनमे बढ जाता है, ऐसा आक्षेप किया जाता है। समाज एव राज्य के भीतर का भेद तब खत्म हो जाता है और जो

जीवन निर्माण होता है, उसमें सामाजिक सुस्थिति भले ही संतोषजनक हो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता लुप्त हो जाती है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है, पर व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन से वंचित हो जाता है, ऐसा भी आक्षेप किया जाता है। व्यक्ति का निरंकुश शासन खत्म हो जाता है तथा एक नये वर्ग का निरंकुश शासन शुरू हो जाता है। शरीर की भाँति मन को भी यह कवायद सिखाई जाती है। जनता के जीवन का स्तर अवश्य ऊँचा हो जाता है, पर उससे जीवन सुखी हो गया हो यह बात नहीं होती। निःसंदेह राज्य प्रजा का है; शासन-शक्ति प्रजा के हाथ में है, पर कोई भी यह महसूस नहीं करता कि वह उसे अपने उपयोग में ला सकता है। न जाने कौन, न जाने कहाँ, क्या निर्धारित करता है और एक मशीन की भाँति सब काम हो जाते हैं, ऐसा वातावरण उत्पन्न होता है। सब कुछ राज्य के द्वारा व्याप्त होता है, व्यक्ति को व्यक्ति के दृष्टिकोण से निर्णय करने के योग्य कुछ रह ही नहीं जाता। जन्म से लेकर ही व्यक्ति की चिंता की जाती है, उसकी पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था राज्य करता है। उसे किस रोजगार में लगाना है, यह राज्य निश्चित करता है। कहाँ रहें, कैसे रहें, यह राज्य निश्चित करता है। कौन-सा गाना गाया जाए, कौन-सी किताबें पढ़ी जाएँ, इसका निर्णय राज्य करता है। अपने कपड़ों को छोड़ कुछ और भी मेरे पास है, ऐसा व्यक्ति को महसूस नहीं होता। तथा कपड़े भी वह अपनी इच्छानुसार नहीं पहन सकता, ऐसी स्थिति, अनेकों की राय में, आज साम्यवादी राष्ट्रों में दिखाई देती है। और यह सब हुआ है, प्रजातन्त्र के नाम पर, समता की परिपूर्णता के लिए तथा इसमें स्वतन्त्रता पूरी तरह लुप्त हो गई है।

सवाल यह पैदा होता है कि यह सब होते समय लोग किस तरह सहन कर लेते हैं? समता की भावना का आधार, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, मत्सर एवं द्वेष है; अतः व्यवहार में जिस प्रकार मनुष्य सोचता है कि, मेरा काम बने न बने, दूसरों का काम नहीं बनना चाहिए, यही कुछ हालत यहाँ भी है। सब कुछ हम कर रहे हैं, हम उस चित्र में हैं, इस विश्वास के कारण समता की भावना का आविष्कार प्रतिरेकीपने से राज्यव्यवस्था एवं राजकीय काम-काज में होता है। इतिहास में हम अनेक बार देखते हैं, कि घटना का बाह्य रूप कुछ और होता है तथा उसका प्रत्यक्ष अनुभव कुछ और। आकार तथा आशय सदैव एक दूसरे के अनुरूप रहें ऐसा देखने में नहीं आता। सामान्यतया लोग उदासीन होते हैं तथा उनके प्रतिनिधि उनके अज्ञान के बल पर व्यापार करते हैं तथा बहुत बार हम देखते हैं कि राज्य तो लोगों का है परन्तु लाभ एक वर्ग-विशेष का हो रहा है। 'खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का तथा अमल कम्पनी सरकार का' यह कहावत १८वीं सदी में ही सही थी, ऐसी बात नहीं—उसमें निहित अनुभव प्रत्येक काल में सही साबित होता है। निरंकुश शासन में स्वतन्त्रता नहीं रहती यह कथन अर्थहीन है। क्योंकि वहाँ स्वतन्त्रता कभी रह ही नहीं सकती। परन्तु प्रजातन्त्र में भी स्वतन्त्रता न हो यह सत्य हृदय में शल्य की तरह चुभने वाला है। यह बात तो अप्सरा को कुरूप कहने अथवा पुणे नगर के निवासी को राजनीति से अनभिज्ञ बतलाने जैसी ही

बात हुई। पर गत १९वीं तथा २०वीं सदी का अनुभव हमें बताता है कि निरंकुश शासन की भाँति प्रजातन्त्र में ही अधिक रहती है। जब प्रख्यात राजनीतिविशारद लोग ऐसी बात कहते हों, तो उसे केवल मनोरंजन-कल्पना कह कर, अथवा उन्हें उपहासास्पद मानकर उनकी उपेक्षा कर देना ठीक नहीं होगा। आज भी राजाजी जैसे विचारक कहते हैं कि आज के प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता नहीं है; केवल वोटिंग-शाही से काम लिया जाता है। उनकी इस बात को सुनकर कुछ लोग कह बैठते हैं कि राजाजी तो विकृत मनोवृत्ति के व्यक्ति हैं, सनकी हैं। पर यह तर्क संगत नहीं है। बुद्धिमत्ता भी इससे प्रदर्शित नहीं होती। भारत का संविधान प्रख्यात राजनीतिज्ञों ने बनाया है। आज तक के दुनिया भर के संविधानों को अपने सामने रखकर, उन सबके अनुभवों को अपने सामने रखकर, अपने देश के अनुभवों को अपने सामने रखकर तथा बुद्धि द्वारा किए गए अनुमान को अपने सामने रखकर इस संविधान को बनाया गया है। इस संविधान में स्वतन्त्रता, समता तथा प्रजातन्त्र पर अधिक जोर है। किंबहुना, वह इन्हीं पर आधारित है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का घोष स्वतन्त्रता, समता तथा भ्रातृभाव में से होता हुआ बोनापार्टीज्म की वोटिंगशाही में जाकर लुप्त हो जाता है। इस इतिहास को अभी कोई भूला नहीं है। समाज की धारणा अधिकार एवं आज्ञापालकता इन दो तत्त्वों पर हुई है। किसी एक का कहा सब लोगों को सुनना होता है। वैसा न हो, तो समाज नाम की वस्तु रह ही नहीं सकती। अधिकार को काम में लाने वाला व्यक्ति भी हो सकता है, परिवार हो सकता है, वर्ग हो सकता है, या पूरे समाज के द्वारा चुने गए प्रतिनिधि हो सकते है। एक बार अधिकार को आद्य तत्त्व मान लेने के बाद समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से छोटे बड़े वजन और माप तो बन ही जाते हैं। अधिकारों की एक घड़ौंची तैयार हो जाती है और उसके बाद उसमें से विषमता का भाव उत्पन्न होता है। अधिकार के सन्दर्भ में मौजूद विषमता जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी दिखाई देने लग जाती है। और अत: बहुतों का कहना है कि सारा समाज अधिकार एवं विषमता की नींव पर खड़ा होता है। इस मूलभूत तत्त्व से अविसंगत समता ही राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बनी रह सकती है। समता के नाम पर गुणों को देश से निर्वासित करना तथा चारित्र्य का नाश करना सदैव समाज के हित का घात करने वाला समझा जाना चाहिए। इसके ये मानी नहीं कि समाज में स्वतन्त्रता के नाम पर, तथा निसर्ग एवं सामाजिक न्याय विषमता का परिपोषक है, ऐसा कहकर स्वेच्छाचारिता को बढ़ावा दिया जाए। उस अवस्था में सम्पत्ति को केन्द्र बनाकर वास्तविक वाद-विवाद उठ खड़ा होता है तथा अर्थ-व्यवस्था पर धर्म एवं धर्म पर राज्य आधारित है, यह चाणक्य का सूत्र लागू हो जाता है। सम्पत्ति की विषमता लोगों ने मानी नहीं, इसका अर्थ लोग गुण अथवा बुद्धिमत्ता का आदर नहीं करते, ऐसा करना ठीक नहीं। सम्पत्ति के मामले में मनुष्य का सही रूप आँखों के सामने आ जाता है। जब तक मनुष्य सम्पत्ति में हाथ नहीं डालता, तब तक उपनिषदों में उपवर्णित धर्म का बोल-बाला रहता है। धन को माया बताया जाता है। सच्चा धन विद्या है, ऐसी घोषणा की जाती है। पर ज्योंही

थोड़ा-सा भाय कर बड़ा या मृत्युकर लगाया गया कि, मरने के बाद जिन लोगों का सम्बन्ध नहीं माना वे भी जीने-जी शोर मचाने लग जाते हैं। समाज में जो लोग वंचित रह गए हैं, उन्हें वंचित ही रखना चाहते हैं। मन की दृष्टि से तथा सम्मान की दृष्टि से समानता के पक्ष में होते हुए भी वे लोग आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि सम्पत्ति की दृष्टि से विषमता अवश्य होनी चाहिए।

सारी १६वीं सदी में यूरोप के राजनैतिक विचार समता के लिए जितने अनुकूल दिखाई देते थे उतने ही वे समाज की स्थिरता एवं प्रगति के लिए आर्थिक विषमता का भी आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया करते थे। इस विचार के साथ कि प्रजातन्त्र में ही स्वतन्त्रता सम्भव है, यह भी कहा जाता था कि प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता दोनों एक-दूसरे से अलहदा चीजें हैं। प्रजातन्त्र का विकृत रूप ही निरंकुश शासन है—हाँ होगा वह जनता के नाम पर ही किया जाने वाला—ऐसा बारम्बार प्रतिपादन किया जाता था। एक बड़े जर्मन विचारक ने ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि प्रजातन्त्र जोम का राज्य है और उसी में से तलवार का राज्य निर्माण होता है। यही नहीं; ऐसे भी तत्त्वज्ञानी लोग थे जो कहते थे कि यदि स्वतन्त्रता चाहते हो तो फिर से राजतन्त्र की स्थापना करो और भी इस देश में ऐसे सदाशिव पेठी विद्वान् अवश्य मिल जाएँगे, जो कहेंगे कि मौजूदा शासन से अंग्रेजों का शासन कहीं अच्छा था। लोगों ने १६वीं सदी का जो अन्वयार्थ लगाया है, वह यों है कि स्वतन्त्रता के लिए प्रजातन्त्र आता है और आते ही वह स्वतन्त्रता की छाती पर चढ़ बैठता है तथा जब वह समता की दिशा में अग्रसर होता है, तब वही स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। प्रजातन्त्र का मतलब है समान गुलामगीरी। लोगों के राज्य का मतलब है, वह राज्य जहाँ सब काम सरकार ही करती है। प्रजातन्त्र का अर्थ है सत्ता का पूर्ण केन्द्रीकरण तथा ऐसी परिस्थिति, जिसमें लोग उपक्रमशून्य तथा उदासीन होते हैं। यूरोप के इतिहास में कहीं-कहीं ऐसा अनुभव अवश्य आता था जो इस व्याख्या से मेल रखता था। २०वीं सदी में गत ६० वर्षों में प्रजातन्त्र की जो प्रगति हुई है, उसका यदि अन्वयार्थ लगाना हो तो परस्पर विरोधी बातें भी कही जा सकती हैं। आज सोवियत यूनियन तथा जनवादी चीन में जो कुछ हो रहा है, वह प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। स्वतन्त्रता की मौलिक कल्पना के विरुद्ध है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी प्रकार, जब वहाँ लोगों की इच्छा के अनुरूप काम हो रहा है तथा वह लोगों के मतानुसार है, तब यह कहना कि वहाँ प्रजातन्त्र या स्वतन्त्रता नहीं है एक दुःसाहस की बात है। जहाँ मियाँ-बीबी राजी हों, वहाँ काजी क्या करेगा? जहाँ राजकर्त्ताओं और लोगों में सायुज्यता की स्थिति है, अद्वैत है, वहाँ कौन किस पर अपना अधिकार चलाता है, यह कहना कठिन है। जहाँ वर्ग-भेद समाज धारणा का स्थायी भाव बना हुआ है, वहाँ के लोग भले ही कहें कि सोवियत एशिया एवं चीन में स्वतन्त्रता नहीं है; पर इस कहने का फल सम्बन्धित लोगों की दृष्टि में कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार समता के तत्त्वज्ञान का अतिरेक करने से राज्य अधिक बलवान् होता है और समता के लिए दी गई सत्ता को राज्य फिर कभी नहीं काम में लाने लगता है, इस कहने का भी कोई अर्थ नहीं है।' क्योंकि

जहाँ सत्ता का उपयोग सब लोगों की दृष्टि से अधिक से अधिक सम्बन्धित लोगों का पसन्द है, वहाँ यदि राज्य अधिक बलवान् हो जाए, तो उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। विचारों की स्वतन्त्रता अथवा बौद्धिक स्वतन्त्रता नहीं है, वे हमेशा के प्रारोप वहाँ सम्बन्धित लोगों की दृष्टि से अर्थहीन साबित होते हैं।

जैसा हम पीछे कह आए हैं, एक बार समता का विचार काम करने लगा कि उसे फिर केवल राजनीति या समाज के क्षेत्र तक ही सीमित रखने की कोशिश सफल नहीं हो पाती। कम से कम प्रजातन्त्र के मार्ग से वे सफल नहीं हो पाते। स्वतन्त्रता हासिल होने के ये मानी नहीं कि भूखों मरने की स्वतन्त्रता हासिल हुई है। समता मिलने का अर्थ 'सब को मतदान की समानता' इतना करा देने से, जिन्हें यह अधिकार मिला है, उनकी तसल्ली नहीं हो पाती। गरीबी तथा दुःख उन्हें चैन से बैठने नहीं देते और तब पेट की समस्या एक शक्ति बन जाती है। मेरे पास कुछ भी नहीं और तेरे पास सब कुछ है, इस विषम अवस्था में भ्रातृभाव का नारा बुलन्द करने से काम नहीं चल सकता। बन्धुत्व की भावना के अभाव में भ्रातृभाव एक बेकार की चीज है। *आपस में दुःख-दुःख का मन-मिलाप नहीं, तो वहाँ सच्चा बन्धुभाव नहीं हो सकता* तथा स्वतन्त्रता, समता एवं बन्धुता का नारा निरर्थक हो जाता है। दुःख एवं दरिद्रता

स्वतन्त्रता एवं समता का पक्ष पोषण करने वाली व्यवस्था का रूप लेना है, तो राष्ट्र के स्वतन्त्र प्रवृत्ति वाले लोगों को अपने विचारों को खुल्लम-खुल्ला प्रकट करने की तथा उनका प्रचार करने की छूट दी जानी चाहिए। यदि सब लोगों के मन एवं मत एक ही साँचे में ढले हुए हों, तो प्रगति नहीं हो पाएगी। विश्वटूना, जो नैतिक धैर्य समाज के आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है, वह भी नहीं रह जाएगा। इस दृष्टि से देखने पर बहुत दफा ऐसा अनुभव आता है कि कानून की अपेक्षा लोकमत का अन्याय एवं जबर्दस्ती ही अधिक उग्र होती है। आज यदि हम भारत का अनुभव अपने सामने रखें तो अनेक स्थानों पर हम देखते हैं कि सत्ताधारी पक्ष के लोग उन्मत्त व्यवहार करते हैं। और उसका फल यह होता है कि अनेकों को झुकना पड़ता है। अनेकों को चुपचाप बैठना अधिक अच्छा लगता है और यदि यह सब इसी तरह चलने दिया गया तो आप देखेंगे कि प्रजातन्त्र धीरे-धीरे तानाशाही की दिशा में जा रहा है और जो कुछ सरकार राज्य के काम-काज में करती है, सत्ताधारी दल के लोग वही कुछ समाज में करते हैं और यह सब होता है, प्रजातन्त्र के नाम पर। जिस प्रकार लोग भगवान् का नाम लेकर डाका डालते हैं, उसी प्रकार प्रजातन्त्र का नाम लेकर लोग समाज की स्वतन्त्रता पर डाका डालने लग जाते हैं।

यदि प्रजातन्त्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थान न हो तो वह प्रजातन्त्र न रह कर, दलगत राज्य व्यवस्था का रूप लेकर तानाशाही में परिणत हो जाता है, ऐसा हम गत सौ सालों से देखते आ रहे हैं। जहाँ प्रजातन्त्र अर्थात् बहुमत नैतिक एवं वैध संयम का पालन करता है, वहाँ वह अच्छे अर्थों में अनुभव का विषय बनता है। परन्तु जहाँ बहुमत राजकीय काम-काज को अपने हाथ में ले लेता है, समाज में अपने को सरकार मान बैठता है, सरकार का मत ही अपना मत समझता है, वहाँ शनैः-शनैः व्यक्ति की स्वतन्त्रता में शिकोड आने लगता है, तथा जिस प्रकार लोकमत व्यक्ति पर हावी हो जाता है, उसी प्रकार कानून भी हावी होने लग जाता है। सोवियत रशिया अथवा जनवादी चीन में वहाँ का एक भी नागरिक यह नहीं कह सकता कि वहाँ प्रजातन्त्र नहीं है। समाज के बगीचे में सौ फूल हैं और उनमें से किसी को भी मसला नहीं जाता ऐसी आवाज बुलन्द की जाती है। आर्थिक विषमता जिस राज्य में कम होती जाती है तथा सामाजिक व्यवस्था अधिक समानता के स्तर पर चली आती है, वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करना तथा अधिक शक्तिशाली रीति से उसका प्रदर्शन करना चार्वाक लोगों के मत का प्रतिपादन करने जैसी बात हो जाती है। जो राज्यकर्ताओं अथवा शासकों का एक नया 'वर्ग' निर्माण होता है, वही सही मानों में सत्ताधारी होता है। उनके आदेशों को तथा आज्ञाओं को उस राज्य में माना जाता है। जन्म तथा सम्पत्ति के आधार पर मौजूद वर्गवाद लुप्त हो जाता है तथा एक नया वर्गवाद पैदा होता है। समता का जो 'वर्ग विरहित समाज' ऐसा अर्थ किया जाता है, वह व्यर्थ साबित होता है। विभूति-पूजा तथा व्यक्ति-निष्ठा की निन्दा करते-करते मूर्ति-पूजा से भी अधिक तीव्र स्वरूप की निष्ठा व्यक्ति के बारे में उत्पन्न होती है। आज भी इसका अनुभव हमें विश्व में दृष्टिगत होता है। इमरसन का कहना है कि समाज को चलाने के लिए किन्हीं अलौकिक

व्यक्तियो की जरूरत होती है। श्रेष्ठ एवं अलौकिक व्यक्तियों के अभाव मे जन सम्बन्ध चींटियो और मक्खियों के जमाव के से हो जाएँगे। इमरसन का यह कथन एकदम निरर्थक है, ऐसा नही कहा जा सकता। वर्ग को खत्म कर दिया, सामन्तशाही को समाप्त कर दिया, राजतन्त्र को परलोक मे पहुँचा दिया, इतने से सामान्य मनुष्य अपने कधों पर पडे हुए राजकीय उत्तरदायित्व के बोझ को नहीं सँभाल सकता। यह समझ कर अब तो सब का नाम हो ही गया है, किसी का नाम बाकी नही रहता अत प्रजातन्त्र मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी ही, ऐसा आश्वासन नही दिया जा सकता। राजा की जुल्मशाही उसकी जगह लेती है और बहुमत द्वारा तोड़े गए जुल्म व्यक्ति द्वारा तोड़े गए जुल्मो से ज्यादा तीखे होते हैं। व्यक्ति जुल्म करता हो तो उसका सफाया करके उसका खात्मा किया जा सकता है। पर यदि बहुमत जुल्म करता हो तो उसका निवारण बहुत कठिन हो जाता है। उस जुल्म को बनाए रखने के साथ बहुमत के स्वार्थ निगडित रहते हैं और जो विरोधक होते हैं, वे कानून तथा लोकमत के घेरे मे आ पडते हैं। राजकीय अन्याय के साथ सामाजिक अन्याय भी चलता रहता है। तथा चक्की मे पिसने वाले गेहूँ के दानों की सी हालत अल्पसख्यकों की हो जाती है। उन्हें देश से निर्वासित होना पड़ता है या किया जाता है। कोई साईबेरिया मे जाता है, तो कोई फाँसी पर झूलता है और यदि कोई रहना ही चाहता है तो उसकी अवस्था कैदखाना न होते हुए भी कैदखाने मे पड़े कैदी की सी हो जाती है।

बहुमत के जुल्म का खतरा प्रजातन्त्र मे रह सकता है या हो सकता है, इन दोनो मामलो मे मतभेद की कोई जरूरत नही है। अनेक जगहो पर वैसा अनुभव होता भी है। बहुमतशाही के शुरू हो जाने पर सरकार कानून की सत्ता हाथ मे होने के कारण, उस क्षेत्र मे भी कानून के द्वारा सरकार पहुँच जाती है, जिसे सामाजिक क्षेत्र कहा जाता है। उसके बाद खाना-पीना, मनोरजन, क्रीडा तथा बौद्धिक क्षेत्र मे कानून दखल देने लग जाता है। बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय स्थापित हुआ प्रजातन्त्री राज्य अल्पजन के अहित तथा दुखों के निर्माण का कारण बन जाता है। व्यक्ति के सुख के लिए प्रयत्नशील राज्य रूपी सगठन या तो व्यक्ति को व्यक्तित्व शून्य कर देता है या फिर उसका नाश कर देता है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने जो सिद्धान्त ससार को दिए उनके आज अनुभव मे आने वाले राजनैतिक रसायन निर्माण हो जाएँगे, ऐसा किसी को प्रतीत नही हुआ था। राजतन्त्र अथवा सामन्तवादी शासन एक शक्तिशाली सामाजिक एव सामूहिक भाव था। प्रजातन्त्र की तत्त्वप्रणाली के आधार राष्ट्र की कल्पना की अपेक्षा व्यक्ति की कल्पना पर, हम देखते हैं, सारी १९वी सदी मे, जोर दिया जाता रहा और जब फिर से व्यक्तियो मे सामाजिक भाव अथवा सामुदायिक भाव निर्माण करने का प्रयत्न किया गया, तब सगठित राष्ट्र उत्पन्न न होकर तितर-बितर व्यवहार करने वाले लोकसमूह उत्पन्न हुए, यह प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रज्ञो का कहना है। अमेरिकन कवि ह्विटमैन कहता है कि अकेला मैं गाता हूँ और अपने को स्वतन्त्र समझता हूँ। पर प्रजातन्त्र शब्द का साम्राज्य शुरू हो जाने के बाद मेरा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य लुप्त हो गया तथा अब मैं 'जनता' बन गया हूँ।

बहुतों को यह 'जनता-भाव' प्रिय नहीं है, यह निर्विवाद है। तथा आज भी जनता इस भावना का अथवा बहुजन समाज इस कल्पना का उल्लेख सदैव सद्भावनापूर्वक करता हो, ऐसी बात नहीं है। अप्रिय वक्ता पर पत्थर तथा चप्पल फेंकने वाले समाज को देखकर आज भी शिष्ट लोग 'यह देखिए आपकी जनता' कहकर चिढाते हैं, यह असत्य नहीं है। अतएव प्रजातन्त्र वाला विरोध ओठों द्वारा सीधे न होकर व्यंजना द्वारा होता है। भीतर ही भीतर वह विरोध काम करता रहता है, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं और जब बैवेदों की लुटिया जैसे लोग नेता बनकर शान बघारते हुए धमकी की भाषा बोलने लगते हैं, तब इतिहास के मुँह से बरबस निकल पड़ता है—"मेरी सारी साधना का क्या यही फल है?" सारी १९वीं सदी में स्वतन्त्रता एवं समता के लिए, प्रजातन्त्र के लिए जो क्रान्तियाँ हुईं, उनका जो फल हुआ, वह आज मास्को तथा पेकिंग में हमें दिखाई दे रहा है, ऐसा कुछ लोग प्रतिपादन करते हैं। पूर्वग्रह तथा एकांगी विचारों को यदि हम एक ओर रख दें, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि यदि प्रजातन्त्र में जनताशाही का बोलबाला हो जाय, तो व्यक्ति के विकास, स्वतन्त्रता तथा अच्छे शासन के लिए थोड़ा खतरा अवश्य पैदा हो जाता है। और जो 'समता' के नाम से घोषित की जाती है, उसी में अत्याचार-पूर्ण विषमता के बीज छिपे रहते हैं। कुछ लोग इस पर यह उपाय सुझाते हैं कि प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है श्रेष्ठ नेतृत्व की। अतः उसका संगोपन एवं संवर्धन किया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र किसी एक व्यक्ति को यथासम्भव बड़ा नहीं बनने देता। नेता की व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि "नेता वह है, जो अपने अनुयायियों की बात सुने।" पिछले अनुभवों को ध्यान में रखते हुए, प्रजातन्त्र की क्या समस्याएँ हो सकती हैं, इसका थोड़ा सा विवेचन हमने ऊपर किया है। स्वतन्त्रता को बनाए रखते हुए विषमता को बढ़ावा देना ठीक नहीं, क्योंकि उसमें समाज में विफल जीवन का क्षयरोग फैल जाता है। जनता के नाम से अधिकार दिया जाए तथा व्यक्ति के नाम से उसे अर्थशून्य कर दिया जाए, ऐसा भी नहीं होना चाहिए। स्वतन्त्रता हो; पर नए विचारों का कोई प्रतिपादन न कर सके, केवल इसलिए कि नए विचारों को राष्ट्रद्रोह का नाम दिया जाता है यह भी ठीक नहीं। इन सबमें से कोई बीच का रास्ता जरूर ढूँढा जाना चाहिए। और उस दृष्टि से विचार करने के लिए स्वतन्त्रता तथा समता की कल्पनाओं का अधिक पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है।

राज्य का एक मुख्य ध्येय है, राज्य में रहने वाले प्रत्येक नागरिक के व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करना तथा उसमें विद्यमान सर्वश्रेष्ठ गुणों एवं शक्तियों का उपयोग राज्य के अन्तिम ध्येय की पूर्ति के लिए करना। राज्य इस प्रकार की व्यवस्था करता है, जिससे व्यक्तियों को ऊपर कही बातों का अधिकाधिक सुअवसर मिल सके। ऐसा मानकर राज्य द्वारा किए गए आदेशों को योग्य एवं न्याय्य मानकर शिरोधार्य किया जाता है। जितने अधिक व्यक्तियों को ऐसा अनुभव आएगा, उतनी ही अधिक मात्रा में राज्य के कामों का औचित्य लोगों को महसूस होता जाएगा। व्यक्ति के विकास की योजना का अभिप्राय है, उसके मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में,

योजना। और फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद से जो मौलिक अधिकार सर्वसम्मत हुए हैं, वे हैं—स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता। इसका यह अर्थ कदापि नही कि फ्रेंच क्रान्ति से पूर्व ये अधिकार मौजूद ही नही थे। यह कहना अधिक उचित होगा कि ये तीनों तत्त्व राज्य संस्था की उत्पत्ति के साथ ही पैदा हुए है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि वे उससे पूर्व ठीक से प्रकट नही हो पाए थे। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इन मौलिक तत्त्वों को फ्रेंच राज्य क्रान्ति ने साकार कर दिया तथा अर्थ को शब्द का शरीर प्रदान किया। मौलिक अधिकार अथवा स्वतन्त्रता का सम्बन्ध राज्य एवं समाज दोनो से रहता है तथा उसमे, न्याय एवं औचित्य का भाव अनिवार्य रूप से शामिल रहता है। स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता भले ही तीन अलग-अलग चीजें हो, परन्तु उनकी मुख्य कल्पना एक ही है और वह है न्याय। इन तीनो तत्त्वो के पीछे न्याय की भावना ही काम करती है और राज्य इन तत्त्वो का संगोपन एवं संवर्धन किया करता है। संगोपन एवं संवर्धन की यह क्रिया कानून के माध्यम से होती है। यदि मैं किसी भी राज्य का नागरिक न रहूँ तो, स्वतन्त्रता, समता आदि सारे अधिकार बेकार हो जाएँगे। क्योंकि उन पर आक्रमण होने की दशा मे प्रतिरक्षा करने वाला कोई नही रह जाएगा। अत. जो भी स्वतन्त्रताएँ हैं वे नागरिक की है। कानून उनकी रक्षा करता है। भले ही वह कानून लिखित रूप मे हो या अलिखित रूप मे। राज्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थ मे नैसर्गिक अधिकारो आदि की चर्चा हम कर चुके हैं। जन्मसिद्ध अधिकार तो सभी कही प्रसिद्ध हैं। यो देखा जाए तो, निसर्गसिद्ध अधिकारों को तब तक अधिकार की संज्ञा दी ही नही जा सकती, जब तक ये समाज की कल्पना से सम्बद्ध न हो। यही बात जन्म-सिद्ध अधिकारो के मामले मे भी कही जा सकती है। जन्म-सिद्ध अधिकारो का विवेचन भी समाज की पृष्ठभूमि मे ही किया जाना चाहिए। अत. स्वतन्त्रता के जित्ते भी अधिकार हैं, वे सब व्यक्ति को उस राज्य के कानून के अनुसार मिलते हैं, जिसका वह नागरिक होता है। उस राज्य मे जन्म लेने के साथ ही ये अधिकार उसकी बपौती बन जाते हैं। जिस प्रकार निसर्ग ने मनुष्य के लिए श्वासोच्छ्वास की व्यवस्था कर दी है, उसी प्रकार राज्य भी उतनी ही स्वाभाविकता के साथ इन अधिकारो के लिए भी कुछ-न-कुछ व्यवस्था किए रखता है। ये स्वतन्त्रताएं तथा तद्विषयक अधिकार व्यक्तियों के विकास के लिए राज्य को जरूरी हो जाते हैं। तथा समाज की दृष्टि से भी सबके अधिकाधिक विकास के लिए ये अधिकार जरूरी हो जाते है। मनुष्य का जैसे एक पार्थिव देह होता है, उसी प्रकार इन स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारो से निर्मित उसका एक नैतिक देह भी होता है। और जिस प्रकार शरीर से मेहनत करके वह अपने नागरिकता के कर्त्तव्यो को पूरा करता है, उसी प्रकार अपने नैतिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए वह इन स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारों को उपयोग मे लाता है।

उपरोक्त विवेचन मे जो स्वतन्त्रताएँ अथवा अधिकार व्यक्ति को राज्य की ओर से मिलते रहते हैं, उनमे किसी प्रकार का कोई विकल्प नही होता। 'स्वतन्त्रता या समता ?' ऐसा प्रश्न ही यहाँ नही उठता। सब प्रकार की स्वतन्त्रताएँ उसके नैतिक जीवन के लिए तथा विकास के लिए सामुदायिक रूप से अपरिहार्य होती हैं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि स्वतन्त्रता के उद्देश्य एवं प्रयोजनों का विपर्यास न होने पाए। मनुष्य मे नीति नाम की कोई-न-कोई भावना अवश्य होती है और सूक्ष्म विचार करने पर, उसी भावना में से इन सब स्वतन्त्रताओं की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति पर, उसकी अपनी दृष्टि में, कोई न कोई नैतिक जिम्मेदारी अवश्य होती है। समाज से रात-दिन का सम्बन्ध आने के कारण उसका भी उसे अहसास होता है। और इस दृष्टि से विचार करने पर, एक दृष्टि से यह सत्य प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता आदि अधिकार स्वाभाविक हैं तथा निसर्ग निर्मित हैं। क्योंकि वे सब उसके स्वभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। पर इसके साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि ये स्वतन्त्रताएँ तथा अधिकार समाज की पृष्ठभूमि को छोड़कर नही रह सकते। और इसी कारण यह मानना पड़ता है कि उनका स्वरूप राजनैतिक तथा कानून से सम्बन्धित है। इन्हें कानून तथा समाज की पृष्ठभूमि मे देखने की आवश्यकता इसलिए है जिससे ये स्वतन्त्रताएँ एव अधिकार शक्तिशाली बन सकें और यह बात कोरी कल्पना से या कागज पर लिख भर देने से नही बन सकती। आज भी अनेक राज्यों के सविधान के अनुसार सारे नागरिक समान हैं, सबको समान अवसर प्राप्त हैं, परन्तु अनुभव एकदम भिन्न है। डंका भले ही पीटा जाए पर क्रिया मे वैसा नही होता। अतः मेरे जो अधिकार या स्वतन्त्रताएँ है, उनका नियमन अथवा नियन्त्रण, किंबहुना, उनका जनकत्व भी मुझ से भिन्न व्यक्ति के हाथ मे है। एक अर्थ में, मानवीय स्वभाव मे से प्रसूत होने के कारण वे स्वाभाविक हैं तथा व्यक्ति से भिन्न सगठनों की मौजूदगी के कारण तथा उनके द्वारा निर्मित होने के कारण उन्हे सामाजिक एवं राजनैतिक कहना भी आवश्यक हो जाता है। अन्य शब्दो में, व्यक्ति के अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं का जन्म राज्य द्वारा होता है तथा यदि उनका जन्म राज्य से न हो, तो वे सब अर्थशून्य हो जाते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव हमें न्यूनाधिक मात्रा में यही बताता है। जिन स्वतन्त्रताओं एव अधिकारों को कानून का समर्थन एव संरक्षण नही मिलता वे व्यर्थ हो जाते हैं। अमेरिका मे आज भी किन्ही क्षेत्रों मे नीग्रो लोगों को सब तरह के नागरिक अधिकार (सिविल राईट्स) प्राप्त हैं। पर वे लोग उनका उपयोग नही कर सकते। क्योंकि कानून द्वारा संरक्षण उन्हे प्राप्त नही है। इससे यही जाहिर होता है कि जो राज्य जितनी मात्रा में आदर्श होगा अर्थात् अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक एवं सामर्थ्ययुक्त होगा, उतनी ही मात्रा में नागरिकों के अधिकार सार्थक होगे। केवल निसर्गदत्त एव ईश्वरदत्त आदि आडम्बरपूर्ण शब्दों के प्रयोग से उन्हें अर्थपूर्ण नही बनाया जा सकता। कठोर अनुभव देने वाले जग मे, कानून कठोर हो, निष्ठुर रूप से निष्पक्षपाती हो, तो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर पाता है। अन्यथा नही।

हम ऊपर कह आए हैं कि कोई भी राज्य सौ फीसदी आदर्शवादी नहीं हो सकता। उसका निर्माण इतिहास की प्रक्रिया मे से होना है तथा निरन्तर वह इतिहास के प्रवाह मे बहता जाता है। इस कारण उसके आदर्शवाद में कुछ कम-अधिक होना जाए, तो उसमें अचरज की कोई बात नही। राज्य का ध्येय प्रत्येक व्यक्ति को विकास का अवसर देना है और यदि इस अवसरदान मे न्याय भाव न

रहे, तो जो अवसर दिया गया है, वह कुछ लोगों को तो ढेर सारा फायदा पहुँचाएगा और कुछ लोगों को नुकसान। इस दृष्टि से न्याय नामक एक श्रेष्ठ भावना को राज्य की कल्पना के साथ जोड़ दिया गया है। और तब न्यायदान के अनुरोध से यदि कभी-कभी कुछ 'सम-विषम' हो जाए तो उसे दोषास्पद मानना ठीक नहीं होगा। न्यायदान के लिए किन्हीं व्यवस्थाओं एवं नियमों को अनिवार्य रूप से मंजूर करना चाहिए। तथा ये नियम भी ऐसे होने चाहिएँ, जो न्यायदान के उद्देश्य को सफल बना सकें। इसके मानी ये हुए कि जितनी मात्रा में व्यक्तियों को इन नियमों के अनुसार विकास का अवसर मिलेगा, उतनी मात्रा में उनको सफलता होगी। और तब यह प्रश्न पैदा होगा कि स्वतन्त्रता को प्राथमिकता दी जाए या न्याय को और तब तात्विक दृष्ट्या इस समस्या का परिहार करना पड़ता है। तब फिर प्रश्न का स्वरूप 'स्वतन्त्रता या समता' न रहकर 'न्याय या व्यापक स्वतन्त्रता' ऐसा हो जाता है। एक बार राज्य का ध्येय निश्चित हो जाने के बाद, उसके साध्य की दृष्टि से, न्याय की श्रेष्ठता निर्विवाद हो जाती है। स्वतन्त्रता तो राज्य का मूल आधार है। स्वतन्त्रता के मानी है कि राज्य का हर व्यक्ति अपने विकास के विषय में स्वतन्त्र है। उसके स्वतन्त्र होने के कारण, कानून के माध्यम से राज्य द्वारा दिए गए स्वतन्त्रता से सम्बद्ध सारे अधिकारों का वह पूरी तरह उपयोग कर सकता है तथा वैसा करने का अधिकार उसे प्राप्त है, यह मानना होगा। व्यक्ति जब विचार करने लायक उम्र का हो जाता है, तब वह अपनी कल्पना के मुताबिक अपनी जिम्मेदारी को समझते हुए काम करेगा, ऐसी राज्य को ओर से उम्मीद की जाती है। जहाँ स्वतन्त्रता है, वहाँ जिम्मेदारी भी है, ऐसा मानकर काम किया जाता है। जहाँ जिम्मेदारी का अहसास नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता का सही आनन्द या उपभोग भी नहीं हो सकता। क्योंकि स्वतन्त्रता तो राज्य ने हर व्यक्ति को दी हुई है और हरेक को वह हासिल हो, इस ख्याल से हरेक को जिम्मेवारी का अहसास होना जरूरी है। तथा सब को इस बात की जानकारी राज्य द्वारा बनाया गया कायदा करा देता है। इसके मानी हुए कि सही मानों में हरेक की स्वतन्त्रता वही है, जिसे राज्य का कानून स्वीकार करे तथा नियन्त्रित करे। तथा इसी स्वीकृति तथा नियन्त्रण से उसका स्वरूप निश्चित होता है।

स्वतन्त्रता की भाँति हमें समता के अर्थ को भी समझ लेना चाहिए। समता का कानून द्वारा निर्धारित अर्थ कर देने से काम नहीं चलता। कानून की निगाह में सब समान हैं, ऐसा मानने या कह देने भर से सब लोग समान नहीं हो जाते। अतः कानून के निगाह वाली समता तथा उससे भिन्न समता—दोनों का विचार किया जाना चाहिए। नैतिक दृष्टि से सब लोग समान है यह हुई नैतिक समानता। सो वह राज्य के मौलिक कानून द्वारा स्थापित समता में परिवर्तन कर देती है। समाज में मालदार आदमी को मिलने वाले तथा गरीब आदमी को मिलने वाले न्याय में जो भिन्नता हम देखते हैं, उसका असली अर्थ यह होता है कि मालदार तथा गरीब के सम्बन्ध में कानून की निगाह में जो समता है, उस पर समान रूप से अमल नहीं किया जाता। लोगों में वर्गों की मौजूदगी हो सकती है, पर कानून में वर्गीय न्याय

अथवा कानूनी समता का वर्गीय स्वरूप नही होना चाहिए। जहाँ कानून का सवाल आता है, वहाँ कानूनी समानता सबके लिए बराबर होनी चाहिए। जहाँ राज्य के कानून का सम्बन्ध न आता हो, वरन् सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्ध आते हों, वहाँ की समता कानून की समता के क्षेत्र से बाहर हो जाती है। व्यक्ति की पात्रता, योग्यता, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक सम्पन्नता प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न हो सकती है। यह भेद केवल पूँजीवादी समाज मे ही नही, वरन् साम्यवादी राष्ट्रों मे भी नजर आता है। तो भी कानून के क्षेत्र मे समता अवश्य रहनी है। प्रत्येक को पूरी स्वतन्त्रता देने से सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्रो पर जो प्रभाव पड़ता है, उसमे मिलता-जुलता प्रभाव सबको समान मानने से भी पडता है। और आज तो दुनियाँ के सामने यह सवाल खड़ा हो गया है कि या तो स्वतन्त्रता को सीमित करके समता की स्थापना की जाए, या फिर स्वतन्त्रता को निःसीम करके समता को उखाड़ फेंका जाए। इस सवाल को हल करना हो, तो हमे स्वतन्त्रता तथा समता दोनो की सीमाओ को ध्यान मे रखकर काम करना होगा। तभी कोई बढ़िया हल ढूँढा जा सकेगा। एक बात साफ जाहिर है कि "आज के भारतीय कानून के मुताबिक सब व्यक्ति समान हैं" इसका अर्थ यही है कि अदालती कानून की निगाह में सब समान है, सामाजिक मामलों मे यह समानता नही है। आर्थिक मामलो में तो यह समानता कतई नही है। यों गौर से देखा जाए तो हरेक को समता की दृष्टि मे सामाजिक क्षेत्र मे काम करने तक का पूरा अवसर नहीं मिलता। तो भी यदि कानूनी समता को यदि कुछ और व्यापक बना दिया जाए तो सामाजिक समता का कुछ अंश वहाँ आ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मतदाता है तथा हर बालिग व्यक्ति को राजनैतिक क्षेत्र मे समान अधिकार हैं। मालदार आदमी के तथा गरीब आदमी के मत का महत्त्व समान है। विश्वविद्यालय के दरवाजे सबके लिए खुले हैं, परन्तु पैसे के अभाव में गरीब होनहार विद्यार्थी वहाँ दाखिल नही हो पाता। उन्हें या तो मुन्शीगीरी करनी पडती है या मिलों मे मजदूर बनना पडता है। सही मानो मे सबके लिए पढ़ाई-लिखाई का इन्तजाम करना हो तो पढ-लिख सकने की परिस्थिति सबको हासिल होनी चाहिए। समान योग्यता के रहते, पैसों या साधनों की विषमता के कारण समाज मे विषमता बढ़ती है। अतः यदि सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्रो मे समता को बढ़ाया जाए, तो नि:सन्देह कानूनी समता की सार्थकता भी बढ़ जाएगी। वैयक्तिक योग्यता, आर्थिक साधन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा आदि की समता के वातावरण मे लाना राज्य का कर्त्तव्य है। वैसा होने पर ही कानून अपने व्यापक अर्थ में सबके वास्ते समान हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वैयक्तिक विकास के लिए स्वतन्त्रता एवं समता की जरूरत है। और चूँकि सबको इन बातों की जरूरत है, अतः सबके इन सम्बन्धों मे एकवाक्यता होना चाहिए। इसी को कहते हैं 'बन्धुता'।

'बन्धुता' तथा 'समता' दोनो विचार 'स्वतन्त्रता' के विचार से ही जन्म लेते हैं तथा उनके न रहने से स्वतन्त्रता अपने आप में पूर्ण नहीं हो पाती, इस प्रमेय का प्रतिपादन हमने इस ग्रन्थ मे अनेक स्थानो पर किया है।. व्यक्ति के विकास के

लिए समाज का नियन्त्रण एवं नियमन करने वाली व्यवस्था का ही नाम है 'राज्य'। इस सन्दर्भ को ध्यान में रखने से हम देखेंगे कि जो बातें स्थूल दृष्टि से व्यक्ति के सम्बन्ध में सही हैं, वही बातें सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि से समाज के सम्बन्ध में भी सही हैं और वही आधार 'राज्य' नामक संस्था में भी प्रतिबिम्बित होता है। जैसे की लिखी गयी तत्सम्बन्धी सारी बातें पानी का उल्लेख किए बिना एकदम निरर्थक हैं। इसी प्रकार व्यक्ति के सम्बन्ध में कही जाने वाली बातें समाज अथवा राज-सत्ता के उल्लेख के बिना निरर्थक हैं। स्वाभाविकतः, मनुष्य की इच्छाएँ क्या हैं, यह हमें देखना होगा। साधारण तौर पर कहा जाता है कि मनुष्य बुद्धिमान् एवं विवेकी प्राणी है। इन विवेकी व्यक्तियों को भी ज़िन्दगी बसर करना भी उनके जीवन का एक ध्येय हो सकता है। मनुष्य का आचरण ऐसा होना चाहिए, जिससे जो ध्येय सब के लिए एक है, उसे पाने का प्रयत्न सब लोग कर सकें। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का उपयोग इस रूप में न करे जिससे वह अपने ध्येय से दूर चला जाए। और इस प्रकार का व्यवहार रखने में ही स्वतन्त्रता है। व्यक्ति की दृष्टि से तथा राज्य की दृष्टि से नियमन तथा मर्यादा भी है। इन स्वाभाविक मर्यादाओं (सीमाओं) को राज्य कानून के द्वारा स्पष्ट किया करता है। पर उल्लिखित सिद्धान्त को स्वीकार करने से जो बात स्पष्ट होती है, वह यह है कि राज्य स्वतन्त्र है, अपनी मर्ज़ी के मुताबिक काम करने की पूरी छूट है उसे। उसका मन हो, तो उस रूप में अथवा राज्य में कानून की सीमा में रहने वाले व्यक्ति के लिए कोई बन्धन नहीं है। निःसन्देह, ये बन्धन कानूनी स्वरूप के हैं याने राज्य से सम्बन्धित हैं। तथापि राज्य के साथ समानता भी है तथा समाज एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए यह कहना होगा कि राज्य के कदम समाज के समूचे जीवनक्षेत्र में नहीं उतर सकते। जहाँ राज्य तथा समाज अविभाज्य हो जाएँ, या उनमें सायुज्यता का भाव उत्पन्न हो जाए तो क्या परिस्थिति हो जाएगी, यह कहना मुश्किल है। सोवियत समाज की राज्य-व्यवस्था में आज भी सामाजिक जीवन थोड़ा स्वतन्त्र है। अतः स्वतन्त्रता का विवेचन करते समय केवल कानून द्वारा प्रतिष्ठित, सुस्थापित, गौरवित तथा आश्वासन-समन्वित स्वतन्त्रता ही उसका अर्थ नहीं करना चाहिए बल्कि समाज के जीवन की स्वतन्त्रता का भी उसमें समावेश किया जाना चाहिए। समाज में भी व्यक्ति को दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न बनते हुए अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने की छूट होनी चाहिए। कानूनी स्वतन्त्रता की रक्षा एवं कानून की प्रतिष्ठा के लिए सामाजिक क्षेत्र की स्वतन्त्रता को दबा दिया जाता है, उस पर हमला किया जाता है तथा ऐसा करते समय कहा जाता है कि यह सब व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए ही किया जाता है। यह कहना वैसा ही है, जैसे कोई डाकू कहे कि हम तो यात्री के कंधे पर पड़े बोझ को हलका कर रहे हैं, और उसका सारा रुपया-पैसा लूट कर ले जाए। सामाजिक जीवन में धार्मिक स्वतन्त्रता का महत्व है और धार्मिक स्वतन्त्रता का होना व्यक्ति के विकास की दृष्टि से आवश्यक है। मन्दिर, मस्जिद तथा गुरुद्वारों को, यह कहकर कि उनका दुरुपयोग होता है, नष्ट कर देना ठीक नहीं। तथा यह कहकर कि धर्म एक अफीम की गोली है, उसका उच्चाटन करना भी

अनुचित है। धर्म के नाम पर पैसा बटोरने के मामले में अगर राज्य हस्तक्षेप करके उस पर प्रतिबन्ध लगा दे, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। राज्य व्यक्ति के विकास के लिए यत्नशील रहता है और यदि समाज की सम्पत्ति विषमता के कारण अथवा विकृत उपयोग के कारण समाज में अन्याय तथा अशान्ति को जन्म देने लगे, तो राज्य के कानून द्वारा की जाने वाली मदाखलत को धार्मिक स्वतन्त्रता के अपहरण का नाम देना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। और यह कहना भी सही नहीं कि सामाजिक जीवन में केवल राज्य की शक्ति ही प्रभावी होती है। जैसा हम पहले कह आए हैं, सामाजिक शक्ति भी अपना प्रभाव डालती है। जाति से बहिष्कृत कर देना, पतित कहकर घोषणा करना, आदि बातें सामाजिक शक्ति की द्योतक हैं। विधवा स्त्री या अस्पृश्य जाति का कोई व्यक्ति रास्ते में नजर आ जाए, तो उसे अपशकुन समझने का अर्थ हुआ बिना किसी अपराध के सामाजिक सजा का भोगना। सामाजिक जीवन के अनेक व्यवसायों में उन व्यवसायों की नीति के अनुसार समाज-शक्ति प्रायश्चित्त कराया करती है। फलां के घर काम नहीं करना है, फलां के घर लकड़ियां नहीं तोड़ना है वगैरह-वगैरह बातें आज भी कहीं-कहीं नजर आ जाती हैं। यह सही है कि दुनियां में बढ़ती हुई आधुनिकता के साथ-साथ समाज की शक्ति अर्थात् उसकी दण्ड देने की शक्ति कुछ कम होती जा रही है और यही कारण है कि सामाजिक शक्ति अन्याय्य रीति से दण्ड देने लग जाए तो समाज की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए कानून द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप उचित ही कहा जाएगा। उससे सामाजिक स्वतन्त्रता कम नहीं होती बल्कि उसके यथार्थ उपभोग की अनुकूलता में वृद्धि होती है।

यहाँ तक हमने जो विवेचन किया, वह यह कि केवल कानूनी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता न होकर सामाजिक स्वतन्त्रता भी स्वतन्त्रता की मूल कल्पना में समाविष्ट है। और जिस प्रकार कानूनी स्वतन्त्रता के लिए कभी-कभी सामाजिक स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी कानूनी स्वतन्त्रता को सामाजिक स्वतन्त्रता के बनाए रखने के लिए भी काम में लाया जा सकता है। क्योंकि राज्य सबका शरणस्थान होता है अर्थात् सबसे अन्तिम आधार राज्य ही होता है। स्वतन्त्रता का एक रूप नहीं है, कई रूप हैं। इतना ही क्यों, जिसे हम कानूनी स्वतन्त्रता कहते हैं, उसके भी रूप एक से ज्यादा होते हैं। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कानूनी स्वतन्त्रता श्रेष्ठ एवं अन्तिम होते हुए भी निःसीम अथवा निरपेक्ष नहीं है। जब हम कहते हैं कि हर व्यक्ति स्वतन्त्र है, तो उसके ये मानी नहीं होते कि वह सर्वथा निरपेक्ष एवं निरंकुश रूप में स्वतन्त्र है। हर व्यक्ति की स्वतन्त्रता हर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए मर्यादित होती है। स्वतन्त्रता का उपभोग सभी करना चाहते हैं। पर वह उपभोग बारी-बारी से नहीं किया जाता। सबको एक साथ तथा एक ही समय स्वतन्त्रता चाहिए। इसीलिए वह स्वतन्त्रता सबके लिए समान एवं एक जैसी होनी चाहिए। मुझे साइकिल पर बैठकर हर रास्ते पर से जाने का अधिकार प्राप्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुझे साइकिल का उपयोग इस रूप में करना है, जिससे दूसरों के तत्सम अधिकार में किसी किस्म की रुकावट न आने पाए। अन्यथा साइकिल सब

का कारण न होकर दुर्घटना का ही कारण बन जाएगी। सामाजिक जीवन में चूँकि स्वतन्त्रता के अधिकार सबको प्राप्त हैं, इसलिए प्रत्येक को अपनी मर्यादा को समझते हुए उनका उपयोग करना चाहिए। किसी उद्योग में मैंने पूँजी लगाई है, कोई कारखाना खड़ा किया है, तो जो चाहूँ सो माल पैदा करूँ, जिसको चाहूँ, नौकर या कारकून रखता हूँ, जितना चाहूँ उतना वेतन दूँ—इतने व्यापक एवं निःसीम अधिकार या स्वतन्त्रताएँ आधुनिक समाज में पूँजीपतियों को नहीं दिए जा सकते। मालिक या पूँजीपति को मिलने वाली स्वतन्त्रता समाज के अन्य सदस्यों, विशेष करके काम करने वाले मजदूरों को मिलने वाली स्वतन्त्रता के साथ मेल न खाने वाली नहीं होनी चाहिए। काम कैसे किया जाए, क्या वेतन लिया जाए, किस परिस्थिति में काम किया जाए आदि मामलों में मजदूर को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसे भी काम की शर्तों तथा परिस्थितियों को निश्चित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता सापेक्ष है तथा सशर्त है। इसका यह अर्थ हुआ कि स्वतन्त्रताएँ नियन्त्रित होनी चाहिएँ। और इसका ही यह अर्थ हुआ कि जहाँ नियमन एवं नियन्त्रण नहीं, वहाँ हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। कुछ लोगों को मिलेगी तथा कुछ लोग उससे वंचित रह जाएँगे। स्वतन्त्रता की कल्पना रेखागणित के सिद्धान्तों की भाँति निरपेक्ष तथा सामयिक समाज की पृष्ठभूमि से अछूती नहीं रह सकती। बर्क के शब्दों में स्वतन्त्रता को हितकारी, नैतिक किन्तु नियन्त्रणयुक्त होना चाहिए और इस मामले में मतभेद की कोई वजह नहीं है। केवल व्यक्ति की दृष्टि से स्वतन्त्रता का नियमन होना ही आवश्यक नहीं, बल्कि इसके पीछे कुछ नैतिक भावना भी है। सबको स्वतन्त्रता मिले यह नैतिक आवश्यकता है। यह व्यक्ति की नैतिक आवश्यकता है, यह हम पहले बता आए हैं और उस नैतिक आवश्यकता में से स्वतन्त्रता की कल्पना का उद्गम हुआ है, यह मान लेने के बाद स्वतन्त्रता की जो व्यवस्था होगी, उसे उस मौलिक नैतिक कल्पना से मेल खाने वाली होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि उस दृष्टि से भी स्वतन्त्रता का नियमन होना चाहिए। यह नैतिक आवश्यकता व्यक्ति की है—किसी कल्पना से परे के व्यक्ति की नहीं, बल्कि निश्चित, साकार एवं स्पष्ट व्यक्तित्व से युक्त तथा किन्हीं ध्येयों से प्रेरित व्यक्ति की है। और ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता में से नैतिक आवश्यकता के रूप में स्वतन्त्रता की कल्पना का प्रसव हुआ है। दृष्टिकोण चाहे कुछ हो—व्यक्तियों के सम्बन्धों का दृष्टिकोण हो या मूल नैतिक आवश्यकताओं का दृष्टिकोण हो—स्वतन्त्रता का नियोजन क्रमप्राप्त एवं अपरिहार्य हो जाता है। राज्य में अप्रतिहत स्वतन्त्रता किसी को भी प्राप्त नहीं होती। जो भी स्वतन्त्रता है, वह सापेक्ष एवं नियमनयुक्त है। ऐसा होने के कारण ही वह सबको अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकती है। तथा इस मात्रा को निश्चित करते समय प्रत्येक व्यक्ति की सामान्य तथा विशेष आवश्यकताओं को आँखों के सामने रखा जाता है। परन्तु मात्रा निश्चित करते समय स्वतन्त्रता का अधिकार सभी का माना जाता है। स्वतन्त्रता भले ही नियमनयुक्त हो, उसकी मात्रा भले ही निश्चित हो तो भी वह स्वतन्त्रता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। कस्तूरी चाहे कण हो,

या ढेर सारी हो, पर है तो वह कस्तूरी हो। अधिक गहराई से विचार करने पर प्रतीत होगा कि निरपेक्ष तथा नियमन रहित स्वतन्त्रता हो तो बहुतो के जीवन मे स्वतन्त्रता का अभाव हो जाएगा तथा जिनके जीवन मे थोडी बहुत स्वतन्त्रता है भी उनकी वह स्वतन्त्रता अनिश्चिनता की खाई मे जा पड़ेगी। इसके विपरीत यदि स्वतन्त्रता सापेक्ष एव नियमनयुक्त हो तो वह अधिक सही हो जाती है तथा मात्रा एवं गुण दोनों दृष्टियो मे व्यक्तियों एव समष्टि दोनो के लिए अधिक उपयोगी एव उत्तम होती जाती है, ऐसा हमें इतिहास बताता है।

हम यहाँ 'कानूनी स्वतन्त्रता' इस नए शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इसमे कानून तथा स्वतन्त्रता दोनो का आपसी सम्बन्ध द्योतित होता है। राज्य मे यदि हम न्याय चाहते है, तो उसके लिए स्वतन्त्रता जरूरी है। इस कथन में स्वतन्त्रता को साधन तथा न्याय को साध्य माना गया है। कई बार हम देखते हैं कि साध्य तथा साधन एक-दूसरे मे विलीन हो जाते हैं। यहाँ भी कुछ वैसी ही अवस्था है। कानून तथा स्वतन्त्रता के बीच मौजूद सम्बन्ध का अधिक विवरण हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम सिर्फ इतना कहना चाहेंगे कि स्वतन्त्रता भी एक कानून ही है। या कहिये कि कानून का एक महत्व का हिस्सा है। कानून का अर्थ 'काजी हाऊस' या 'चेचक के टीके' का कानून न होकर 'कानून की भावना' है। जिस प्रकार विद्या कहने से किसी खास विद्या का ग्रहण न होकर उसके व्यापक अर्थ का ग्रहण होता है, उसी प्रकार यहाँ हमने भाववाचक कानून शब्द का प्रयोग किया है। अंग्रेजी में कहते हैं कि 'समाज मे कानून प्रचलित है' इसका अर्थ यह है कि कानून के सम्बन्ध मे जो कल्पनाएँ हैं, वे प्रचलित होती है। कभी-कभी कहा जाता है कि 'फलाँ कानून कानून के मुताबिक नही है' इसका अर्थ यह होता है कि कानून के सम्बन्ध मे जो मुख्य एव मौलिक कल्पनाएँ (सिद्धान्त) हैं, उनके मुताबिक नही है और जब हम कहते हैं कि 'कानून के मुताबिक राज्य चल रहा है' तो उस समय प्रत्यक्ष स्वतन्त्रता ही उस कानून के रूप में काम किया करती है। स्वतन्त्रता तथा कानून का परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कम-से-कम आधुनिक राज्य मे तो हो ही नही सकता। तथापि हमेशा उनमें ऐकमत्य बना रहता हो, यह भी नही कहा जा सकता। जिस प्रकार स्वतन्त्रता के रूप भिन्न होते हैं, उसी प्रकार इस भाववाचक कानून के रूप भी भिन्न हो सकते हैं। स्वतन्त्रता के रूप एवं क्षेत्र भिन्न होते हैं, इस बात का उल्लेख सामाजिक स्वतन्त्रता पर विचार करते समय हम कर चुके हैं। स्वतन्त्रता पर विचार करते समय उसके तीन रूप स्पष्ट रूप से आँखों के सामने आते हैं एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता या नागरिक स्वतन्त्रता। ब्लैकस्टोन नामक राजनीतिज्ञ ने नागरिक स्वतन्त्रता के भी तीन प्रकार बताए हैं। जीवन, स्वास्थ्य तथा विरोध सम्बन्धी सुरक्षा की स्वतन्त्रता। दूसरा है, व्यक्ति की विहार स्वतन्त्रता। अर्थात् जहाँ भी जाना उसके लिए आवश्यक एव ईप्सित हो, वहाँ जाने की स्वतन्त्रता। तथा अपनी मालमत्ता के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता। अर्थात् अपनी सम्पत्ति के उपयोग, उपभोग तथा उसकी व्यवस्था सम्बन्धी स्वतन्त्रता। आधुनिक संविधानों में सामान्यतया इन तीनों स्वतन्त्रताओ की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। भारतीय संविधान में भी मौलिक अधिकार नामक परिच्छेद में यह व्यवस्था की

गई है। आधुनिक भाषा मे इन्ही स्वतन्त्रताओ का वर्गीकरण शरीर स्वातन्त्र्य, बौद्धिक स्वातन्त्र्य तथा व्यवहार स्वातन्त्र्य के रूप मे किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर की सुरक्षा की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसी प्रकार घूमने-फिरने की अर्थात् जहाँ मर्जी हो वहाँ जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। बौद्धिक स्वतन्त्रता मे विचारो की स्वतन्त्रता एव धार्मिक स्वतन्त्रता का अन्तर्भाव होता है। व्यवहार सम्बन्धी स्वतन्त्रता मे किसके साथ कैसा बर्ताव किया जाए, किसके साथ व्यवहार किया जाए, किसके साथ करार किया जाए आदि बातें आती है। इन सब स्वतन्त्रताओ का उल्लेख 'नागरिक स्वातन्त्र्य' इस समावेशक शब्द द्वारा किया जा सकता है। नागरिक स्वतन्त्रता के साथ व्यक्ति को राज्य का नागरिक होने के नाते अलग किस्म की एक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वह राज्य का नागरिक है। राज्य एक सगठन है और उसका सदस्य होने के नाते उसे यह स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसे राजकीय स्वातन्त्र्य कहा जा सकता है। एक समय था जब इस स्वतन्त्रता का रूप अभावात्मक था। और उसमे जोर इस बात पर नही था कि नागरिक क्या करे, बल्कि इस बात पर था कि राज्य सत्ता क्या न करे। और इग्लैण्ड के इतिहास मे स्वतन्त्रता की यह जो अभावात्मक व्याख्या की गई थी उसका कारण एक प्रकार से ऐतिहासिक परिस्थिति ही थी। जहाँ यह भावना काम करती हो कि राजकीय सस्था अपने से एक भिन्न वस्तु है तथा उसके हमले से अपने को बचाना है, वहाँ राजकीय स्वातन्त्र्य का रूप, उसके विरोधात्मक होने के कारण, अभावात्मक हो जाता है। मैं नागरिक हूँ, अत मुझे अपने शरीर एव धन की सुरक्षा का अधिकार है। मैं नागरिक हूँ, अत मुझे अपने दु खो का निवारण करने के लिए कहने का अधिकार है। न्यायप्राप्ति के लिए मुझे अदालत मे जाने का अधिकार है। इन सब बातो के पीछे राज्य तथा व्यक्ति के बीच विभेद रूपी द्वैतभाव मौजूद था। आज राज्य अथवा राज्य सस्था नागरिक से अलग नही है। सरकार या राज्य सस्था कोई ऐसी अभूतपूर्व वस्तु नही, जो हाथी के कान मे से उत्पन्न हुई हो या स्वर्ग लोक से भूलोक पर अवतीर्ण हुई हो; उसका निर्माण हमी नागरिको ने किया है। हमी से वह उत्पन्न हुई है। अत. हममे और उसमे अद्वैत है। इस पृष्ठभूमि मे राजनैतिक स्वतन्त्रता एक भावात्मक वस्तु हो जाती है। यह हमी ने निश्चित किया है कि सत्ता रूपी पालकी मे कौन बैठे। हमीं उस पालकी को ढोते भी हैं। और जब थक जाते हैं या एक निश्चित समय बीत जाता है तब पालकी मे बैठने वाले पालकी उठाने वाले बन जाते है तथा जो अब तक पालकी को उठाता था वह पालकी मे जा बैठता है। स्वतन्त्रता इस बात की नही कि किसी अज्ञात शक्ति द्वारा उत्पादित सरकार की गतिविधियो को सीमित करना है बल्कि इस बात की है कि सरकार को उत्पन्न करना है, उसे नियन्त्रण मे लाना है; उसे किस तरह चलाना होगा, इस बात को निश्चित करना है। सरकार नामक सस्था को किसी ने हम पर लादा नही बल्कि हमने स्वय उसे स्वीकार किया है। इतना ही क्यो, हमने स्वय उसका चुनाव किया है। यह कार्यात्मक भाव आज राजकीय स्वतन्त्रता मे हमे दृष्टिगोचर होता है। चुनाव द्वारा सरकार स्थापित होती है। लगातार विचार-विनिमय के बाद वह कार्यान्वित एव नियन्त्रित होती है तथा इस क्रिया मे प्रत्येक नागरिक यथाशक्ति भाग लेता है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा नागरिक होने के नाते उपलब्ध राजकीय स्वतन्त्रता के साथ-साथ राज्य में व्यक्ति को एक अन्य स्वतन्त्रता भी उपलब्ध होनी चाहिए। वह है आर्थिक स्वतन्त्रता। वहाँ उस व्यक्ति का रिश्ता श्रमिक या कारकून का होना चाहिए। श्रम का स्वरूप चाहे शारीरिक हो या मानसिक—पर राज्य में उसका होते रहना जरूरी है। वह श्रम चाहे सरकारी क्षेत्र में हो या गैर-सरकारी क्षेत्र में। श्रमिक व्यक्ति उक्त श्रम द्वारा अपनी जीविका चलाता है। समाज की दृष्टि से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्त्व है तथा राजकीय दृष्टि से नागरिक स्वतन्त्रता का। परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता का महत्त्व दोनों ही दृष्टियों से है। आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को गत १०० वर्षों में अधिक प्रमुखता प्राप्त हुई है। कुछ लोगों का कहना है कि राजकीय स्वतन्त्रता के रहने पर ही आर्थिक स्वतन्त्रता बनी रह सकती है। कुछ का खयाल है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में वह मौजूद है। तथा कुछ लोगों के खयाल में आर्थिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त बेकार की चीज है तथा उसके कारण विचारों में थोड़ी-सी क्लिष्टता आ जाती है। साथ ही यह सवाल भी उठ खड़ा होता है कि यदि आर्थिक स्वतन्त्रता को जुदा माना जाए तो फिर धार्मिक स्वतन्त्रता को जुदा क्यों न माना जाए? धार्मिक स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में स्पष्ट रूप से आ जाती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा नागरिक स्वतन्त्रता भी एक दृष्टि से एक ही है। नागरिक स्वतन्त्रता राजकीय स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देती है, अतः उसे राजकीय स्वतन्त्रता का स्वतन्त्र नाम दिया जाता है, ऐसा कहने में कोई कठिनाई नहीं। आर्थिक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध भले ही नागरिक स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति स्वतन्त्रता के साथ आता हो, तो भी उस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त में समूचे समाज के आर्थिक सम्बन्धों का विचार समाविष्ट रहता है। और इस दृष्टि से आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को आधुनिक युग में अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। सभी आर्थिक एवं सामाजिक मामलों से आर्थिक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध आता है; राजकीय स्वतन्त्रता भी आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए अभिलषित होती है; अतः सभी स्वतन्त्रताओं में उसका अधिक मूल्य है। सारे तर्क एवं शब्द-जंजाल को एक ओर करके हम कह सकते हैं कि नागरिक स्वतन्त्रता में सभी स्वतन्त्रताओं का समावेश हो जाता है। स्वतन्त्रता के किस स्वरूप को अधिक महत्त्व देना है, यह ठीक से निश्चित हो जाए तो आगे की सारी बातें सुगम हो जाती हैं। और जिस प्रकार एक ही उद्‌गम से भिन्न-भिन्न जलधाराएँ बह निकलती हैं, उसी प्रकार ये तीनों प्रकार की स्वतन्त्रताएँ भी एक ही उद्‌गम से निकलती हैं तथा वास्तव में एक ही वस्तु हैं। यदि वास्तविक रूप इन तीनों का सुरक्षित रहे, तो ये बनी रहती हैं, अन्यथा जो स्वतन्त्रता हमें दिखाई देगी वह दिखावटी होगी। नागरिक एवं मतदाता होने के नाते प्राप्त राज्य संचालन सम्बन्धी स्वतन्त्रता के साथ-साथ, उसके जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अर्थ-व्यवस्था भी समाज में रहनी चाहिए। इस बात को कहने की स्वतन्त्रता तथा अधिकार होना चाहिए। आर्थिक व्यवस्था तथा समाजगत आर्थिक सम्बन्धों में उसका क्या स्थान हो, यह बताने का उसका अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित नहीं है। समाज की दृष्टि से समूची आर्थिक व्यवस्था कैसी रहे, उनमें उद्योगों की रूपरेखा क्या रहे, व्यापार की स्थिति क्या हो इत्यादि बातों के सम्बन्ध में

है। जिस प्रकार 'बिसमिल्ला' का नाम लेकर कोई बकरा काटता है, उसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में भी यह मुल्लापन किया जाता है। देश की रक्षा के नाम पर वर्गद्वेष तथा जातीय कलह आदि को प्रश्रय दिया जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर श्रमिकों की आर्थिक स्वतन्त्रता पर हमला किया जाना है, यह तो रोजमर्रा का किस्सा है। पूँजीपति लोग समझते हैं, जब पूँजी हमारी है, अक्ल हमारी है तब शासन सत्ता भी हमारी ही होनी चाहिए। अधिक नफे के लिए वे श्रमिकों के हित की उपेक्षा करते हैं। मजदूरों को ठीक लगता हो तो काम करें, न लगे तो काम छोड़ दें। मालिक और मजदूर का रिश्ता करार के कानून के मुताबिक है, उसमें राज्य सत्ता या सरकार को दखल देने की जरूरत नहीं है, ऐसा दावा किया जाता है और करार स्वातन्त्र्य के नाम पर आर्थिक स्वातन्त्र्य को दबा दिया जाता है। तथा बेचारे मजदूर और कारकून वस्तुतः गुलाम बन जाते हैं। अन्य अर्थों में 'अर्थस्य पुरुषो दासः' का अनुभव आता है और जब यह हालत प्रजातन्त्र के युग में पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तब राजनैतिक स्वतन्त्रता बीच में पड़ती है। परन्तु यदि बहुमत वाला दल पूँजीपतियों के चंगुल में हो, तो राजनैतिक स्वतन्त्रता के नाम पर श्रमिकों को नए-नए कायदे कानून बना कर दबाने की कोशिश की जाती है। उनके संगठनों को गैरकानूनी ठहराया जाता है। हड़ताल करने का उनका अधिकार कट-छँट जाता है। कभी-कभी तो वह बहुत ज्यादा सिकुड़ जाता है। इस विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि स्वतन्त्रता कोई सीधी-सादी तथा आसान कल्पना नहीं है। स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित होकर लोग एक ओर एकत्रित होते हैं, संगठित होते हैं, प्रयत्नशील होते हैं, उधर दूसरी ओर स्वतन्त्रता के विविध रूपों के सामने आते ही वे बिखरने लगते हैं, विघटित होते हैं, विसंगत दृष्टिकोण पैदा करने लग जाते हैं और फिर उनका आचरण भी उसी प्रकार का होने लग जाता है। स्वतन्त्रता की पताका के नीचे एकत्रित हुए लोग पताका के रंग के बारे में झगड़ने लगते हैं। लाल या तिरंगी, सफेद या हरा? और तब स्वतन्त्रता के नाम के नीचे राष्ट्र में राज्य चलाने की अहमहमिका वाले अनेक लोग पैदा हो जाते हैं तथा हर व्यक्ति अपने ही दल को सच्चा स्वतन्त्रतावादी प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है। तात्त्विक दृष्टि से तो स्वतन्त्रता नामक तत्त्व न्याय की कल्पना के अन्तर्गत है। अतः देखना यही होता है कि राज्य का कानून इस तत्त्व के अनुसार है या नहीं। तथापि जब राज्य का कानून तथा उसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता कार्यान्वित होने लगती है, तब स्वतन्त्रता के विविध स्वरूपों में उसी प्रकार समन्वय की स्थापना करनी होती है, जिस प्रकार व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वतन्त्रताओं के मध्य की जाती है और इसके लिए इकहरी तथा एकांगी विचारसरणी से काम नहीं चलेगा। न्याय का अर्थ होता है सम्बन्धित हितसम्बन्धों तथा व्यक्तियों में अधिक-से-अधिक समन्वय की स्थापना। स्वतन्त्रता के साथ समता का भी समन्वय करना चाहिए। स्वतन्त्रता एवं समता के साथ बन्धुता का भी समन्वय करना चाहिए। यह समन्वय का काम समाज की न्यायबुद्धि के द्वारा किया जाता है। जितने अंश में यह सन्तुलन कायम

होता जाएगा, उसके अंत में स्तर-स्तर का सही स्वरूप परिलक्षित होता जाएगा और तब स्तर-स्तर या समता के आधार विषमता का सवाल नहीं उठाया जाएगा। समानता का विचार करते समय हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का राज्य की निगाह में एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रहता है तथा उस कानूनी व्यक्तित्व के कारण राज्य के सन्दर्भ में व्यवहार करने की उसे स्वतन्त्रता होती है। उसी प्रकार समता की दृष्टि से कानून के सन्दर्भ में हर व्यक्ति को एक दूसरे के समान होना चाहिए। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यहाँ हम व्यक्ति के वैध एवं कानूनी व्यक्तित्व का विचार कर रहे हैं, किसी नैतिक व्यक्तित्व का नहीं। व्यक्ति का वजन १०० पौंड हो या २०० पौंड, ट्राम या रेल का किराया उसे दोनों में बराबर ही देना होगा। क्योंकि उस दृष्टि से सब व्यक्ति समान हैं। पर इसके ये मानी नहीं कि यात्रा करने वाले सभी व्यक्ति नैतिक दृष्टि से बराबर हैं, या प्रत्येक की बुद्धि या योग्यता एक जैसी है। वैध या कानूनी दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व समान है। यद्यपि कानून के सन्दर्भ में वह सब बराबर हैं। कानून या राज्य व्यक्ति को नागरिक की जो प्रतिष्ठा प्रदान करता है वह कम अधिक नहीं हो सकती। वह सबको समान दी जाती है। बिल्कुल, उसका समान होना अनिवार्य होता है। वस्तुतः इसी दृष्टि से राज्य के लिए, हर व्यक्ति के वास्ते अलग-अलग पैमाना रखना कठिन हो जाता होगा। कारण कुछ भी क्यों न हो, यह साफ है कि वैध व्यक्तित्व समान होता है। किसी विश्वविद्यालय का कुलपति हो या वहाँ काम करने वाला कोई कुली हो, विद्वान् पंडित हो या अशिक्षित अशक्त मजदूर हो मतदान की दृष्टि से उसका वैध व्यक्तित्व समान होता है। कानून भले ही यह समानता प्रदान कर दे पर जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी यह समानता बनी रहेगी, ऐसा कोई नहीं कह सकता। ऐसी कोई उम्मीद राज्य द्वारा बंधाई नहीं जा सकती। घुड़दौड़ के घोड़े जिस तरह शुरू-शुरू में एक ही कतार में होते हैं, पर विजय स्तम्भ तक पहुँचते हुए कोई पहला आता है, तो कोई दूसरा। यदि समाज में भी इस प्रकार की विषमता आ जाए तो उसके लिए राज्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। राज्य तथा समाज का काम तो समानता के मार्ग में खड़ी रुकावटों को यथासम्भव कम करना है। उसके लिए उचित वातावरण तैयार करना है। भगवान् ने हर किसी को पैर दिए हैं, पर वेग सबको एक जैसा नहीं दिया। इसका अर्थ यह है कि राज्य को प्रारम्भ में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए, जिसमें अधिक से अधिक समानता हो। संक्षेप में, जो अधिकार एवं हक औरों को हैं, वे मुझे भी होने चाहिएँ तथा सबको बराबर का अवसर मिलना चाहिए। अधिकारों के मामले में धर्म एवं वर्ग का चक्षु प्रवेश नहीं होना चाहिए। वयस्क हो जाने पर नियमानुसार प्रत्येक को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार समान रूप से मिलना चाहिए। कानून द्वारा मिलने वाली समानता का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक की योग्यता भी समान हो जाएगी। इसी प्रकार समान अधिकारों का यह अर्थ नहीं कि हर किसी को हर बात में समानता होगी। जब तक कानून समानता के तत्व को लेकर काम करेगा, तब तक राज्य में समानता बनी रहेगी, यह मानना होगा। इस तात्विक पृष्ठभूमि

के कारण बहुत दफा समानता का अर्थ पूरी तरह से ध्यान में नही आता। सब लोग कानून की निगाह में समान हैं, इसका अर्थ यह है कि सबका कानूनी व्यक्तित्व समान है। कानून की न्यूनाधिकता के साथ-साथ वैध व्यक्तित्व भी न्यूनाधिक होता जाता है तथा उसी अनुपात में कानूनी समता का स्वरूप भी न्यूनाधिक होता जाता है। कुछ एक विचारक तो यहाँ तक कहते हैं कि कानूनी समानता का विचार करते समय व्यक्ति की योग्यता तथा उसकी सामाजिक स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए। रेलो की निगाह में भले ही सबके लिए टिकट की समानता हो, पर जीवन के हर क्षेत्र में समानता नही हो सकती। यदि कोई लाने की कोशिश करे तो यह असम्भव बात होगी। इसका यह मतलब नही कि सब कही कृत्रिम विषमता को बेरोक-टोक बढ़ने दिया जाए। केवल सम्पत्ति की विषमता के कारण वैध व्यक्तित्व को भी विषम कर डालना उचित नही। तथा विशेष बुद्धिमत्ता के कारण वैध व्यक्तित्व को भी विषम कर डालना उचित नही कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार वैध अथवा कानूनी व्यक्तित्व (लीगल परसनालिटी) की समानता के कारण जीवन के सभी क्षेत्रो में समानता लाने की बात कहना भी ठीक नही होगा। कानूनी समानता की बात को लेकर साम्पत्तिक समानता तथा सामाजिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठा की समानता की उम्मीद करना तथा नैसर्गिक पात्रता में भी समानता लाने का प्रयत्न करना या उसे मान कर चलना ठीक नही होगा। एक निश्चित सीमा तक वैध व्यक्तित्व की समानता तथा सामाजिक समानता में मेल का होना उचित है। पर दोनों समानताओं के क्षेत्र के पूरी तरह से एक होने का दावा टिक नही सकेगा और आज तक कभी टिका भी नहीं।

आज के युग में सारी राजनैतिक विचार-धारा समता की दिशा मे प्रवाहित हो रही है। आज की इस मनोवृत्ति एवं एतद्विषयक दृष्टिकोण को तब तक ठीक से नही समझा जा सकता जब तक पिछले युग की बातो का सम्यक् ज्ञान न हो जाए। पिछले युग मे अनेक शताब्दियों तक समाज के बहुसंख्यक लोगो के साथ कानूनी तौर पर भी विषमता युक्त व्यवहार किया जाता था। तब लोगो को कानून की यह विषमता तथा अन्य क्षेत्रों की विषमता एवं विषमतायुक्त न्याय-व्यवस्था अनुचित नही समझी जाती थी। धनी आदमी अगर कोई गुनाह कर बैठे तो न्यायाधीश लोग उसका न्याय एक भिन्न ही दृष्टि से किया करते थे। सामान्य व्यक्ति का सामान्य गुनाह भी कभी-कभी बहुत भयकर गुनाह समझा जाता था। यदि कोई व्यक्ति समाज मे रहकर काम करने के लिए राजी हो; पर उसे रोजगार न मिले तो वास्तव में यह उसका अपराध नही कहा जा सकता; पर कानून ऐसे व्यक्तियों को आवारा मानकर उनकी स्वतन्त्रता को सीमित कर डालता था एव उनकी गतिविधियो पर कड़ी नजर रखी जाती थी। पाश्चात्य देशों मे ऐसे भी उदाहरण देखे गए हैं, जहाँ व्यक्ति को किसी भी नए नगर मे तब तक प्रवेश नहीं मिलता था, जब तक उसके हाथ मे काफी पैसे न हों, या उसे कोई नौकरी न हो। राजनैतिक क्षेत्र मे तो यह विषमता इतो स्वाभाविक समझी जाती थी कि उसके विरुद्ध कुछ बोलना भी अधर्म माना जाता था। राज्यद्रोह तो वह था ही। इंग्लैण्ड में सन् १८३२ तक बहुत ही थोड़े व्यक्ति मतदान

का अधिकार रखते थे। १९१८ में प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मतदान का अधिकार मिला। भारत में १९५० तक यह परिस्थिति थी कि मतदान का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को था, जो घर मालिक हों, किराएदार हों, आयकर देते हों, जमीन वाले हों तथा लगान देते हों, या जो जमीन लेकर खुद उस पर खेती करते हों। जो केवल खेत-मजदूर होता था, उसे मतदान का अधिकार नहीं था। अपने ही देश में वह आवारा समझा जाता था। निरक्षर व्यक्ति को मताधिकार नहीं था। शिक्षित मनुष्य को भी तब तक मताधिकार नहीं था, जब तक वह मकान पर का किराएदार या मालिक न हो। वह भी इसी प्रकार बेघरों का आवारा समझा जाता था तथा राजनैतिक दृष्टि से प्रतिष्ठाशून्य था। कहने का मतलब यह है कि संविधान बन जाने के बाद स्वतन्त्र भारत में आज वयस्क मताधिकार सार्वत्रिक हो गया है। यही कारण है कि अब इस विषमता के दूर हो जाने के बाद समता स्थापित हो गई है तथा अब यही समता का मानसिक वातावरण निर्माण हो गया है और अब यह कहा जा सकता है कि सामान्यतया वैध अधिकार समान हो गया है। जाति, वर्ग, लिंग अथवा धर्म—किसी भी दृष्टि से इन मामलों में भेदभाव से काम नहीं लिया जाता। राज्य के कानून की निगाह में अब भारत के सभी व्यक्ति समान हैं। सबको समान अधिकार होने मात्र से प्रत्येक को उनका इस्तेमाल करने का समान अवसर या शक्ति नहीं मिल जाती। यह सही है सबके साथ न्याय किया जाएगा। न्यायालय के दरवाजे सबके लिए खुले हैं। पर हरेक के पास कोर्ट की फीस या वकील की फीस देने को पैसे मौजूद हों, ऐसी बात नहीं है। कानूनी समता से सामाजिक अथवा सांस्कृतिक समता स्थापित नहीं हो पाती तथा प्रत्येक के लिए उन्मुक्त दिखाई देने वाले न्याय तथा शिक्षा के प्रवेश द्वार वस्तुतः उन्मुक्त नहीं हो पाते। गरीब का लड़का पहले दर्जे में पास होकर भी सिर्फ पैसे की कमी के कारण अगली पढ़ाई नहीं कर सकता तथा विश्वविद्यालय के दरवाजे खुले होने पर भी वह उसमें प्रवेश नहीं कर पाता। इसी प्रकार यदि गरीब पर अन्याय हो जाए तो वह रुपयों-पैसों की कमी के कारण न्याय की तराजू के पलड़े को अपनी ओर नहीं झुका सकता। कोर्ट की प्रक्रिया तथा नियम बहुत महँगे होते हैं। एक तरह से न्याय को मोल लेना होता है तथा उसकी कीमत चुकाने की हैसियत हरेक में नहीं होती। इसके साथ ही हम आधुनिक युग में कुछ ऐसी संस्थाएँ भी देखते हैं, जो गरीब मवक्किलों की सहायता किया करती हैं। बहुत दफा राज्य भी इस क्षेत्र में सहायता करता है। तथापि असली सवाल तो यह है कि जिसे हम सामाजिक समता कहते हैं, उसका सही मानों में लोग अनुभव कर सकें। जब तक यह नहीं होता, तब तक वैध समता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यह सामाजिक समता लाने का प्रयत्न कौन करे? यदि आप कहें कि राज्य करे, तो उसकी राह में जो कठिनाइयाँ तथा सीमाएँ हैं, उन्हें भी आपको ठीक से समझ लेना चाहिए। सामाजिक क्षेत्र में लाई जाने वाली समता स्वाभाविक गति से सांस्कृतिक क्षेत्र में भी प्रवेश करती है और यदि वह आर्थिक क्षेत्र में भी पहुँचने लगे, तो उसे कोई मना नहीं कर सकता। राजनैतिक समता का यह पहला पड़ाव है। सामाजिक समता समता की समूची यात्रा का दूसरा पड़ाव है। मतदान की दृष्टि से सब लोग समान

हैं। तब सवाल उठता है कि सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों मे भी वे लोग समान क्यो न हों ? एक बार नागरिक होने के नाते किसी भी सार्वजनिक स्थान में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाने के बाद उसे सार्वजनिक मण्डलों, शिक्षा-क्षेत्रों, मनोरंजन के स्थानों तथा उपाहारगृहो आदि मे प्रवेश करने से रोकना असम्भव हो जाता है और इसी कारण राज्य अपने क्षेत्र में सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए हस्तक्षेप करता है। देवालय एवं मन्दिर खोले जाते हैं। सत्याग्रह तथा उपवास से लोकमत को जागरित किया जा सकता है ; समाज की आत्मा को जगाया जा सकता है ; समाज की सदसद्विवेक बुद्धि को उद्‌बुद्ध किया जा सकता है; तथापि इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए कानून की ही आवश्यकता पड़ती है। कानून शक्तिशाली लोक-मत का हथियार है। वह एक हुक्म है। अर्थात् यदि कोई उसका पालन न करे, तो उसे सजा दी जा सकती है। पर साथ ही वह एक प्रकार आह्वान भी है। तथा वह नागरिक के मन मे ऐसा भाव उत्पन्न करता है, कि कानून जो कुछ कहता है, वह सामान्यतया और कुछ नही तो कम से कम योग्य एवं न्याययुक्त तो अवश्य है तथा इस प्रकार सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र मे स्थापित होने के बाद समता अपने तीसरे पड़ाव की ओर चल पड़ती है। एक बार शिक्षा के क्षेत्र मे समान अवसर मिलने लगा तो समझ लीजिए कि आर्थिक समता की दिशा मे आप ने अपना पहला कदम रखा। असली अवसर एवं समता तब है, जब शिक्षा के इच्छुक एव पात्र व्यक्ति को राज्य की ओर से आवश्यक आर्थिक सहायता मिलने लगे। शिक्षा के क्षेत्र मे विषमता का अर्थ हुआ सास्कृतिक क्षेत्र मे विषमता। शिक्षा का अवसर न मिलने से मन की प्रगति विशेष नही हो पाती। ज्ञान एवं विज्ञान से वह व्यक्ति वचित रह जाता है और जो लोग पैसे के धनी होते हैं, वे शिक्षा एवं सस्कृति के क्षेत्र में भी धनी हो जाते हैं। गरीब लोग इन दोनो वस्तुओं से हाथ धो बैठते है। फलस्वरूप समाज मे इन दोनो वर्गों के बीच की विषमता की खाई बहुत चौड़ी हो जाती है। अच्छे संस्कार शिक्षा का फल हैं। अर्थात् यदि शिक्षा न मिले तो अच्छे सस्कार भी नही आ पाते। अच्छे स्वभाव के व्यक्ति कही भी, किसी भी परिस्थिति मे मिलें, कभी उद्दण्ड व्यवहार नही करेंगे। वे सभ्यता का परित्याग नही करेंगे तथा उनके जीवन मे अहंकार एवं दंभ की बदबू नही आएगी। यदि शिक्षा का स्तर ऊँचा हो जाए, तो आप देखेंगे कि संस्कृति भी अधिक व्यापक हो जाएगी तथा वह अधिक मात्रा मे दृष्टिगोचर होने लगेगी। यह सही है कि एक चन्द्रमा के प्रकाश के कारण ही रात ज्योतिष्मती कहलाती है। पर अनन्त तारों के टिमटिमाने से भी आकाश के सौन्दर्य मे वृद्धि होती है। परम्परागत तथा आनुवंशिक होने के कारण अनेक व्यवसाय अच्छे होते हैं, अतः वहाँ अधिक एव आधुनिक स्वरूप का ज्ञान देना निरर्थक है, ऐसा कहना मूर्खता का द्योतक सिद्ध होगा। परम्परागत प्रणाली से खेती करने तथा खेती के शास्त्र को समझकर खेती करने मे जो फर्क है, उससे इनकार नही किया जा सकता। लिखावट के देखने मे बढ़िया होने के साथ-साथ यदि शुद्ध लेखन के नियम का पालन भी किया गया हो, तो पाठक का मन प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार जीवन मे शिक्षा की प्राप्ति से सामान्य आचार-विचार भी उन्नत होते हैं तथा उनमे सभ्यता का स्तर ऊँचा होना

है। अतः न्यूनतम आवश्यक शिक्षा हर व्यक्ति को अवश्य प्राप्त होनी चाहिए और यदि किसी को और अधिक पढ़ना हो तो उसकी सुविधा राज्य को करनी चाहिए। शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में १०० प्रतिशत समता का स्थापित होना मुश्किल है। कोई कहे कि ऐसा हो सकता है, तो यह स्पष्ट ही मूर्खता या ढोंग सिद्ध होगा। पहली बात तो यह है कि जितनी खोपड़ियाँ हैं, उतनी प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक 'मुण्ड' में 'मति' की 'भिन्नता' भी एक निर्विवाद सत्य है। इस सत्य को उड़ाया नहीं जा सकता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से भी यदि हम सोचें तो हम पाएँगे कि कहीं-कहीं व्यक्ति पर समता का लादना उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना सिद्ध होता है। यदि ऐसा नियम कर दिया जाए कि हर कोई एक ही किस्म की पुस्तकें पढ़े, एक ही किस्म के नाटक तथा फिल्मी पिक्चर देखे, तो इससे समता तो स्थापित हो जाएगी, पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्पष्ट ही अपहरण हो जाएगा। जो विचार गुरुदत्त के दिमाग में आते हैं, वही हर व्यक्ति के दिमाग में आएँ, ऐसा होना तो असम्भव है ही, पर इसकी उम्मीद करना भी बेवकूफी से कम नहीं है। विश्वविद्यालय का लेक्चरर, मामलेदार की कचहरी में काम करने वाला कारकून, कपड़े की दुकान में गज लेकर कपड़े फाड़ने वाला विक्रेता, बुधवार बाग में कूँची और बाल्टी हाथ में लिए खड़ा रहने वाला रंगरेज आदि लोगों की मानसिक भूमि समान नहीं है। अतः उनमें समान विचारों की उपज नहीं हो सकती। गुरु एक ही पाठ अपने सब शिष्यों को पढ़ाता है, पर उसका फल जुदा-जुदा देखने को मिलता है। आकाश से बरसने वाला साफ पानी जहाँ-जहाँ गिरेगा, वहाँ-वहाँ जमीन के गुण-धर्मों के अनुसार अलग-अलग स्वाद का हो जाएगा। इसी प्रकार दूसरी बात यह है कि समाज में व्यक्ति जिस काम को करता है, उसके मन की रचना भी उसके अनुसार तथा उसके लिए उचित रूप धारण करती चली जाती है। दो-चार रेलवे के कारकून एक जगह जमा हो जाएँ, या दो-चार मिल के मजदूर एक जगह जमा हो जाएँ या दो-चार मामलेदार एक जगह जमा हो जाएँ, तो आप देखेंगे कि प्रत्येक समूह की चर्चा का विषय एक-दूसरे से जुदा होगा। इतना ही नहीं, आप देखेंगे कि सब लोग आमतौर से अपने-अपने व्यवसाय के बारे में ही बात-चीत करेंगे। इन दोनों बातों का विचार करने पर आप पाएँगे कि स्वाभाविक विविधता एवं व्यावसायिक विविध दृष्टिकोणों के कारण सब कहीं समता का होना असम्भव एवं अनुचित है। तथापि इन दो बातों की सीमाओं का खयाल रखते हुए विषमता के प्रकारों को जितना कम किया जा सके, उतना अच्छा होगा। समाज में सब कहीं एक-सा पन रहे, तो वहाँ, सम्भव है, अनुशासन रह जाए, पर सौन्दर्य की गारण्टी नहीं दी जा सकती। औचित्य का भी विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। सच तो यह है कि, मानवीय जीवन में जितनी विविधता रहेगी, उतना ही सौन्दर्य अधिक होगा, सभ्यता व्यापक बनेगी तथा प्रगति अधिक तीव्र गति से होगी और यह भी कहा जा सकता है कि विविधता या विषमता समता की मौलिक भावना के लिए विसंगत नहीं है। समता का अर्थ एकजैसापन नहीं है। समता का अर्थ सिक्कों जैसा एकजैसापन नहीं है। जो भी समता उत्पन्न हो, उसे व्यक्ति के विकास में से उत्पन्न होना चाहिए। व्यक्ति पर सीमाओं या प्रतिबन्धों को लादकर या उनसे

उसे जकड़कर समता नहीं लाई जा सकती। समता का मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति का विकास। वह जिससे सिद्ध होता हो, वही बात समाज में की जानी चाहिए और यदि कोई समता को 'एकजैसापन' मानकर समाज में कुछ करने लग जाए, तो फल समता के मौलिक मूल्यों को कम करने वाला ही होगा। समता के तत्त्वों को आर्थिक क्षेत्र में लागू करना अधिक मुश्किल है। तथा यहाँ भी राज्य ही को अग्रेसर होना चाहिए। इतना ही नहीं, इसकी सारी जिम्मेवारी उसे अपने ऊपर लेनी चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.' यह उपदेश उपनिषद् काल से चला आ रहा है। जो हाथ नहीं लगता, उसका त्याग किया जाता है। हाथ से मछली निकल गई तो मछुहारा समझ लेता है, चलो मैंने उतना धर्म-कर्म कर डाला। यही अनुभव युगों से चला आ रहा है। जो जरूरत से ज्यादा हो, वह माल चोरी का माना जाए, यह सिद्धान्त बहुत पुराना है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वैल्यू) के सिद्धान्त द्वारा उसको आधुनिक जामा पहना दिया है। तो भी आवश्यकताओं की इतनी वृद्धि की जा रही है कि, जो कुछ हाथ लगता है, या जो कुछ हाथ लगेगा, वह अधिक सिद्ध ही नहीं होता, उलटे कम प्रतीत होता है। महत्त्वाकांक्षा तथा लोभ की न तो पहले ही कोई सीमा निर्धारित थी न आज ही है। लोगों की सद्भावना पर, समाज में निर्माण होने वाली सम्पत्ति का वितरण जब तक आधारित रहेगा, तब तक आर्थिक दृष्ट्या विषमता ही समाज का एकमात्र स्थायी भाव बनी रहेगी। जो सम्पत्ति अपने पास है, वह परोपकारार्थ है, यह कहने के लिए कोई नाराज नहीं होता : पर करने का हौसला किसी में नहीं। 'दानं संविभागः' यह सही है। दान का अर्थ है, सम्पत्ति का सम्यक् एवं समान विभाजन। पर इस किस्म का दान तो कोई भी नहीं करता। जीवन-काल में तो कोई करता ही नहीं; मरने के बाद भी मृत्यु-पत्र द्वारा वह यह लिख जाता है कि उसके धन का उपयोग उसकी इच्छा के अनुसार ही किया जाए और कानून भी ऐसा करने की स्वीकृति देता है। मृत व्यक्ति की इच्छा उसकी अर्जित सम्पत्ति पर तक्षक नाग की भाँति पहरा देती रहती है। इन सब बातों को देखते हुए आर्थिक समता की अनायास स्थापना सुतरां असंभव है और यदि स्थापना हुई भी तो उसका टिकना मुश्किल है। अब तक का संसार का अनुभव हमें यही बताता है। तात्पर्य यह है कि आर्थिक समता का प्रयत्न राज्य का कर्तव्य मानकर १६वीं सदी से लेकर दुनिया के विभिन्न राज्यों ने इस दिशा में कोशिश की है। २०वीं सदी में तो इस दिशा में और भी बड़े प्रयत्न किए गए हैं और किए जा रहे हैं। इस दृष्टि से गत १०० वर्षों में काफी बड़े पैमाने पर यह आर्थिक स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर हो रही है। पर उसे पैमाने पर आर्थिक समता के दर्शन नहीं हो पा रहे। आर्थिक समता का विचार दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए। एक दृष्टि यह कि आर्थिक समता एक प्रतिष्ठा है तथा इसी प्रकार आर्थिक समता के विचार में सम्पत्ति एवं प्राप्ति का भी विचार आता है। प्रतिष्ठा की दृष्टि से विचार करते समय देश की उत्पादन व्यवस्था तथा उसके संगठन एवं प्रक्रिया का विचार करना पड़ता है। कारखाने पर राष्ट्र का स्वामित्व होने पर भी यह देखना जरूरी है कि उसमें काम करने वाले मजदूरों एवं व्यवस्थापक लोगों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में अर्थात् आर्थिक

है। अतः न्यूनतम आवश्यक शिक्षा हर व्यक्ति को अवश्य प्राप्त होनी चाहिए और यदि किसी को और अधिक पढ़ना हो तो उसकी सुविधा राज्य को करनी चाहिए। शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में १०० प्रतिशत समता का स्थापित होना मुश्किल है। कोई कहे कि ऐसा हो सकता है, तो यह स्पष्ट ही समता का ढोंग सिद्ध होगा। पहली बात तो यह है कि जितनी आकृतियाँ हैं, उतनी प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् 'मुण्ड' में 'मति' की 'भिन्नता' भी एक निर्विवादसिद्ध सत्य है। इस सत्य को उड़ाया नहीं जा सकता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से भी यदि हम सोचें तो हम पाएँगे कि कहीं-कहीं व्यक्ति पर समता का लादना उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना सिद्ध होता है। यदि ऐसा नियम कर दिया जाए कि हर कोई एक ही किस्म की पुस्तकें पढ़े, एक ही किस्म के नाटक तथा सिनेमा पिक्चर देखे, तो इसमें समता तो स्थापित हो जाएगी, पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्पष्ट ही अपहरण हो जाएगा। जो विचार गुरुदेव के दिमाग में आते हैं, वही हर व्यक्ति के दिमाग में आवें ऐसा होना तो असम्भव है ही, पर इसकी उम्मीद करना भी बेवकूफी से कम नहीं है। विश्वविद्यालय का तरुण, मामलेदार की कचहरी में काम करने वाला कारकून, कपड़े की दुकान में गज लेकर कपड़े फाड़ने वाला विक्रेता, बुधवार बाग में कूँची और बाल्टी हाथ में लिए खड़ा रहने वाला रंगरेज आदि लोगों की मानसिक भूमि समान नहीं है। अतः उनमें समान विचारों की उपज नहीं हो सकती। गुरु एक ही पाठ अपने सब शिष्यों को पढ़ाता है, पर उसका फल जुदा-जुदा देखने को मिलता है। आकाश से बरसने वाला साफ पानी जहाँ-जहाँ गिरेगा, वहाँ-वहाँ जमीन के गुण-धर्मों के अनुसार अलग-अलग स्वाद का हो जाएगा। इसी प्रकार दूसरी बात यह है कि समाज में व्यक्ति जिस काम को करता है, उसके मन की रचना भी उसके अनुसार तथा उसके लिए उचित रूप धारण करती चली जाती है। दो-चार रेलवे के कारकून एक जगह जमा हो जाएँ, या दो-चार मिल के मजदूर एक जगह जमा हो जाएँ या दो-चार साहूकार एक जगह जमा हो जाएँ, तो आप देखेंगे कि प्रत्येक समूह की चर्चा का विषय एक-दूसरे से जुदा होगा। इतना ही नहीं, आप देखेंगे कि सब लोग आमतौर से अपने-अपने व्यवसाय के बारे में ही बात-चीत करेंगे। इन दोनों बातों का विचार करने पर आप पाएँगे कि स्वाभाविक विविधता एवं व्यावसायिक विविध दृष्टिकोणों के कारण सब कहीं समता का होना असम्भव एवं अनुचित है। तथापि इन दो बातों की सीमाओं का ख्याल रखते हुए विषमता के प्रकारों को जितना कम किया जा सके, उतना अच्छा होगा। समाज में सब कहीं एक-सा पन रहे, तो वहाँ, सम्भव है, अनुशासन रह जाए, पर सौन्दर्य की गारण्टी नहीं दी जा सकती। औचित्य का भी विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। सच तो यह है कि, मानवीय जीवन में जितनी विविधता रहेगी, उतना ही सौन्दर्य अधिक होगा, सभ्यता व्यापक बनेगी तथा प्रगति अधिक तीव्र गति से होगी और यह भी कहा जा सकता है कि विविधता या विषमता समता की मौलिक भावना के लिए विसंगत नहीं है। समता का अर्थ एकजैसापन नहीं है। समता का अर्थ सिक्कों जैसा एकजैसापन नहीं है। जो भी समता उत्पन्न हो, उसे व्यक्ति के विकास में से उत्पन्न होना चाहिए। व्यक्ति पर सीमाओं या प्रतिबन्धों को लादकर या उनसे

उसे जकड़कर समता नहीं लाई जा सकती। समता का मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति का विकास। वह जिससे सिद्ध होता हो, वही बात समाज में की जानी चाहिए और यदि कोई समता को 'एकजैसापन' मानकर समाज में कुछ करने लग जाए, तो फल समता के मौलिक मूल्यों को कम करने वाला ही होगा। समता के तत्त्वों को आर्थिक क्षेत्र में लागू करना अधिक मुश्किल है। तथा यहां भी राज्य ही को अग्रेसर होना चाहिए। इतना ही नहीं, इसकी सारी जिम्मेवारी उसे अपने ऊपर लेनी चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' यह उपदेश उपनिषद् काल से चला आ रहा है। जो हाथ नहीं लगता, उसका त्याग किया जाता है। हाथ से मछली निकल गई तो मछुहारा समझ लेता है, चलो मैंने उत्तम धर्म-कर्म कर डाला। यही अनुभव युगों से चला आ रहा है। जो जरूरत से ज्यादा हो, वह माल चोरी का माना जाए, यह सिद्धान्त बहुत पुराना है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वैल्यू) के सिद्धान्त द्वारा उसको आधुनिक जामा पहना दिया है। तो भी आवश्यकताओं की इतनी वृद्धि की जा रही है कि, जो कुछ हाथ लगता है, या जो कुछ हाथ लगेगा, वह अधिक सिद्ध ही नहीं होता, उलटे कम प्रतीत होता है। महत्त्वाकांक्षा तथा लोभ को न तो पहले ही कोई सीमा निर्धारित थी न आज ही है। लोगों की सद्भावना पर, समाज में निर्माण होने वाली सम्पत्ति का वितरण जब तक आश्रित रहेगा, तब तक आर्थिक दृष्ट्या विषमता ही समाज का एकमात्र स्थायी भाव बनी रहेगी। जो सम्पत्ति अपने पास है, वह परोपकारार्थ है, यह कहने के लिए कोई नाराज नहीं होता; पर करने का हौसला किसी में नहीं। 'दानं संविभाग:' यह सही है। दान का अर्थ है, सम्पत्ति का सम्यक् एवं समान विभाजन। पर इस किस्म का दान तो कोई भी नहीं करता। जीवन-काल में तो कोई करता ही नहीं; मरने के बाद भी मृत्यु-पत्र द्वारा वह यह लिख जाता है कि उसके धन का उपयोग उसकी इच्छा के अनुसार ही किया जाए और कानून भी ऐसा करने की स्वीकृति देता है। मृत व्यक्ति की इच्छा उसकी अर्जित सम्पत्ति पर तक्षक नाग की भांति पहरा देती रहती है। इन सब बातों को देखते हुए आर्थिक समता की अनायास स्थापना सुतरां अशक्य है और यदि स्थापना हुई भी तो उसका टिकना मुश्किल है। अब तक का संसार का अनुभव हमें यही बताता है। तात्पर्य यह है कि आर्थिक समता का प्रयत्न राज्य का कर्तव्य मानकर १९वीं सदी से लेकर दुनिया के विभिन्न राज्यों ने इस दिशा में कोशिश की है। २०वीं सदी में तो इस दिशा में और भी बड़े प्रयत्न किए गए हैं और किए जा रहे हैं। इस दृष्टि से गत १०० वर्षों में काफी बड़े पैमाने पर यह आर्थिक स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर हो रही है। पर उस पैमाने पर आर्थिक समता के दर्शन नहीं हो पा रहे। आर्थिक समता का विचार दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए। एक दृष्टि यह कि आर्थिक समता एक प्रतिष्ठा है तथा इसी प्रकार आर्थिक समता के विचार में सम्पत्ति एवं प्राप्ति का भी विचार आता है। प्रतिष्ठा की दृष्टि से विचार करते समय देश की उत्पादन व्यवस्था तथा उसके संगठन एवं प्रक्रिया का विचार करना पड़ता है। कारखाने पर राष्ट्र का स्वामित्व होने पर भी यह देखना जरूरी है कि उसमें काम करने वाले मजदूरों एवं व्यवस्थापक लोगों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में अर्थात् आर्थिक

विषमता वाली व्यवस्था में इन दोनो श्रेणियो के लोगो के जीवन-स्तर में तथा आमदनी मे अन्तर रहेगा। ऐसी स्थिति मे समता की प्रतिष्ठा वहाँ नही हो सकेगी। उत्पादन समान रूप से हुआ हो, तथा मान लीजिए, आमदनी भी न्यूनाधिक मात्रा मे सबकी समान रही हो, तो भी हम देखते है कि, इतने भर से समता का भाव उत्पन्न नही होता। जब तक उत्पादन एव निर्मिति के कार्य मे ऊपर से लेकर नीचे तक की सारी क्रिया मे लगे हुए कार्यकर्त्ता लोग यह अनुभव नही करेंगे कि हम सब एक ही दर्जे के भागीदार हैं, तब तक समता भाव वहाँ पनप नही सकेगा। अतः प्रतिष्ठा की दृष्टि से समता भाव को पनपाना हो तो सारे औद्योगिक क्षेत्र मे कुछ इस प्रकार की सगठन की भावना काम करनी चाहिए, जिसमे मजदूर एव मैनेजर, हथौड़े से काम करने वाले एव कलम से काम करने वाले सब लोग अपने को एक ही भूमिका पर अनुभव करें। इस दृष्टि से विचार करने से यह साफ हो जाता है कि यह समता तभी सम्भव है, जब इन उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण एव नियमन सरकार के द्वारा किया जाए। अन्यथा नही। तब ये प्रश्न महत्त्व के हो जाते है कि सरकार यह सब कब करे, किती मात्रा मे करे तथा किस प्रकार करे। तथापि यहाँ इन प्रश्नो का विचार करने की आवश्यकता नही। मुख्य मुद्दा यह है कि समता का वातावरण उत्पन्न करने के हेतु प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा अन्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा के समान ही होनी चाहिए। प्रतिष्ठा एव साख में, आमदनी एव सम्पत्ति मे विषमता का रहना भी ठीक नही। अतः राष्ट्र की सम्पत्ति के तथा चालू आमदनी के बीच की विषमता को दूर करने का काम भी राज्य ही को करना होगा और इस दृष्टि से सम्पत्ति के वितरण तथा उसके सग्रह के सम्बन्ध मे गत ६० वर्षों मे, आधुनिक राज्यो द्वारा, सर्वथा पूँजीवादी राज्यो द्वारा भी, प्रयत्न किए गए है। नाना प्रकार के कर लादकर चालू आमदनी एक बहुत बड़ा हिस्सा राज्य खींच लेता है। इसी प्रकार मजदूरी बढ़ाकर न्यूनतम मजदूरी की रकम निश्चित करके, नाना प्रकार की सुख सुविधाओं का प्रबन्ध करके सामाजिक कल्याण के क्षेत्र मे व्यापक खर्च करके आमदनी की विषमता को कम करने के प्रयत्न सब कहीं हो रहे हैं। निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क डॉक्टरी सहायता आदि बातो को अङ्गीकार करके समाज के कम आमदनी वाले लोगो के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा किया जा रहा है। जिसके पास आवश्यकता से अधिक है, उसकी दान बुद्धि पर भरोसा न रखकर आजकल के राज्य कर के रूप मे उसकी आमदनी मे से अपना हिस्सा ले लेते है तथा जिनके पास कुछ भी नही या आवश्यकता से कम है, उनकी सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध इस प्रकार प्राप्त धनराशि से किया करते है। रुपये पैसे की दृष्टि से जो लोग ऊपर हैं उन्हें नीचे लाने तथा जो नीचे हैं उन्हें ऊपर लाने की इन दो क्रियाओं द्वारा आर्थिक समता का समतल निर्माण करने के प्रयत्न सब कहीं किए जा रहे हैं। तो भी यह कहना होगा कि केवल कर लेने तथा समाज कल्याण के कार्यक्रम को हाथ मे लेने ही से आर्थिक विषमता बहुत बड़े पैमाने पर दूर नही हो सकती। यह इग्लैण्ड तथा अमेरिका का अनुभव हमे बताता है। आवश्यकता से अधिक आमदनी होने पर लोग बचत करना आरम्भ कर देते हैं। इन कल्याणकारी योजनाओं मे प्राप्त अनुभव हमें बताता है कि इस प्रकार से बचत करने वालो की

संख्या बढ़ती जा रही है। हाल ही में किन्हीं क्षेत्रों में इस मामले में जांच की गई थी; उसी से यह जानकारी प्राप्त हुई है। हम देखते हैं कि कहीं-कहीं मालिक और मजदूर दोनों ने मिलकर धन्धे की भागीदारी का तत्त्व स्वीकार किया है तथा उसके फलस्वरूप, अनेक स्थानों पर स्वामित्व के वे अधिकार जो इने-गिने आदमियों के हाथ में रहा करते थे अब अधिक लोगों के हाथ में चले गए हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इससे आर्थिक समता स्थापित हो गई है। आज अमेरिका में पूंजी लगाने वालों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो गई है। बीमा करवाने वालों की संख्या भी अधिक हो गई है। तो भी समाज के सभी व्यक्तियों को इस व्यापक स्वामित्व के अधिकार अभी तक नहीं मिल पाए हैं। यह ठीक है कि लोग पहले के मुकाबले ज्यादा मालदार हो गए हैं; यह भी ठीक है कि देश में पहले के मुकाबले समृद्धि बढ़ गई है; तथापि देश की कंगाली तथा साम्पत्तिक विषमता में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। कोई स्वेच्छा से भले ही भागीदारी में उत्पादन करे, या सारा उत्पादन राज्य के नियन्त्रण या स्वामित्व में दे डालें; पर इसका निश्चित उद्देश्य होना चाहिए—आर्थिक समता की स्थापना। इस मामले में अधकचरे प्रयत्नों से काम नहीं चलेगा। जब तक व्यक्तिगत क्षेत्र में थोड़ा-सा देने तथा ढेर सारा पेट में कर लेने की कोशिशें जारी हैं, तब तक सही मानों में आर्थिक समता की स्थापना नहीं हो सकती। अधिकांश लोगों को थोड़ा-सा अधिक मिल जाने से ही काफी खुशी होती है। पर उसका असर उनकी नैतिक भावना एवं आचरण पर पड़ता है। इंग्लैण्ड के पिछले साल के चुनावों में यही दृष्टिगोचर हुआ। जिन लोगों के रहन-सहन का स्तर बढ़ गया वे लोग उन्हीं लोगों को भुला बैठे, जिनकी सहानुभूति एवं सहयोग से उन्हें यह फल प्राप्त हुआ था। सुखी होते ही लोग आदर्शों को भूल जाते हैं। मजदूर-दल की पराजय का बहुतों ने यही कारण बताया है। सारा का सारा समाज मालदार हो जाए तो भी कोई दावे के साथ यह कह नहीं सकता कि वहां आर्थिक समता स्थापित हो ही जाएगी। उलटे, लोग इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि समाज के सधन हो जाने से समाज नैतिक गिरावट का शिकार बन जाता है।

सही मानों में वैध समता की स्थापना करनी हो तो आर्थिक समता सम्बन्धी प्रतिष्ठा तथा आमदनी की दृष्टि से बहुत सा काम करना होगा। यदि हम चाहते हैं कि वैध समता केवल सिद्धान्त न बनी रहे, वरन् एक व्यवहारसिद्ध वस्तु बन जाए तो आर्थिक समता के क्षेत्र में हमें बहुत ही तीव्र गति से प्रगति करनी होगी। प्रत्येक व्यक्ति नागरिकता की दृष्टि से समान है, ऐसा कह देने भर से समता सिद्ध नहीं हो जाती। जब तक आर्थिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक आमदनी में समता नहीं, तब तक वैध समता एक आदर्श वस्तु ही बनी रहेगी। केवल मनोरथ करने से ही किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। अभीष्ट वस्तु की याचना करने से ही यह थोड़े ही सिद्ध होता है कि वह वस्तु मिल भी गई है? अदालत के सामने समानता बरती गई, मतदान के क्षेत्र में समानता मिल गई, इससे यह थोड़े ही सिद्ध होता है कि नौकरी के मामले में भी वही व्यवहार होगा? मतदान का अधिकार मिलने का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक ० खासदार या आमदार हो सकेगा। उलटे, ऐसा असम्भव है कि

सामाजिक तथा पक्षनिष्ठ राजनैतिक कारणों से योग्यता की अपेक्षा उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। सेवा की अपेक्षा राजनैतिक सुविधा ही अन्तिम कसौटी साबित होती है। सत्य की अपेक्षा प्रोपेगेण्डा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक को भाषण करने की स्वतन्त्रता है, पर आजकल के दिनों में सभा बुलाना तथा उसका इन्तजाम करना पैसे का मामला हो गया है। भले ही कोई व्यक्ति बहुत बढ़िया भाषण करने वाला हो, पर पैसे एवं वसीले के अभाव में उसकी भाषण कला दरिद्र व्यक्ति के मनोरथ की भांति उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि सही मानो में व्यक्ति अपने नागरिक अधिकारों का तभी आनन्द उठा सकता है, जब उसके पास आर्थिक समता एवं आर्थिक प्रतिष्ठा हो। समान नागरिकता के लिए आर्थिक समता की आवश्यकता का यह अर्थ नहीं कि आर्थिक समता बिलकुल निरपेक्ष या एक ही नाप की हो। आर्थिक समता का सम्बन्ध जिस प्रकार हम वैध अर्थात् कानूनी समता से जोड़ते हैं, उसी प्रकार हमें उस सम्बन्ध को स्वतन्त्रता एवं समता के मुख्य उद्देश्य व्यक्ति विकास के साथ भी जोड़ना चाहिए। व्यक्ति के विकास के लिए, उसकी नैतिक एवं मानसिक पात्रता को बढ़ाने के लिए, उसे बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न करने के लिए समाज तथा राज्य अस्तित्व में आए हैं। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा समता ये दो साधन हैं। अतः जितनी मात्रा में व्यक्ति के विकास के लिए इन साधनों का उपयोग किया जाएगा, उतनी मात्रा में व्यक्ति को ये साधन उपलब्ध होते जाने चाहिएँ। समता के नाम पर आर्थिक क्षेत्र में एक सिरे से सब के साथ एक ही नाप का बरताव करने से व्यक्ति का विकास न होकर ह्रास ही होगा। तथा सामाजिक दृष्टि से सम्पत्ति का अनुचित उपयोग किए जाने की सम्भावना बढ़ जाएगी। हर व्यक्ति के कन्धों पर एक जितना ही बोझ लाद देने से न्याय न होकर अन्याय ही होगा। अतः उतना ही बोझ लादना चाहिए, जितना वह आसानी से उठा सके। ऐरावत पर अम्बारी रखना उचित होगा पर चिऊँटी की पीठ पर अनाज की कनी ही रखना उचित होगा। सामान्यतया यह विचारधारा स्वीकार करने योग्य है। उस अवस्था में हमें आर्थिक मामलों पर विचार करते समय आर्थिक आमदनी, नैतिक प्रगति तथा व्यक्ति विकास इन तीनों में परस्पर संगति बैठाने के उपाय पर विचार करना चाहिए। यह मामला काफी कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। व्यक्ति के विकास के लिए अधिकार समान हों, वैध व्यक्तित्व समान हो, यह सबको मन्जूर है। इसे देखते हुए कोई यह सिद्धान्त बना सकता है कि उपरोक्त समता की स्थापना के लिए सम्पत्ति का विभाजन तथा स्वामित्व शतप्रतिशत समान होना चाहिए। उसमें पूर्ण समत्व होना चाहिए। पर थोड़ा सा विचार करने पर हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से तथा अपने उद्देश्य की दृष्टि से सफल नहीं हो सकता। अतः इस मामले में कुछ निश्चित एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन करने वाले तत्त्वों को ढूँढ निकालना चाहिए। अब हमें देखना होगा कि यदि हम हाथ में आई सम्पत्ति अथवा साधनों के यथाप्रमाण तथा यथोचित उपयोग को कसौटी बनाएँ तो

व्यक्ति विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए; समाजगत आर्थिक साधन सम्पत्ति को दुरुपयोग से बचाने के हेतु किन्हीं निश्चित कसौटियों का होना बहुत आवश्यक है, यह हम ऊपर कह आए हैं। यह स्पष्ट है कि जिस साधन सामग्री को व्यक्ति के हाथ में देना है, उसका उपयोग करने की क्षमता उसमें है या नहीं यह देख लिया जाए। संगीत में रुचि हो या न हो, गले में मिठास हो या न हो, समता के नाम पर सबको सारंगियाँ बाँट देना, या संगीत के अन्य साधन बाँट देना स्पष्ट ही सामाजिक सम्पत्ति का दुरुपयोग है। साथ ही यह मानना भी ठीक नहीं कि एक व्यक्ति जो उपयोग करेगा, दूसरा व्यक्ति उससे अधिक अच्छा उपयोग करेगा। साधन सामग्री का वितरण करते समय व्यक्ति की विद्यमान पात्रता एवं सम्भाव्य पात्रता दोनों का विचार किया जाना चाहिए। साथ में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्य जहाँ किसी वस्तु को प्राप्त करने की कोशिश करता है, वहाँ वह अपनी पात्रता को बढ़ाने की भी कोशिश करता रहता है। अक्षरों की लिखावट शुरू-शुरू में अच्छी नहीं होती पर आगे चलकर वह सुधर जाती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रयत्न करने पर जैसे किसी अभीष्ट की प्राप्ति होती है, वैसे उसमें पात्रता भी आती जाती है। गन्ना जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे उसमें रस भी बढ़ता जाता है और मिठास भी बढ़ती जाती है। इस बात का रहस्य समझ लेना चाहिए। उम्र की वृद्धि के साथ-साथ समझदारी भी बढ़ती जाती है, यह कहावत सच्चे अनुभव पर आधारित है। मनुष्य के प्रयत्नों का फल उसकी बाह्य सृष्टि में तो नजर आता ही है, उसकी मानसिक सृष्टि में भी उसका साक्षात्कार होता है। किसी शिल्प रचना से उसके रचयिता की कारीगरी का बोध तो होता ही है, पर साथ ही रचयिता में उसके कारण आत्म-विश्वास की भी उत्पत्ति होती है। यह पात्रता की जानकारी, कर्तृत्व विषयक आत्म-विश्वास अपने आप में कितना भी क्यों न हो, कैसा भी क्यों न हो, होता जरूर है। प्रत्यक्ष निर्मिति कम हो सकती है। उसका सौन्दर्य तथा स्वरूप भी साधारण हो सकता है, पर वह कृति हम कर सकते हैं, इस बात की जानकारी उस कृति जितनी ही सत्य है। इसका रहस्य यह है कि जो कुछ हम करते हैं, वह हमारा है, ऐसा कह सकने की परिस्थिति होनी चाहिए। वह परिस्थिति ही पात्रता एवं कर्तृत्व को प्रेरणा दिया करती है। एक दृष्टि से यह स्वामित्व एवं संग्रह की वृत्ति ही मनुष्य को प्रयत्न करने की प्रेरणा देती है तथा सुप्त योग्यता को प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है और यह क्रिया व्यक्ति के विकास की दृष्टि से एक श्रेष्ठ वस्तु समझी जानी चाहिए। किंबहुना, व्यक्ति विकास की वृद्धि तभी अग्रेसर होती है, जब व्यक्ति को लगता है कि वह भी कुछ कर सकता है तथा कुछ हासिल कर सकता है। उस समय व्यक्ति विकास की प्रेरणा अति सूक्ष्म दृष्टि से तथा संग्राह्य बुद्धि से निर्माण होती है तथा व्यक्ति विकास का फल प्रत्यक्ष संग्रह रूप से ही दृष्टिगत होता है। उस प्रकार फल के दृष्टिगत होने से मनुष्य का व्यक्ति-भाव बढ़ता तथा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। हर व्यक्ति में उत्पन्न होने वाली विकास की प्रेरणा एक समान नहीं होती और इसी कारण व्यक्ति विकास के फलस्वरूप होने वाली प्राप्ति भी स्वभावतः एक जैसी नहीं हो सकती। उसमें समानता नहीं हो

सामाजिक तथा पक्षनिष्ठ राजनैतिक कारणों से योग्यता की अपेक्षा उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। सेवा की अपेक्षा राजनैतिक सुविधा ही अन्तिम कसौटी साबित होती है। सत्य की अपेक्षा प्रोपेगेण्डा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक को भाषण करने की स्वतन्त्रता है, पर आजकल के दिनो मे सभा बुलाना तथा उसका इन्तजाम करना पैसे का मामला हो गया है। भले ही कोई व्यक्ति बहुत बढ़िया भाषण करने वाला हो, पर पैसे एव वसीले के अभाव मे उसकी भाषण कला दरिद्र व्यक्ति के मनोरथ की भाँति उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते है कि सही मानो मे व्यक्ति अपने नागरिक अधिकारो का तभी आनन्द उठा सकता है, जब उसके पास आर्थिक समता एवं आर्थिक प्रतिष्ठा हो। समान नागरिकता के लिए आर्थिक समता की आवश्यकता का यह अर्थ नही कि आर्थिक समता बिलकुल निरपेक्ष या एक ही नाप की हो। आर्थिक समता का सम्बन्ध जिस प्रकार हम वैध अर्थात् कानूनी समता से जोड़ते हैं, उसी प्रकार हमे उस सम्बन्ध को स्वतन्त्रता एव समता के मुख्य उद्देश्य व्यक्ति विकास के साथ भी जोड़ना चाहिए। व्यक्ति के विकास के लिए, उसकी नैतिक एव मानसिक पात्रता को बढ़ाने के लिए, उसे बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न करने के लिए समाज तथा राज्य अस्तित्व में आए हैं। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा समता ये दो साधन हैं। अत जितनी मात्रा मे व्यक्ति के विकास के लिए इन साधनो का उपयोग किया जाएगा, उतनी मात्रा मे व्यक्ति को ये साधन उपलब्ध होते जाने चाहिएँ। समता के नाम पर आर्थिक क्षेत्र मे एक सिरे से सब के साथ एक ही नाप का बरताव करने से व्यक्ति का विकास न होकर ह्रास ही होगा। तथा सामाजिक दृष्टि से सम्पत्ति का अनुचित उपयोग किए जाने की सम्भावना बढ़ जाएगी। हर व्यक्ति के कन्धो पर एक जितना ही बोझ लाद देने से न्याय न होकर अन्याय ही होगा। अत. उतना ही बोझ लादना चाहिए, जितना वह आसानी से उठा सके। ऐरावत पर अम्बारी रखना उचित होगा पर चिऊँटी की पीठ पर अनाज की कनी ही रखना उचित होगा। सामान्यतया यह विचारधारा स्वीकार करने योग्य है। उस अवस्था मे हमे आर्थिक मामलों पर विचार करते समय आर्थिक आमदनी, नैतिक प्रगति तथा व्यक्ति विकास इन तीनों मे परस्पर संगति बैठाने के उपाय पर विचार करना चाहिए। यह मामला काफी कठिन है, इसमे सन्देह नहीं। व्यक्ति के विकास के लिए अधिकार समान हो, वैध व्यक्तित्व समान हो, यह सबको मन्जूर है। इसे देखते हुए कोई यह सिद्धान्त बना सकता है कि उपरोक्त समता की स्थापना के लिए सम्पत्ति का विभाजन तथा स्वामित्व शतप्रतिशत समान होना चाहिए। उसमे पूर्ण समत्व होना चाहिए। पर थोड़ा सा विचार करने पर हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से तथा अपने उद्देश्य की दृष्टि से सफल नहीं हो सकता। अत. इस मामले मे कुछ निश्चित एव व्यावहारिक मार्गदर्शन करने वाले तत्त्वों को ढूँढ़ निकालना चाहिए। अब हमें देखना होगा कि यदि हम हाथ में आई सम्पत्ति अथवा साधनों के यथाप्रमाण तथा यथोचित उपयोग को कसौटी बनाएँ तो क्या होगा।

व्यक्ति विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए; समाजगत आर्थिक साधन सम्पत्ति को दुरुपयोग से बचाने के हेतु किन्हीं निश्चित कसौटियों का होना बहुत आवश्यक है, यह हम ऊपर कह आए हैं। यह स्पष्ट है कि जिस साधन सामग्री को व्यक्ति के हाथ में देना है, उसका उपयोग करने की क्षमता उसमें है या नहीं यह देख लिया जाए। संगीत में रुचि हो या न हो, गले में मिठास हो या न हो, समता के नाम पर सबको सारंगियाँ बाँट देना, या संगीत के अन्य साधन बाँट देना स्पष्ट ही सामाजिक सम्पत्ति का दुरुपयोग है। साथ ही यह मानना भी ठीक नहीं कि एक व्यक्ति जो उपयोग करेगा, दूसरा व्यक्ति उससे अधिक अच्छा उपयोग करेगा। साधन सामग्री का वितरण करते समय व्यक्ति की विद्यमान पात्रता एवं सम्भाव्य पात्रता दोनों का विचार किया जाना चाहिए। साथ में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्य जहाँ किसी वस्तु को प्राप्त करने की कोशिश करता है, वहाँ वह अपनी पात्रता को बढ़ाने की भी कोशिश करता रहता है। अक्षरों की लिखावट शुरू-शुरू में अच्छी नहीं होती पर आगे चलकर वह सुधर जाती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रयत्न करने पर जैसे किसी अभीष्ट की प्राप्ति होती है, वैसे उसमें पात्रता भी आती जाती है। गन्ना जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे उसमें रस भी बढ़ता जाता है और मिठास भी बढ़ती जाती है। इस बात का रहस्य समझ लेना चाहिए। उम्र की वृद्धि के साथ-साथ समझदारी भी बढ़ती जाती है, यह कहावत सच्चे अनुभव पर आधारित है। मनुष्य के प्रयत्नों का फल उसकी बाह्य सृष्टि में तो नजर आता ही है, उसकी मानसिक सृष्टि में भी उसका साक्षात्कार होता है। किसी शिल्प रचना से उसके रचयिता की कारीगरी का बोध तो होता ही है, पर साथ ही रचयिता में उसके कारण आत्म-विश्वास की भी उत्पत्ति होती है। यह पात्रता की जानकारी, कर्तृत्व विषयक आत्म-विश्वास अपने आप में कितना भी क्यों न हो, कैसा भी क्यों न हो, होता जरूर है। प्रत्यक्ष निर्मिति कम हो सकती है। उसका सौन्दर्य तथा स्वरूप भी साधारण हो सकता है, पर वह कृति हम कर सकते हैं, इस बात की जानकारी उस कृति जितनी ही सत्य है। इसका रहस्य यह है कि जो कुछ हम करते हैं, वह हमारा है, ऐसा कह सकने की परिस्थिति होनी चाहिए। वह परिस्थिति ही पात्रता एवं कर्तृत्व की प्रेरणा दिया करती है। एक दृष्टि से यह स्वामित्व एवं संग्रह की वृत्ति ही मनुष्य को प्रयत्न करने की प्रेरणा देती है तथा सुप्त योग्यता को प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है और यह क्रिया व्यक्ति के विकास की दृष्टि से एक श्रेष्ठ वस्तु समझी जानी चाहिए। किंबहुना, व्यक्ति विकास की वृद्धि तभी अग्रेसर होती है, जब व्यक्ति को लगता है कि वह भी कुछ कर सकता है तथा कुछ हासिल कर सकता है। उस समय व्यक्ति विकास की प्रेरणा अति सूक्ष्म दृष्टि से तथा सग्राह्य बुद्धि से निर्माण होती है तथा व्यक्ति विकास का फल प्रत्यक्ष संग्रह रूप में ही दृष्टिगत होता है। उस प्रकार फल के दृष्टिगत होने से मनुष्य का व्यक्ति-भाव बढ़ता तथा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। हर व्यक्ति में उत्पन्न होने वाली विकास की प्रेरणा एक समान नहीं होती और इसी कारण व्यक्ति विकास के फलस्वरूप होने वाली प्राप्ति भी स्वभावतः एक जैसी नहीं हो सकती। उसमें समानता नहीं हो

सकती। इस प्रकार की आरम्भ तथा अन्त मे दिखाई देने वाली विषमता को दूर करना सम्भव नहीं और यदि वह समाप्त हो जाए तो शायद किसी भी व्यक्ति के मन मे उपार्जन एवं प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की इच्छा ही नही होगी। किंबहुना, व्यक्ति विकास की प्रेरणा हो समाप्त हो जाएगी और तब यह सब समाज के भौतिक एवं आध्यात्मिक विनाश का कारण बन जाएगा। तब सवाल यह पैदा होता है कि प्राप्ति के माप से जो विषमता दृष्टिगत होती है, उसे कैसे दूर किया जाए। प्रेरणा मे जो विषमता निवास करती है, उसको दूर करना सामाजिक प्रयत्नों के बस की बात नही है। प्रेरणा-गत वृद्धि को रोकने के लिए प्राप्तिगत विषमता को किस प्रकार दूर किया जाए? जो प्राप्ति प्रयत्न का फल नही है, उसे हर कोई अनुचित मानेगा। जिस प्राप्ति का सम्बन्ध प्रयत्न से नही है, जो सामाजिक परिस्थिति के कारण या दैवयोग से मिली है, उसे पूरी तरह से उसी के पास रहने देना, जिसे वह मिली है, अनुचित है, यह सिद्धान्त भी स्वीकार किया जा सकता है। उत्तराधिकार मे मिलने वाली सम्पत्ति के लिए व्यक्ति का प्रयत्न विशेष कारणीभूत नही होता। किसी की इच्छा को ध्यान मे रखकर उसे जन्म नही दया जाता। व्यक्ति से कोई पूछता नही कि उसे कहाँ जन्म देना चाहिए। अपने बाल-बच्चो को सुस्थिति मे देखने के लिए लोग प्रयत्न करते हैं। सम्पत्ति का उपार्जन करते है। परन्तु वह प्राप्ति अथवा सम्पत्ति उसके प्रयत्न का फल है, बाल-बच्चो के प्रयत्न का नहीं। इस दृष्टि से उत्तराधिकार मे मिलने वाला धन प्रयत्नो का फल नही है। यदृच्छा से अथवा दैव-योग से यह सब होता है। अतः राज्य को इस बात का नैतिक अधिकार है कि उत्तराधिकार मे मिलने वाली सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होने वाली विषमता को कम करने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार यदि प्रयत्न एव प्राप्ति का अनुपात विषम हो, तो राज्य को प्राप्ति तथा सम्पत्ति को अपने हाथ मे लेने का पूरा नैतिक अधिकार है। बहुत दफा राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थिति के कारण व्यापार में बहुत भारी नफा होता है। ससार में युद्ध शुरू हो गया, कुछ वस्तुएँ अलभ्य हो गई, साथ ही चीजो के दाम बढ गए और आदमी को भारी नफा हुआ। यहाँ जो कुछ हुआ उसमें आदमी के अपने प्रयत्नो का कुछ भी हाथ नही है। अतः इस रीति से प्राप्त हुई सम्पत्ति यदि राज्य ले-ले तो इसमे कुछ भी अनुचित नही है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि जहाँ प्रयत्न एव प्राप्ति मे ठीक अनुपात नही है, वहाँ राज्य को इस विषमता को दूर करने का पूरा अधिकार है।

विवेकहीन दृष्टिकोण से आर्थिक समता स्थापित करने का प्रयत्न अनुचित है। उससे व्यक्ति के प्रति अन्याय तो होगा ही, समाज की प्रगति मे भी रुकावट पडेगी। उस समय कुछ करने-धरने की साध ही नही रह जाएगी। ऊपर चढने तथा आगे बढने की स्फूर्ति लुप्त हो जाएगी। जब तक समाज मे थोडी-बहुत विविधता एव विषमता नही रहती, तब तक प्रयत्नो के प्रति कोई आकर्षण नही रहता। पहाड की चोटी नजर आती हो, तो उस पर चढने की भावना जोर मारती है। समाज यदि सर्वथा विविधता शून्य हो—एकदम सपाट हो—समता-युक्त हो, तो उसकी प्रगतिशीलता के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा

जा सकेगा। लोगों की प्रयत्नशक्ति को बढ़ावा देने वाला तथा प्रयत्न करने वाले को प्राप्ति विषयक विश्वास दिलाने वाला वातावरण रहे तो समाज में श्रेष्ठ एवं उत्कट भावनाएँ काम करने लगती हैं। कर्तृत्व चौगुना हो जाता है; व्यक्ति विकास को बल मिलता है तथा वह समाज मन्दगति न रहकर प्रगतिशील हो जाता है। तब आदर्शों की दिशा में उसके कदम तेजी से बढ़ने लगते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उस समय समाज की आर्थिक दशा एकदम ऊच्छृंखल हो जाती है तथा किसी प्रकार का कोई अंकुश रह नहीं जाता। जैसे कि हम ऊपर कह आए हैं, जहाँ प्रयत्न तथा प्राप्ति में कोई अनुपात नहीं है और यदि है तो अनुचित अनुपात है, वहाँ राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए तथा जो आर्थिक विषमता उत्पन्न हो गई है, उसे दूर करना चाहिए। किंबहुना, वैध समता की पूर्ति के लिए राज्य का ऐसा करना कर्त्तव्य हो जाता है। यह हमें कदापि नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ आर्थिक विषमता होगी वहाँ सामाजिक समता का पनपना असम्भव है तथा राजनैतिक समता अर्थहीन हो जाती है और वैध समता केवल किताब में ही धरी रह जाती है। अतः जहाँ-जहाँ आर्थिक विषमता दृष्टिगोचर होती हो, वहाँ-वहाँ सरकार को हस्तक्षेप करके, कानून बनाकर उसको दूर करना चाहिए। समता का विचार केवल समता की ही दृष्टि से करने से काम नहीं चलेगा। समता का तत्त्व निरपेक्ष नहीं है, यह हम पीछे कह आए हैं। समता तथा स्वतन्त्रता एक प्रकार से प्रजातन्त्री जीवन की दो श्वास नलियाँ हैं। अतः इन दोनों का सामञ्जस्य बहुत जरूरी है। तथा यह सामञ्जस्य वहीं सम्भव है, जहाँ बन्धुता होगी। अतः बन्धुता की कल्पना के साथ भी इन दोनों कल्पनाओं का सामञ्जस्य होना चाहिए। केवल स्वतन्त्रता पर ही बल देने से काम नहीं चलेगा। 'स्वतन्त्रता या समता' यह सवाल कुछ एक राजनीतिज्ञों ने भारत में उत्पन्न किया है। हमें स्वतन्त्रता और समता दोनों ही चाहिएँ। स्वतन्त्रता हमें मिल चुकी है तथा समता की दिशा में हमारा इतिहास कदम रख रहा है। बहुत दफा ऐसा होता है, कि जो तत्त्व नया-नया आता है, उसके प्रति अधिक अनुराग प्रदर्शित किया जाता है। पर ऐसा करना बाज औकात बहुत खतरनाक साबित होता है। व्यक्ति के विकास के लिए स्वतन्त्रता की प्रेरणा भले ही प्रथम हो तो भी समता की कल्पना उसके प्रयत्नों का चैतन्य है। यह सच है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् उसी में से समता प्राप्त होती है, तो भी वह प्रसूति सुलभ नहीं होती। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अनेक हृदय समान रूप से स्पन्दन करते हैं। अनेक जिह्वाएँ एक ही भाषा बोलती हैं। तथापि समता के प्रयत्नों में यह एकता, यह 'समानी आकूति' तथा 'समाना हृदयानि' दृष्टिगोचर नहीं होते। 'जितने व्यक्ति उतनी ही प्रकृतियाँ' इस न्याय से ईर्ष्या, मत्सर आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं। स्वतन्त्रता के फलस्वरूप कल तक दिखाई देने वाली एकता आज लुप्त होती जा रही है, अतः समता के शिखर तक पहुँचने की कामना करने वालों तथा नवीन समाज की निर्मिति करने वालों को अधिक सावधानी से काम लेना चाहिए। पहले उन्हें चाहिए कि संविधान में लिखित समान अवसर वाली बात को सार्थक करें। अवसर।

मिलने पर ही मनुष्य का कर्तव्य उभरता है। गाने का अवसर मिलने पर ही जाना जा सकता है कि गले में मिठास है या नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ है गुलामी से छुटकारा तथा आर्थिक समता का अर्थ है गरीबी एवं दुःख की गुलामी से छुटकारा, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं। आर्थिक समता का अर्थ है समान प्रतिष्ठा तथा गुणों से सम्बन्ध रखने वाली विषमता। स्वतन्त्रता की प्राप्ति अब भारत को हो चुकी है; अब आर्थिक विषमता को दूर भगाना है। तथा ऐसे नए समाज की स्थापना करनी है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को प्रतिष्ठा प्राप्त हो एवं सबको न्यायपूर्ण आर्थिक आय हो। चूँकि सब समान होंगे इसलिए सब सुखी भी होंगे और तभी स्वतन्त्रता का सच्चा अनुभव लोगों को प्राप्त होगा तथा राज्य ने कानून द्वारा जो समता प्रदान की होगी वह सार्थक हो जाएगी।

स्वतन्त्रता तथा समता में कोई विकल्प नहीं है। सवाल *'यह या वह'* का नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। तथा सारे समाज में इस भावना का मौजूद होना ही बन्धुता है, ऐसा हम कह सकते हैं। 'एक के विरुद्ध एक' इस भाव के नष्ट होते ही 'एक और एक' ऐसा संगठन का भाव उत्पन्न होता है और विरोध के दूर होते ही सहयोग का वातावरण निर्माण होता है। जहाँ समष्टिभाव आया—सबके सुख का भाव आया कि वहाँ बन्धुता अपने आप आ जाती है। यह हमारा है ऐसा कहते ही हम उसके हो जाते हैं तथा 'हम और वह' ऐसा भेदभाव विलीन हो जाता है और तब भावनात्मक एकता स्थापित हो जाती है। अपने जीवन की न्यूनताओं की भरपाई के लिए औरों के जीवनों में न्यूनता लाने का प्रयत्न जैसे अनुचित है, वैसे ही अपने को अधिक की आवश्यकता है अथवा अपने पास अधिक मौजूद है, इसलिए औरों के पास मौजूद चीजों को उनसे ले लेना या उनको न देना भी अनुचित है। तथा जहाँ इस प्रकार की वृत्ति बनी रहेगी वहाँ भावनात्मक एकता नहीं रह सकती। सामुदायिक हित में व्यक्ति का हित है तथा 'सर्वेषामविरोधेन' इस वृत्ति से जहाँ व्यक्ति उपभोग करता है, वहाँ बन्धुता निवास करती है; भावनात्मक एकता निवास करती है। जहाँ लोगों में लेने या खसोटने की वृत्ति न होकर देने की तथा दान करने की वृत्ति है, वहीं बन्धुता निवास करती है। समता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुता ये तीनों कल्पनाएँ *विकल्पात्मक नहीं हैं। उनके बीच एक प्रकार की मौलिक एकता है। किंबहुना,* एक ही बीज में से फूटने वाली अनेक कोंपलों की तरह उनकी अवस्था है। तथा यह जो मौलिक एकता है, उसी का नाम है न्याय। राज्य समाज को इसी न्याय के प्रदान करने की प्रतिज्ञा करके जन्म लेता है। राज्य नामक संगठन का उद्देश्य अथवा प्रयोजन राज्य के हर व्यक्ति को तथा सामुदायिक दृष्टि से समाज को न्याय देना है। *तथा इसी विचार से एवं इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाज में स्वतन्त्रता,* समता एवं बन्धुता का उपयोग किया जाता है। राज्य नामक संस्था यह सब आज्ञा निकाल कर, आदेश देकर तथा कानून बनाकर किया करती है। जिन्हें अधिकार प्राप्त हैं, उनसे सलाह ली जानी चाहिए; जिन्हें कष्ट है, उनके कष्ट का निवारण किया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता, समता आदि के मामले में अधिकारों की

निर्मिति करके राज्य उन अधिकारों की सार-सँभार करता है तथा उनका पुरस्कार करता है। ऐसा करते समय राज्य स्वतन्त्रता देकर समता का, अथवा स्वतन्त्रता और समता देकर बन्धुता का उच्छेद नहीं करता। राज्य के नागरिकों के सम्बन्धों का कुछ ऐसा ताना-बाना वह करता है, जिससे सुख एवं सन्तोष का महावस्त्र बुना जा सके और उसका यह सब काम मौलिक न्याय भावना के अनुसार ही हुआ करता है। न्याय की कल्पना केवल तात्त्विक सिद्धान्त या निराकार कल्पना की अपेक्षा कुछ न कुछ साकार तथा साक्षात् स्वरूप की होती है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में न्याय की कल्पना मौजूद रहती है। न्याय का प्रत्येक स्वरूप उसकी आँखों के सामने साधारणतया मौजूद रहता है। 'मिठास' कहने पर मनुष्य के मन के सामने कोई निराकार वस्तु नहीं आती वरन् उसका आकार चीनी की शक्ल में, गुड़ की शक्ल में, आमों की शक्ल में, शहद की शक्ल में—किसी न किसी शक्ल में आकार के खड़ा हो जाता है। न्याय-विषयक यह कल्पना अनेक युगों से मनुष्य के मन में है। अनेक संस्कारों द्वारा वह आकार धारण किए हुए है। तथा यह क्रिया अनन्त काल तक चलती चली जाएगी। अतः समाज में जब न्याय की माँग की जाती है तथा राज्य की ओर से वह दिया जाता है, तब उसके साकार होने का भाव अधिक रहता है तथा न्याय यह कोरी कल्पना न रहकर एक सामाजिक वस्तुस्थिति बन जाती है। प्रत्येक मन में तद्विषयक आकृति उत्पन्न होती है और जब मन अधिक विचार करने लगता है और विचार करते समय प्रत्येक परिस्थिति विचारों के चित्रों की चौखट आँक देती है और तब उस चौखट में प्रत्यक्ष न्याय क्या है इसका चित्र सम्बन्धित मन अंकित करने लग जाता है। समाजगत मानवी सम्बन्धों को एक दूसरे से जोड़ने का काम न्याय किया करता है। न्याय का अर्थ नीतिमत्ता नहीं। वह नीति का विरोधी भी नहीं। न्याय आचारस्मृति नहीं है। पर आचार-स्मृति से उसकी जान-पहचान अवश्य रहती है। मानसिक सृष्टि में निवास करने वाली कोई अव्यक्त सी भावना न होकर वह प्रत्यक्ष जीवन में काम करने वाला एक शक्तिशाली संकल्प है। व्यक्तियों के मन में क्या है, इसकी अपेक्षा व्यक्तियों को आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात का वह विचार किया करता है। इसके मानी यह नहीं कि व्यक्ति के मन के विचारों को वह नहीं मानता। उसका काम समाज के जीवन को अधिक सुखी एवं शान्त बनाना तथा इस दृष्टि से रास्ते में जो रुकावटें आती हैं, उनको दूर करना है। तथा यह सब काम समाज एवं व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा समाजगत नैतिक आदर्शों एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पूरी तरह विचार करके किया जाता है।

न्यायविषयक-भावना सब प्रकार की स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि है अतः उसका विचार स्वतन्त्रता की दृष्टि से महत्त्व का साबित होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि न्याय की भावना मानसिक सृष्टि में निवास करने वाली भावना नहीं है। तथापि प्रत्यक्ष सृष्टि में, सामाजिक सृष्टि में व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध प्रत्यक्ष आचार नियमों से जुड़े रहते हैं। न्याय भावना में निहित तात्त्विक विचारधारा कार्य किया करती है। व्यक्ति न्याय माँगता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह ऐसी वस्तु माँगता

है, जो उसके लिए उसकी अपनी दृष्टि में योग्य है। पर इसके साथ ही सामान्यतया उसकी यह भी इच्छा रहती है कि औरों का नुकसान न हो। तथा उसकी यह भी इच्छा होती है कि उसके तथा अन्यों के बीच जो सम्बन्ध हो, वे दोनों को सुख देने वाले हों। पर इन तीनों आचार क्षेत्रों में उसके मन में मौजूद न्यायविषयक तात्विक भावना सर्वथा अप्रस्तुत रहती हो, ऐसी बात नहीं। किंबहुना, यदि वह वैसी न रहे तो इन तीनों आचार-क्षेत्रों में उसका आचरण यथार्थ रूप से न्याय भावना से युक्त नहीं हो सकेगा। व्यक्तिमात्र की समाजगत व्यवहार में अर्थात् प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा में उचित हिस्सा मिल सके इस दृष्टि से जो न्याय-व्यवस्था होती है उसे विभाजनात्मक न्याय कहना उचित होगा। व्यक्तियों के आपसी व्यवहार में जहाँ न्याय की दृष्टि से न्यूनता हो, अथवा जहाँ न्याय की दृष्टि से आवश्यक से अधिक पहुँचा हो, वहाँ जब न्याय भावना की दृष्टि से व्यवस्था की जाती है, उस व्यवस्था का रूप संशोधनात्मक होता है। कमी को पूरा करने वाला तथा अधिक को कम करने वाला होता है। समाज में केवल एकपक्षीय देना या एकपक्षीय लेना नहीं होता। समाज का व्यवहार एक-मार्गी यातायात जैसा नहीं होता। कुछ लोग उत्पादन करते हैं तो कुछ लोग उपभोग करते हैं। कुछ लोग बेचते हैं तो कुछ लोग मोल लेते हैं। श्रम से मूल्य तथा मूल्य से श्रम ऐसा यह परस्परावलम्बी सम्बन्ध होता है और इन सब व्यवहारों का साकल्यपूर्वक विचार करके जो न्याय-व्यवस्था बनती है, उसका स्वरूप निःसन्देह समष्ट्यात्मक होता है। वहाँ विचार 'अ व्यक्ति' या 'ब व्यक्ति,' 'अ समूह' या 'ब समूह' ऐसा नहीं होता। व्यक्ति तथा वर्ग किंबहुना समाज के समग्रहित का विचार उस व्यवस्था में किया जाता है। संक्षेप में कहें तो न्याय-व्यवस्था मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का हर क्षेत्र में तथा हर दृष्टि से विचार करती है। ऐसा करते समय न्याय-व्यवस्था स्वतन्त्रता तथा समता का भी विचार करती है। उपभोग की वस्तु स्वतन्त्रता, अपेक्षित वस्तु समता तथा आवश्यक वस्तु सहयोग आदि सभी का समन्वय करने को न्याय भावना अपना सर्वश्रेष्ठ कार्य समझती है। समाज में ऐसे भी लोग होते हैं, जो कहते हैं, स्वतन्त्रता चाहिए, समता नहीं। क्योंकि यदि समता शक्तिशाली हो जाए और शत प्रतिशत शक्तिशाली हो जाए तो समाज वर्ग-विहीन हो जाएगा। उसमें विविधता नहीं रहेगी। यदि सबको हर चीज समान मात्रा में मिलने लग जाए और किसी को भी अधिक कमाने तथा अधिक संग्रह करने का अधिकार नहीं रह जाए, तो उसका अर्थ यही होगा कि व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं है। अतः अनेक लोग स्वतन्त्रता के झण्डे के नीचे खड़े होकर समता पर आक्रमण किया करते हैं। इसी प्रकार स्वतन्त्रता के नाम पर सहयोग तथा बन्धुता की भावना का भी विरोध किया करते हैं। क्योंकि उन्हें डर रहता है कि सहयोग तथा बन्धुता के नाम से समाज की आय तथा सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व न रहकर समाज का स्वामित्व हो जाएगा और सबका स्वामित्व हो जाने पर तथा व्यक्ति का स्वामित्व न रहने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता घट जाएगी। इतना ही नहीं, व्यक्ति की नैतिक उन्नति रुक जाएगी तथा जीवन में किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं रह जाएगी। व्यक्ति का कर्तृत्व तभी विकसित होता है, जब उसे इस बात का विश्वास हो कि उसकी मेहनत का

फल उसे मिलेगा तथा उस पर उसका स्वामित्व रहेगा। इससे उसके भीतर के श्रेष्ठ एवं उत्कट सद्गुणों का उदय होता है। स्वामित्व के मानी हैं, उपभोग, दान, विनिमय आदि करने का अधिकार। उत्पादन तो मैं करूँ, पर श्रम के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु पर मेरा अधिकार न हो, सब अधिकार औरों को अथवा समाज को चले जाएँ तो स्वभावतः मुझे लगेगा कि मैं बेकार की मेहनत क्यों करूँ? सो, इस तरह स्वतन्त्रता एवं समता के बीच जो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, उसे कम करने का काम न्याय भावना करती है। इतना ही नहीं, स्वतन्त्रता के क्षेत्र में भी अनेक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता और नागरिक स्वतन्त्रता में विरोध उत्पन्न होता है। कभी राजनैतिक स्वतन्त्रता में और नागरिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक स्वतन्त्रता में विरोध उत्पन्न हो जाता है। अतः ऐसे एक तत्त्व की बहुत आवश्यकता है, जो स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता में सामञ्जस्य एवं सन्तुलन कायम कर सके और वह तत्त्व है इन तीनों के मूल में विद्यमान न्याय भावना। न्याय भावना से यहाँ समावेशक न्याय भावना अभिप्रेत है, विनाशक नहीं। जिस प्रकार सोने को कसौटी पर कसकर परखा जाता है तथा किसी वस्तु को तराज़ू पर तोल कर उसका वजन देखा जाता है, उसी प्रकार समाज की दृष्टि से स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता की योग्यता आदि को न्याय की कसौटी पर परखा जाता है। मनुष्यों में आपस में क्या सम्बन्ध हों, उनके आचरण को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने वाले तत्त्वों, आदर्शों आदि का आपस में क्या सम्बन्ध हो; मनुष्यों में आपस में तथा तत्त्वों एवं आदर्शों में आपस में क्या सम्बन्ध हो यह निश्चित करना न्याय भावना का काम है। जो काम गुलदस्ते की सौंदर्य पूर्ण रचना करने वाले माली का है, वही काम समाज में न्याय भावना का है।

राज्य का आध्यात्मिक भाव है न्याय और चूँकि न्याय की कल्पना में समानता एवं सन्तुलितता है अतः 'न्याय की तराज़ू' यह शब्द-रचना प्रचलित है। हम 'तराज़ू' को न्याय का प्रतीक मानते हैं। इस न्याय का काम व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, विविध विचारधाराओं के बीच, तथा व्यक्ति एवं विचारधाराओं के बीच एक प्रकार का सन्तुलन कायम करना है। सच्चे न्याय का लक्षण यही है कि वह किसी एक का पलड़ा दूसरे के पलड़े से ज्यादा भारी न होने दे। समाज की रचना समाजवादी ढंग की होने के बाद न्याय-भावना में व्यक्ति का विचार करने की जरूरत नहीं, कोई व्यक्ति इस प्रकार का आक्षेप कर सकता है। समाजवाद ने राज्य में सम्बन्धित व्यक्ति विकास की मौलिक कल्पना का परित्याग नहीं किया। उल्टे समाजवाद का तो दावा यह है कि समाजवाद ही में व्यक्ति को अधिक न्याय मिलता है तथा व्यक्ति का विकास अधिक होता है। क्योंकि इन बातों का पोषक वातावरण समाजवादी समाज में ही अधिक मिलता है। यह सत्य नहीं कि समाजवादी समाज में व्यक्ति की भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति की इच्छा शक्तिशाली नहीं रहती यह भी सत्य नहीं। समाज की आवश्यकताएँ वस्तुतः समाज के व्यक्तियों की ही आवश्यकताएँ हैं। आधुनिक जग में न तो व्यक्तियों से रहित समाज की कल्पना की जा सकती है और नांही समाज से रहित व्यक्तियों की। अतः व्यक्ति के

संतोष के लिए बनाई गई व्यवस्था में तथा समाज के संतोष के लिए बनाई गई व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्ति की आवश्यकताओं के तथा स्वतन्त्रता के बारे में हम एक कसौटी बनाते हैं, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं के बारे में भी कसौटी बनाई जा सकती है। समाजवाद के मानने से यह नहीं कि सबको जबरन एक ही साँचे में ढली हुई होगी। विविध दृष्टिकोण, विविध अपेक्षा, विविध जरूरतें, विविध रिश्ते-सम्बन्ध आदि बातों में, अधिकाधिक सामाजिक संतोष की पुष्टि की दृष्टि से, सामञ्जस्य स्थापित करना समाजवाद का ध्येय है। और तब अधिकाधिक सामाजिक शान्ति एवं सन्तोष ही सामाजिक आवश्यकताओं का नाप-दण्ड सिद्ध हो जाता है। तथा इस नाप-दण्ड के अनुसार ही न्याय-भावना काम किया करती है। यह सही है कि इस न्याय-भावना को समाज तथा राज्य में कार्यप्रवण बनाने के लिए न्याय-सम्बन्धी आदर्शों एवं तत्त्वज्ञान का विचार करना ही पर्याप्त नहीं होता। तथापि हमें स्वीकार करना होगा कि इस तत्त्वज्ञान का महत्त्व भी कुछ कम नहीं। न्याय व्यवस्था के निश्चित हो जाने पर, उसकी रूपरेखा के तैयार हो जाने पर, उसे कार्यान्वित करने के लिए एक वैध संगठन की आवश्यकता होती है और यह संगठन ही राज्य है। जब तक नैतिक एवं स्वाभाविक न्याय का समावेश कानून में नहीं होता, तब तक व्यक्तिमात्र को उसका निश्चित अनुभव नहीं होता। मिठास का अनुभव जिस प्रकार किसी न किसी मिठाई ही के माध्यम से होता है, उसी प्रकार न्याय का अनुभव राज्य में प्रचलित कानून के माध्यम से हुआ करता है। कानून के माध्यम ही से व्यक्तिमात्र को उसका साक्षात्कार होता है। राज्य न हो, तो कानून भी नहीं होगा और कानून न हो तो न्याय केवल एक कल्पना की ही वस्तु हो जाती है और उसका स्वरूप अनास्वादित मिठास सा ही हो जाता है। राज्य कानून बना कर न्याय के आदर्श को नागरिकों के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन क्षेत्र में उतारने का प्रयत्न करता है। कानून वह है, जिसका नागरिकों को अनुभव हो। अनेक लोग अनेक बार कानून की पृष्ठभूमि को भुला देते हैं। कानून का जो रूप लोगों के सामने आता है, वह दुःख की सजा का होता है। उसका उल्लंघन करने वालों को चूँकि सजा भोगनी पड़ती है, अत नागरिकों का ध्यान उसके अभीष्ट एवं नैतिक रूप की ओर नहीं जाता वरन् उनके सामने कानून का भीतिप्रद रूप ही रहता है। वास्तव में जो कानून होता है, वह किसी अन्तरिक्ष में उत्पन्न नहीं होता या आसमान से जमीन पर नहीं आता। उसके पीछे एक निश्चित तत्त्वज्ञान एवं विचार-प्रणाली होती है। एक दीर्घकालिक सामाजिक एवं वैचारिक प्रक्रिया का वह परिणाम होता है। दूध औटाया जाता है, तब उसका खोया बनता है और तब चीनी डालकर उसका पेडा बनाया जाता है। इसी प्रकार अतीत काल के अनुभवों को औटा कर वर्तमान काल के अनुभव का खोआ तैयार होता है तथा उसमें भविष्य काल की आशा की चीनी मिलाई जाती है। तब कहीं कानून का पेडा बनता है। सामाजिक मन सामाजिक विचारों को जन्म देता है और यह प्रवृत्ति दीर्घकालिक प्रयत्नों का फल होती है। इसी सामाजिक विचार का वैध स्वरूप कानून होता है। किसी

उसका सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से रहता है।

व्यक्ति के मन में कोई सा विचार पैदा हुआ और वह कानून बन गया—ऐसी बात नहीं। भले ही कैशियर हमें वेतन देता हो, तथापि हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमें वेतन देने वाला असली व्यक्ति कौन है। बनिए से हम अनाज खरीदते हैं, पर हम बनिए को अनाज का उत्पादक कभी नहीं कहते। इसी प्रकार भले ही अधिकार-पद द्वारा कानून की घोषणा हुई हो, पर वास्तव में कानून को बनाने वाला समाज है यह हमें नहीं भूलना चाहिए। कोई एक व्यक्ति या समूह कानून का जन्मदाता नहीं हुआ करता। समूचे समाज की इच्छाओं, अपेक्षाओं तथा अनुभवों पर वह आधारित होता है। ये सब बातें समझ लेने पर यह बात साफ हो जाती है कि कानून भले ही हुक्म की शक्ल में हमारे सामने आता हो। पर वास्तव में उसका रूप आमन्त्रण का सा होता है। अतः जैसा हम पीछे कह आए हैं, कानून के पालन का अर्थ है, अपनी ही आज्ञा का अपने आप पालन करना। समाज की सदसद्विवेक बुद्धि का नाम कानून है, ऐसा जो कहा गया है, सो ठीक ही है। सदसद्विवेक बुद्धि की बातों को सुनना जितना वांछनीय एवं हितकर है, उतना ही वांछनीय एवं हितकर है कानून का पालन। हुक्मनुमा होने के कारण कानून पर अमल कराने का काम राज्य किया करता है। जब कानून द्वारा स्वतन्त्रता, समता इत्यादि अधिकार घोषित किए जाते हैं, उनकी व्यवस्था को पेश किया जाता है, तब समाज के लिए उनका पालन अनिवार्य हो जाता है। कानून की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर जब हम विचार करते हैं, तब स्वतन्त्रता, तथा अन्य व्यवस्था, तथा मौलिक अधिकार आदि का उपयोग नागरिकों को कानून के अनुसार ही करना चाहिए यह स्पष्ट हो जाता है। दस रुपए के नोट की कीमत एक दमड़ी की भी नहीं है, उसे जलाकर एक चमचा चाय भी नहीं तैयार की जा सकती, तो भी यदि बाजार में उसे दिया जाए तो दस रुपए कीमत की चीजें मिल सकने का आश्वासन तथा गारण्टी होती है। क्योंकि वह गारण्टी राज्य द्वारा दी गई है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता की हुण्डी को राज्य के कानून द्वारा स्वीकृति मिली हुई है। इसीलिए हमें पूरा विश्वास होता है कि हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में हमें स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त होगी। जिस स्वतन्त्रता को तथा जिन अधिकारों को कानूनी स्वीकृति नहीं प्राप्त होती, वह या वे या तो शेख-चिल्ली का सपना साबित होती है या होते हैं, या वह या वे तभी तक आदमी को हासिल होती या होते है, जब तक आदमी के बाजुओं में जोर रहता है। जहाँ शक्ति है, वहीं भक्ति है, जहाँ यह सब कुछ नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं। अतः हमेशा कानून द्वारा स्वीकृत स्वतन्त्रता होनी चाहिए, कानून द्वारा स्वीकृत समता होनी चाहिए। समाज परिवर्तित होता है, मनुष्य के विचार परिवर्तित होते है। ठीक इसी प्रकार कानून भी परिवर्तित होता रहता है। वह कोई नित्य या पत्थर की लकीर नहीं है। मनुष्य बैठेगा तो उसका भाग्य भी बैठ जाएगा, मनुष्य खड़ा होगा, तो उसका भाग्य भी खड़ा हो जाएगा; मनुष्य चलेगा, तो उसका भाग्य भी चल पड़ेगा। इसी प्रकार यदि समाज अगतिक हो जाएगा, तो कानून भी अगतिक हो जाएगा; यदि समाज चलने लगेगा, तो कानून भी चलने लगेगा; यदि समाज दौड़ने लगेगा, तो कानून भी दौड़ने लगेगा। समाज की अवस्था के अनुरूप ही कानून की भी अवस्था होती चली

जाएगी। यदि हम कहें कि कानून समाज जीवन का रक्षक, पोषक एवं प्रेरक है, तो हमारा यह कहना उचित ही होगा। एक राजनीतिज्ञ ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में कहा है कि राज्य कानून की सन्तान भी है और कानून का बाप भी। न्याय-भावना ने राज्य को जन्म दिया तथा राज्य ने न्याय-भावना को कानून का रूप प्रदान किया, इस वस्तुस्थिति से कोई इनकार नहीं कर सकता और इसीलिए समाज के स्थायी एवं परिवर्तनशील दोनों प्रकार के जीवनों में कानून का महत्त्व है।

कानून का महत्त्व एवं प्रतिष्ठा इसलिए है, क्योंकि कानून न्याय की तराजू हाथ में लेता है तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के तथा व्यक्ति एवं समाज के बीच के सम्बन्धों के पलड़ों को हमेशा बराबर रखता है। कानून का प्रतीक तराज़ू को माना जाता है। पर कानून को तलवार की उपमा भी दी जाती है। दोनों उपमाओं का आशय यही है कि उसी काम को करना तथा अमल में लाना चाहिए, जो उचित है। और इसी कारण अमल कराने के मामले में कानून का शक्ति स्वरूप ध्यान में आता है। हिंसा द्वारा समाज में अन्याय या अनर्थ न होने देने के लिए कानून बनता है, अतः कानून के हाथ मजबूत करने के लिए हिंसा भी अनिवार्य हो जाती है, इस कथन में विरोध है। पर उसके बिना काम भी नहीं चल सकता। यह हम पहले बता आए हैं कि कानून लोगों की स्वीकृति पर आधारित है, अतः उस स्वीकृति को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से उतनी ही हिंसा काम में लाई जानी चाहिए, जितनी कानून का पालन कराने के लिए अभीष्ट एवं आवश्यक हो। अतः कानून का मुख्य रूप स्वीकृति—जन स्वीकृति है, तथा हिंसात्मक रूप गौण है, यह स्पष्ट हो जाता है। यह कहना ठीक होगा कि कानून का निर्माण शक्ति में से नहीं हुआ, किन्तु कानून का पालन न होने पर परिणामस्वरूप शक्ति का उपयोग किया जाता है। सामान्यतया जो बात लोगों को उचित जान पड़ती है, उसे वे प्रसन्नतापूर्वक मान लेते हैं। कानून को मानने की भी इच्छा मनुष्य के मन में तभी उत्पन्न होती है, जब वह उसे उचित जान पड़ता है। अतः लोगों की इच्छा प्रबल होगी, तो कानून के औचित्य के बारे में लोगों का विश्वास भी प्रबल होगा, यह विश्वास प्रबल होगा, तो कानून का पालन भी प्रबल होगा। उस समय पुलिस वाले का हाथ का इशारा अवश्य काम करता है, पर उसकी कमर से बँधा हुआ हथियार नहीं। वह सजावट की वस्तु भर बनकर रह जाता है। सजा या दण्ड कानून की पृष्ठभूमि नहीं है, वरन् कानून की शक्तिशाली पृष्ठभूमि है नैतिकता, इस बात को भुला देना खतरनाक होगा। कानून का भंग करने में व्यक्ति का फायदा हो तो हो; पर समाज का फायदा तथा राज्य की सुरक्षा उसमें कतई नहीं। शक्ति अथवा हिंसा कानून का एक गौण स्वरूप है। किंबहुना, यदि कानून को मनुष्य की सदसद्विवेक बुद्धि का फल एवं उसका प्रतिनिधि माना जाए, तो उसके हिंसात्मक रूप को संकट काल में काम आने वाला एक हथियार समझना चाहिए। कानून का पालन न करने वाले को दण्ड न दिया जाए या उसके लिए इसका प्रबन्ध न किया जाए, तो कानून 'अजागलस्तन' की भाँति एक निरर्थक वस्तु बन जाएगी। उससे समाज की न शोभा बढ़ेगी, न रक्षा ही होगी। कानून के साथ दण्ड एवं सजा सम्बन्धी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

उसका स्वरूप प्रतिबन्धक प्रतिहिंसा का हो या सुधार का हो, इस गहराई में जाने की यहाँ जरूरत नहीं है क्योंकि प्रस्तुत लेखक ने अन्य ग्रन्थ में इस विषय का विचार किया है। यहाँ सिर्फ इतनी बात का विचार करना है कि जो भी दण्ड-व्यवस्था हो वह सामाजिक भलाई के लिए होनी चाहिए। समाज की रक्षा एवं भलाई के लिए जो भी कुछ करना जरूरी हो, वह किया जाना चाहिए। समाज एवं राज्य की स्वतन्त्रता के लिए यदि किन्हीं व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को रद्द करना जरूरी साबित हो, तो वैसा जरूर करना चाहिए। इसमें किसी के प्रति अन्याय होता है, ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं है। सजा व्यक्तिगत होती है; पर वह समाज के सन्दर्भ में दी जाती है तथा उसका परिणाम व्यक्ति के रुपए-पैसे के रूप में नहीं; वरन् समाज की रक्षा एवं स्थिरता रूपी पूँजी के रूप में देखा जाना चाहिए।

हर व्यक्ति को प्रतीत होना चाहिए कि कानून का पालन उसका कर्तव्य है। सजा के डर से बुरे काम न करना तथा स्वभावतः बुरे काम न करना इसमें बहुत बड़ा अन्तर है। किसी भी कारण से क्यों न हो, नैतिक अथवा वैध कानून के पालन को जब कर्तव्य माना जाएगा, तभी समाज की धारणा हो सकेगी एवं राज्य में स्थिरता आ सकेगी। समाज के प्रति अतएव राज्य के प्रति जब तक व्यक्तिमात्र के कुछ कर्तव्य नहीं होंगे, तब तक व्यक्ति भी स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा से वंचित ही रहेगा। व्यक्ति को समाज के प्रति विद्यमान अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कारण अनेक हो सकते हैं, तथापि उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना है, यह बात अवश्य निर्विवाद होनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं, राजा विष्णु का अंश होता है; अतः उसका कहा मानना चाहिए। यह भी एक विचारधारा रह चुकी है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि राज्यसत्ता परम्परा से चली आ रही है तथा राज्यसत्ता का कहा इसलिए सुना जाता है, क्योंकि वैसा करना एक प्रथा हो गई है। राज्यसत्ता की उत्पत्ति का विचार करते समय प्रथा वाले दृष्टिकोण से विचार करना एकदम अप्रस्तुत सिद्ध होता है। लोग कहते हैं कि ऋषियों का कुल नहीं पूछना चाहिए। इसी प्रकार राज्यसत्ता का मूल खोजने में कानूनी सन्तोष शायद महत्पूर्ण हो, पर प्रस्तुत समय में उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। क्लाईव अथवा वारन हेस्टिंग्ज ने जाली काम करके तथा जाली दस्तावेज बना कर सत्ता हस्तगत की यह सत्य हो सकता है; पर जो सत्ता उनके हाथ आई वह पूरी तरह खरी साबित हुई, शक्तिशाली साबित हुई। चुनावों में झूठमूठ का प्रोपेगेंडा किया, लोगों की आँख में धूल झोंकी, यह भले ही सत्य हो, पर चुनावों के फलस्वरूप राज्यसत्ता हाथ आई है इस प्रकट सचाई से इनकार करना निरर्थक है। जब एक बार सत्ता का स्वामित्व हाथ में आ गया कि फिर वह कैसे हाथ में आया, यह सवाल गौण बात हो जाती है। अतः जो भी सत्ता विद्यमान हो, उसके प्रति प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्तव्य हो जाते हैं। पर इसके ये मानी नहीं कि मौजूदा राज्यसत्ता को खत्म करने तथा उसमें परिवर्तन लाने का प्रजा को कोई अधिकार ही नहीं है। राज्यसत्ता चलाने वाला कोई क्यों न हो, पर राज्यसत्ता को समाज में मौजूद रहना चाहिए। अतः उसके प्रति व्यक्ति के कुछ कर्तव्य अवश्य होने चाहिएँ। किसी मुद्रा पर लगी हुई मुहर बदल सकती है; पर उसमें काम में आने

वाला सोना या रूपा नही। मुद्रा की कीमत में परिवर्तन हो सकता है, पर वह निर्मूल नही किया जा सकता यह भी उतना ही सच है; अतः निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन व्यक्ति को करना ही पड़ता है। ताश के खेल मे अभीष्ट पत्ते नही आए तो उन्हें फिर से पीसा जा सकता है; पर अभीष्ट पत्तो के न आने पर कोई उन्हे फाड़कर नही फेंकता और यदि कोई फाड़कर फेंक देता है, तो फिर ताश का खेल ही खत्म हो जाता है। इसी प्रकार यदि राज्य-विषयक अर्थात् कानून-विषयक निर्धारित सत्यों का पालन व्यक्ति न करे, तो समाज एवं राज्य का ताश के पत्तों का खेल ही खत्म हो जाएगा। कुछ लोग कहते हैं कि कर्त्तव्य-पालन व्यक्ति तथा राज्य के बीच हुआ एक स्थायी करार है। यद्यपि यहां हम करार सम्बन्धी राजनैतिक तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण विवरण तो नही करेंगे तो भी इतना जरूर कहेंगे कि इस प्रकार के तत्त्वज्ञान को मानने से व्यक्ति को ऐसी सरकार, जो उसे पसन्द नही है, बदलने का पूरा नैतिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। करार की शर्तों को निश्चित करने वाला कोई नही है, यह सच है, तथापि राज्य के उद्देश्य आधुनिक युग मे, राज्य के संविधान में स्पष्ट होते हैं तथा यदि मौजूदा सरकार उनके अनुसार आचरण न करे, तो व्यक्ति के राज्य एवं कानून विषयक स्वरूप में परिवर्त्तन हो जाता है और उस अवस्था मे समय पड़ने पर कर्त्तव्य का पालन न करना, कानून का भंग करना या उसकी अवज्ञा करना क्षम्य एवं नैतिक आचरण सिद्ध होता है।

हम पीछे बता आए है कि राज्य का उद्देश्य सब कही न्याय देना तथा न्याय की स्थापना करना है और इसका माध्यम है कानून। सब कही न्याय देने के लिए स्वतन्त्रता, समता एवं बन्धुता की आवश्यकता होती है। किंबहुना, उसके सिवा न्याय, न्याय ही नही हो सकता। अतः कानून के पालन का वास्तविक अर्थ है न्याय की कल्पना एवं उसके आदर्शों के अनुसार आचरण करना। कानून रक्षा-कवच तथा संवर्धक चैतन्य दोनो है। दवा भी है और अन्न भी। दोनो अवस्थाओ मे पथ्य का पालन आवश्यक है। अतः राज्य के प्रति व्यक्ति मात्र का निर्धारित न्यूनतम कर्त्तव्य है यथाविधि प्रचलित हुए कानून का पालन करना। ऐसा नही होगा, तो इससे केवल व्यक्ति एवं सरकार के बीच स्थापित सम्बन्धों मे बिगाड ही नही आएगा वरन् सामाजिक जीवन पर भी उसका व्यापक प्रभाव पडेगा। यह स्वीकार करना चाहिए कि राज्य के कानून मे नैतिकता का होना बहुत जरूरी है। उसमे वह सब होना चाहिए, जो समाज की दृष्टि से वांछनीय है और जब कानून इस दृष्टि से पूर्ण होगा, तब उसका पालन करना शतप्रतिशत कर्त्तव्य हो जाता है। कानून का यह पालन इसलिए नही होता कि प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक काल मे तथा प्रत्येक पीढी ने प्रत्येक काल मे राज्यसत्ता के साथ कोई करार किया होता है या कोई औपचारिक प्रतिज्ञा की होती है। यह कर्त्तव्य-पालन सामाजिक दृष्टि से स्वाभाविक होता है तथा व्यक्ति के जन्म के साथ वह उत्पन्न होता है। न्याय के बदलते ही कानून बदल जाता है और तब उसी मात्रा में कर्त्तव्य का भी रूप बदल जाता है, यह बात सही है, पर अनेक बार व्यक्ति के सामने यह सवाल पैदा होता है कि उसका यह कर्त्तव्य-पालन राज्य के प्रति है या राज्य जो कानून बनाता है, उसके प्रति है? यदि वह केवल राज्य के

प्रति हो, तो उस कर्तव्य का स्वरूप भिन्न होगा तथा केवल न्याय के प्रति हो, तो उसका स्वरूप भिन्न होगा। सब कहीं इस सवाल को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त होता जा रहा है। ऐसे व्यक्ति एवं समूह हैं, जो कहते हैं कि राज्य का मौजूदा गठन हमारे नैतिक आदर्शों एवं न्याय-विषयक कल्पनाओं से मेल नहीं खाता। ऐसी अवस्था में सवाल उठता है कि ऐसे व्यक्तियों को किस मात्रा में कानून का पालन करना चाहिए। राज्य चूंकि सबको न्याय देने वाला संगठन है, अत. उसका कहा मानने की बात से सामान्यतया कोई इनकार नहीं करेगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य के सत्ता-धारी अधिकारियों का हर आदेश तथा हर काम न्याय्य ही होगा। सामान्यतया राज्य का कहा मानने के सिद्धान्त की सीमाएँ पर्याप्त स्पष्ट हैं। जब राज्य औपचारिक रीति से कानून बना कर व्यक्तियों के कर्त्तव्य का मार्ग निश्चित करता है, तो उस समय उसका कहा सुनना और मानना व्यक्तियों का कर्तव्य साबित होता है। ऐसा कहने में कोई आपत्ति की बात नहीं है। व्यक्ति ही संविधान की व्यवस्था के अनुसार अपनी इच्छाओं को स्पष्ट करते हैं और वहीं से कानून की निर्मिति होती है। समाज की भावनाओं एवं धारणाओं को सुव्यवस्थित रूप देकर कानून बनाया जाता है। उसका जनक जनता ही होती है और चूंकि कानून एवं नियम हमीं ने बनाया है, अतः हमें उसका पालन करना ही चाहिए। यह व्यक्ति का एक नैतिक कर्तव्य हो जाता है। केवल यह सोचकर कि कानून के कारण उस कर्त्तव्य को हुक्म की शक्ल प्राप्त हो गई है या उसका पालन न करने से सजा मिलती है, उसको न मानना उचित नहीं। विश्वामित्री पैंतरे की भांति—'न मा न मम' कहने से काम नहीं चलेगा। इस कर्तव्य में राज्य की नींव जो न्यायविषयक कल्पना है, उसे अधिक महत्त्व प्राप्त है और सामान्य रूप से यह कल्पना समाज को स्वीकृत होती है। किसी व्यक्ति अथवा किसी गुट को, किसी विशेष प्रसंग में, राज्य की कोई आज्ञा या कोई आदेश पसन्द नहीं आया तो एक सिरे से सबकी सब आज्ञाओं को भंग कर देना या कानून को नामंजूर कर देना ठीक नहीं। कोट में एकाध बटन ज्यादा है या कम है, ऐसा कह कर कोई कोट को फाड़कर फेंक नहीं देता। उसमें आवश्यक सुधार करके लोग उसे अपने काम में ले आते हैं। यही बात यहाँ भी समझनी चाहिए।

राज्य-विषयक तत्त्व ज्ञान को यदि संक्षेप में कहना हो, तो यह सकते हैं कि राज्य नामक संगठन न्याय की स्थापना के लिए है और न्याय का व्यापक अर्थ है व्यक्ति, व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और समाज के बीच मौजूद सम्बन्धों में उचित सामंजस्य, जिससे अधिकाधिक लोगों को अपनी अधिकाधिक उन्नति करने का अधिकाधिक मौका मिल सके। जिस प्रकार गन्ने के हर हिस्से में मिठास रहती है, उसी प्रकार समाज एवं राज्य की हर संस्था एवं भावना में न्याय का निवास होना चाहिए। न्याय की इस भावना के निर्माण में अनेक व्यक्तियों के मन भाग लेते हैं। समाज की दृष्टि से वही न्याय है, जो अनेकों को अथवा सर्वसामान्य रूप से अधिका-धिक लोगों को योग्य प्रतीत होता है। समाज को जो प्रतीत होता है, राज्य कानून के रूप में उसी को स्पष्ट एवं कार्यप्रवण किया करता है और चूंकि यह काम राज्य को करना होता है अत. उसमें हुक्म का भाव काम करता है। एक दृष्टि से

में विचार-विनिमय एव विचार मन्थन करके जिन तत्त्वों की खोज सब सामाजिक स्तरों के होते हैं। वह किसी एक व्यक्ति का विचार समाज का होता है। उसे राज्य का सविधान स्वीकार करता है तथ में उसे कार्यान्वित करता है। अत जैसा हम कहते हैं, जैसी हमारी इ है, कानून उसी के अनुसार चलना है और चूंकि वह कानून न्याय की है, अत उसे मानना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। इस प्रक्रिया तथा विशेषतया प्रजातन्त्री राज्य-व्यवस्था में जिस प्रकार नागरिकों के इच्छा को, उनकी भावना तथा उनके आदर्शों को देखा जाता है, उसका हुए प्रजातन्त्री राज्य-व्यवस्था में आज्ञा अथवा कानून का भग करना जाता है। अनैतिक भी माना जाता है। इस सामान्य नियम का किस अपवाद हो सकता है, यह हम पहले बता चुके हैं। प्रजातन्त्र व्यवस्थ स्वामित्व या प्रभुत्व लोगों के हाथ में रहता है। वह असीम होता है। नियमों के अनुसार ही वह शक्तिशाली बनता है। तत्सम्बन्धी नियम प्रजातन्त्री राज्य के सविधान में स्पष्ट की जाती हैं। जनमत अथवा र प्रजातन्त्री राज्य का जीवन तत्त्व है। इसीलिए जनमत को काम करने का दिया जाना चाहिए। हर व्यक्ति को अपना अनुभव तथा दृष्टिकोण प्रगट सुनाने का अवसर मिलना चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रजातन्त्र के तन्त्र, पास हुए कानून को मानना व्यक्ति का नैतिक एव वैध कर्तव्य हो जाए होने पर भी यदि कभी किन्हीं व्यक्तियों को अथवा समूहों को कानून पसन्द न हो, तो उन्हें अपने विचारों को जाहिर करने का अधि चाहिए। स्वतन्त्रता होनी चाहिए। तथापि प्रजातन्त्री पद्धति से पास हु राजनैतिक दृष्टि से निष्ठापूर्वक एक राजनैतिक कर्तव्य के रूप में पाला जान सामाजिक या नैतिक कर्तव्य के रूप में उसका न पालना व्यक्ति के लिए न प्रतीत हो तो उक्त अपवाद माना जाना चाहिए। कानून की पृष्ठभूमि व्यवस्था में जनविचार एव जनसम्मति होने तथा उसमें न्याय होने के कार का मूल हेतु सिद्ध किया जाता है। चूंकि राज्य इस हेतु को कार्यान्वित क सगठन है, अत राज्य-सम्बन्धी निष्ठा एव राज्य-सम्बन्धी कर्तव्य निरपेक्ष उसके बारे में किसी प्रकार की शर्तें नहीं होती। क्योंकि राज्य के सम्बन्ध न रहे तो समाज का बना रहना असम्भव है। न्याय का मिलना तो और भी है। समाज-सम्बन्धी निष्ठा के लिए शर्तें हो सकती है, परन्तु राज्य-सम्बन्ध के लिए शर्तों के रहने से काम नहा चल सकेगा। राज्य की तात्कालिक सत्त सरकार के हाथ में रहती है। अत यदि कोई कानून इसलिए मजूर न हो मौजूदा सरकार ने बनाया है, तो इसे अनैतिक नहीं कहा जा सकता। ते अवमान की एक सीमा है। कलम की निब ठीक काम न करे तो कलम को फेंक देना इसका इलाज नहीं हो सकता। या तो निब बदल डालिए या उसे लीजिए। सरकार को बदलने की व्यवस्था प्रजातन्त्री सविधान में रहती है। एक रीति है। परन्तु केवल रीति न होकर रस भी है। व्याकरण अवश्य

केवल व्याकरण नहीं है। उसमें अर्थ भी है। प्रजातन्त्र का अर्थ है चुनाव। पर किसी भी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे द्वारा किया गया चुनाव नहीं। अतः जो पसन्द न हो, उसे बदल डालना उचित है। परन्तु जो मौलिक भाव है और जिसका कार्यकारी रूप राज्य है, उसके सम्बन्ध में निरपेक्ष निष्ठा का होना बहुत जरूरी है। यह माना कि राज्य के प्रभुत्व में सभी का साझा है। पर उसका प्रत्यक्ष स्वरूप वर्तमान राज्यसत्ता या सरकार है, यह भी उतना ही सही है। माना कि हिमालय प्रचण्ड है, पर उल्लेख होता है तो कैलाश शिखर का। यही स्थिति यहाँ है। अतएव तब तक कानून का विरोध करना ठीक नहीं जब तक वैसा करना अपरिहार्य न हो जाए।

प्रसंग-विशेष में अपवाद को मान्य करने के बाद किस स्थिति में अपवाद क्षम्य साबित होते हैं, इसका भी संक्षेप में विचार करना चाहिए। यदि किसी को कोई वस्तु ऐसी प्रतीत हो, जो कि उसकी मौलिक श्रद्धा के विरुद्ध जाती हो, तो उसे आज्ञा का भंग करना चाहिए, कानून का अवमान करना चाहिए, ऐसा हम पहले कह आए हैं। यह भी सही है कि व्यक्ति कितना भी व्यक्तिगत भावों से भरा हुआ क्यों न हो, कुछ-न-कुछ सामाजिक भाव उसमें निवास करता ही है। किंबहुना, जो सामाजिक तत्त्वों से युक्त नहीं, उसमें व्यक्तिगत तत्त्व भी नहीं रह सकते, ऐसी एक दीखने में असंगत पर वास्तव में पूर्ण सुसंगत व्याख्या की जा सकती है। जंगल में रहकर भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। समाज से उसका सम्बन्ध शत-प्रतिशत छिन्न नहीं रहता। व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाले विचार गंगा के प्रवाह में से निकाले हुए चुल्लू-भर पानी के समान होते हैं। उस चुल्लू-भर पानी के गुण-दोष धारा में बहने वाले पानी के गुण-दोषों के समान ही होते हैं। व्यक्ति का शारीरिक जीवन समाज से भले ही दूर चला जाए पर उसका मानसिक एवं वैचारिक जीवन समाज से जुड़ा रहता है। अतः व्यक्ति का आचरण एवं विचार वास्तव में सामाजिक होते हैं। अतः व्यक्ति को कोई भी काम करते समय यह अवश्य सोचना चाहिए कि उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा। वह अपनी इस जिम्मेदारी से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता। यदि उसने इस जिम्मेदारी का पालन नहीं किया तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अपने नैतिक कर्त्तव्य से विमुख हो रहा है। केवल इसलिए कि हमें कानून का कोई अंश पसन्द नहीं है, हम कानून के पालन की जिम्मेदारी से बचने की बात सोचें, तो उसमें बात नहीं बनेगी। उस कानून का पालन करना हमारा राजनैतिक कर्त्तव्य है। लोगों की सम्मति से कानून पास होता है, इस वस्तुस्थिति से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। इसलिए अन्यों द्वारा अधिकारपूर्वक की गई किसी बात की, नापसन्द कहकर उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह यह कह सकता है कि राजनैतिक कर्त्तव्य से बढ़कर भी एक और कर्त्तव्य है और उस कर्त्तव्य की पुकार उसे आज्ञा भंग करने का आदेश दे रही है। राजनैतिक कर्त्तव्य का पालन किया जाए या अपनी सदसद्विवेक बुद्धि का कहा माना जाए, यह दुविधा मनुष्य समाज में बहुतों के सामने बहुत दफा आकर खड़ी हो जाती है। कर्त्तव्य पालन से समाज का हित होगा या नहीं, पालन न करने से समाज का हित होगा या नहीं, यह हरेक व्यक्ति अपनी बुद्धि से विचार

केवल व्याकरण नहीं है। उसमें अर्थ भी है। प्रजातन्त्र का अर्थ है चुनाव। पर किसी भी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे द्वारा किया गया चुनाव नहीं। अत जो पसन्द न हो, उसे बदल डालना उचित है। परन्तु जो मौलिक भाव है और जिसका कार्यकारी रूप राज्य है, उसके सम्बन्ध में निरपेक्ष निष्ठा का होना बहुत जरूरी है। यह माना कि राज्य के प्रभुत्व में सभी का साझा है। पर उसका प्रत्यक्ष स्वरूप वर्तमान राज्यसत्ता या सरकार है, यह भी उतना ही सही है। माना कि हिमालय प्रचण्ड है, पर उल्लेख होता है सो कैलाश शिखर का। यही स्थिति यहाँ है। अतएव तब तक कानून का विरोध करना ठीक नहीं जब तक वैसा करना अपरिहार्य न हो जाए।

प्रसंग-विशेष में अपवाद को मान्य करने के बाद किस स्थिति में अपवाद क्षम्य साबित होते हैं, इसका भी संक्षेप में विचार करना चाहिए। यदि किसी को कोई वस्तु ऐसी प्रतीत हो, जो कि उसकी मौलिक श्रद्धा के विरुद्ध जाती हो, तो उसे आज्ञा का भंग करना चाहिए, कानून का अवमान करना चाहिए, ऐसा हम पहले कह आए हैं। यह भी सही है कि व्यक्ति कितना भी व्यक्तिगत भावों से भरा हुआ क्यों न हो, कुछ-न-कुछ सामाजिक भाव उसमें निवास करता ही है। किंबहुना, जो सामाजिक तत्त्वों से युक्त नहीं, उसमें व्यक्तिगत तत्त्व भी नहीं रह सकते, ऐसी एक दीखने में असगत पर वास्तव में पूर्ण सुसगत व्याख्या की जा सकती है। जंगल में रहकर भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। समाज से उसका सम्बन्ध घात-प्रतिघात छिन्न नहीं रहता। व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाले विचार गगा के प्रवाह में से निकाले हुए चुल्लू-भर पानी के समान होते हैं। उस चुल्लू-भर पानी के गुण दोष धारा में बहने वाले पानी के गुण-दोषों के समान ही होते हैं। व्यक्ति का शारीरिक जीवन समाज से भले ही दूर चला जाए पर उसका मानसिक एवं वैचारिक जीवन समाज से जुड़ा रहता है। अत व्यक्ति का आचरण एवं विचार वास्तव में सामाजिक होते हैं। अतः व्यक्ति को कोई भी काम करते समय यह अवश्य सोचना चाहिए कि उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा। वह अपनी इस जिम्मेदारी से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता। यदि उसने इस जिम्मेदारी का पालन नहीं किया तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अपने नैतिक कर्त्तव्य से विमुख हो रहा है। केवल इसलिए कि हमें कानून का कोई अंश पसन्द नहीं है, हम कानून के पालन की जिम्मेदारी से बचने की बात सोचें, तो उसमें बात नहीं बनेगी। उस कानून का पालन करना उसका राजनैतिक कर्त्तव्य है। लोगों की सम्मति से कानून पास होता है, इस वस्तुस्थिति से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। इसलिए अन्यों द्वारा अधिकारपूर्वक की गई किसी बात की, नापसन्द कहकर उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह यह कह सकता है कि राजनैतिक कर्त्तव्य से बढ़कर भी एक और कर्त्तव्य है और उस कर्त्तव्य की पुकार उसे आज्ञा भंग करने का आदेश दे रही है। राजनैतिक कर्त्तव्य का पालन किया जाए या अपनी सदसद्विवेक बुद्धि का कहा माना जाए, यह दुविधा मनुष्य समाज में बहुतों के सामने बहुत दफा आकर खड़ी हो जाती है। कर्त्तव्य पालन से समाज का हित होगा या नहीं, पालन न करने से समाज का हित होगा या नहीं, यह हरेक व्यक्ति अपनी बुद्धि से विचार

प्रकरण—५

एक दृष्टिक्षेप

प्रस्तुत पुस्तक मे आधुनिक राज्य एव स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे जो विचार किया गया है, उसकी एक विशिष्ट भूमिका है। आधुनिक राज्य की कल्पना कैसे *निर्माण* हुई, उसका स्वरूप कहाँ व कैसे बदलता गया, किस पद्धति से बदला, इत्यादि बातो का बहुत विस्तार से विचार नही किया। तत्सम्बन्धी विचार प्रस्तुत लेखक के *'राज्यशास्त्र-विचार' नामक ग्रन्थ मे किया गया है*। इसी प्रकार *स्वतन्त्रता तथा उसके* विविध स्वरूपो का भी सविस्तार विचार 'राज्यशास्त्र-विचार' एव 'राज्य व्यवहार विचार' नामक ग्रन्थो मे किया गया है। कानून सम्बन्धी विचार 'विधिशास्त्र विचार' नामक ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन सब कल्पनाओ के पीछे जो नैतिक एव तात्त्विक भूमिका है, उन्ही को ध्यान मे रखकर विचार किया गया है और अब मौजूदा ससार मे प्रजातन्त्र स्वरूप का राज्य एक चालू राजकीय फैशन हो गया है, ऐसा कहे तो कोई आपत्ति नही होगी। आधुनिक राज्य सामान्यतया प्रजातन्त्रात्मक राज्य हैं। कम-से-कम कोई भी राज्य अपने को स्वेच्छाचारी एव निरकुश राज्य कहने को तैयार नही है। परिस्थिति यह है कि जहाँ वस्तुत अधिनायकतन्त्र चल रहा है, वहाँ भी यही प्रदर्शित किया जाता है कि वह भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य ही है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि किसी राज्य को अधिनायकतन्त्र कहना उसको गाली देने जैसा है। दुनिया का लोकमत उसका समर्थन नही करता। शराबबन्दी होने पर जैसे कुछ लोग चोरी-छिपे शराब पीते है, उसी प्रकार अधिनायकतन्त्र पर लोकमत द्वारा बन्दी होते हुए भी कुछ लोग औरो की आँखो में धूल झोंक कर चोरी-छिपे अधिनायकतन्त्र का प्रयोग करते जरूर हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे दिखाई देती है। अब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अधिनायकतन्त्र की रत्ती भर भी प्रतिष्ठा नही रह गई, इस सचाई से इनकार नही किया जा सकता। जिस प्रकार व्यक्ति को समाज अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, उसी प्रकार राष्ट्रो एव राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की सम्मति अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, यह बात अब अधिकाधिक अनुभव का विषय बनती जा रही है। एक दृष्टि से विभिन्न स्वतन्त्र राज्यो को आपस मे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इस बारे मे कुछ मूल्य मत २०० वर्षो मे निर्माण हो गए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य को अपने सामने कौन से आदर्श रखने चाहिएँ, *इस बारे मे भी सर्वसम्मत मूल्य निर्माण हुए हैं। व्यक्ति स्वा*तन्त्र्य, राजकीय स्वातन्त्र्य, सामाजिक समता, आर्थिक न्याय आदि बातो को अब

किसी का प्रमाद या अनुग्रह नहीं समझा जाता। इसके विपरीत अब ये बातें इतनी नैसर्गिक एवं आवश्यक प्रतीत होने लगी हैं कि, जहाँ ये बातें नहीं हैं, या अधूरे रूप में हैं, वहाँ कुछ न कुछ न्यूनता एवं दोष है, ऐसा जग मानने लगा है।

यह जो स्थिति आज प्राप्त हुई है, वह फ्रेंच राज्यक्रान्ति से आरम्भ हुई विचार-धारा का फल है। राजकीय स्वतन्त्रता एवं समता यदि संसार के किसी एक ही राष्ट्र में रहे तो काम नहीं चलता। उसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी रहना चाहिए। तभी वह किसी राष्ट्र विशेष में रहेगी एवं वृद्धिगत होगी और तभी संसार में स्वतन्त्रता, समता तथा शान्ति का वातावरण निर्माण हो सकेगा। स्वतन्त्रता, अधिनायकतन्त्र तथा समाज की कोई भी प्रवृत्ति सांसर्गिक रोग की भाँति फैला करती है। जैसे एक दिये से दूसरा दिया जलता है, एक उदाहरण के बाद दूसरा उदाहरण सामने आता है, वैसा ही कुछ इन मामलों में भी होता है। गत २०० वर्षों में यही अनुभव लोगों को आया है। फ्रेंच राज्य क्रान्ति के पश्चात् अनेक अधिनायकतन्त्री राष्ट्रों में स्वतन्त्रता एवं न्याय के लिए आन्दोलन हुए हैं। अनेक कृत्रिम तौर पर बने हुए राज्य एवं साम्राज्य ढह गए। इसी प्रवृत्ति के साथ अनेक असंगठित राज्य संगठित हुए तथा मात्स्य न्याय से अनेक छोटे देशों को निगल कर शक्तिशाली देशों ने बड़े-बड़े साम्राज्य भी स्थापित किए। उपनिवेशवाद भी फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की भावना की लहर के साथ-साथ ही बढ़ता गया। एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों में अनेक राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। एक ही समय संसार के एक हिस्से में तो स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की भावना की लहर दौड़ रही थी, वहाँ दूसरे हिस्से में उपनिवेशवादी साम्राज्यशाही जोर-शोर से बढ़ती जा रही थी। पहले महायुद्ध का फल यह हुआ कि अधिक लोग तथा अधिक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए तथा थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, प्रजातन्त्र के कदम आगे की ओर बढ़े। पहले महायुद्ध के अनन्तर राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) जिन्हीं उदात्त हेतुओं को लेकर स्थापित हुआ। राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता को बढ़ावा देने के लिए बना हुआ यह संगठन उन लोगों के कृत्यों का समर्थक संगठन बनकर रह गया, जिन्होंने दूसरों के देशों को हड़प कर अपने कब्जे में ले लिया था। फलस्वरूप राष्ट्रों के बीच मौजूद झगड़ों को दूर करने की उसकी योजना सफल नहीं हो सकी। शक्तिशाली राष्ट्रों ने इस संघ की पर्वाह नहीं की। फल यह हुआ कि दो महायुद्धों के बीच के काल में औपचारिक प्रजातन्त्र तो कुछ जगहों पर दिखाई दिया पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा न हो सकी। समता तो थी ही नहीं; पर अब उस पर विचार करना भी राष्ट्रद्रोह समझा जाने लगा। कानून सिर्फ पूँजीपतियों का हुक्म बनकर रह गया। कहीं-कहीं तो व्यक्तिगत अधिनायकतन्त्र स्थापित हो गया। पहले महायुद्ध के बाद प्रजातन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सर्व-साधारण समता की जो उम्मीद पैदा हो गई थी, वह भले ही मरी न हो, तो भी मूर्च्छित अवश्य हो गई थी। सब कहीं हिटलरशाही, मुसोलिनीशाही तथा स्टालिन-शाही नामक निशाहियों ने संसार के जनसामान्य के नाक में दम कर रखा था। अनेक देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ पर सामान्य जनता का दारिद्र्य दूर नहीं हो सका। आर्थिक दुःखों के लिए स्वतन्त्रता ही एकमात्र औषधि है, यह भावना दृढ़ हो

गई। पर इस शोषण का उपयोग नहीं हो सका। इसके विपरीत अनेक बुद्धिमान् लोग अधिनायकवादी राज्यव्यवस्था का स्तुति पाठ करने लगे। आर्थिक स्वतन्त्रता ही सही मानों में स्वतन्त्रता है तथा सुरक्षा ही सब कुछ है, ऐसे सिद्धान्तों का निर्लज्ज रूप से प्रतिपादन किया जाने लगा। सुविधा के सामने तत्त्वों को दबा दिया गया। नैतिक जीवन शारीरिक संरक्षण के समक्ष हताश हो गया। संघर्ष एवं युद्ध को रोकने के लिए किए गए प्रयत्नों की पराकाष्ठा ही युद्ध को नजदीक खींच लाई। उसे उसने अपरिहार्य बना दिया और तब दूसरे महायुद्ध की घोषणाएँ—पहले अपने-अपने अखबारों में तथा पीछे से युद्ध के मैदानों में—शस्त्रास्त्रों की झनझनाहट के साथ प्रारम्भ हुई। दूसरे महायुद्ध का घोष युद्धमान राष्ट्रों ने अपनी-अपनी ओर से घोषित किया। तथा दो युद्धमान समूहों में किसी बात की कोई समानता नहीं थी। विशेषतः, इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं रूस के समूह में हिटलर के विरोध के सिवाय और कोई भी बन्धनकारक समान भावना नहीं थी। रूजवेल्ट साहब की चार स्वतन्त्रताएँ गौरवास्पद थीं, इसमें सन्देह नहीं। उनके कारण महायुद्ध के बाद राष्ट्रवादी स्वातन्त्र्य एवं व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को बढ़ावा मिलने की उम्मीद बढ़ गई थी। युद्ध को खत्म हुए एक द्वादशाब्दि (१२ साल) बीत गई है। युद्ध के बाद फिर एक बार प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता की कल्पना को बल मिला। इन १२ वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) ने कुछ प्रथाओं एवं परम्पराओं को जन्म दिया है। गाँवों में पुलिस चौकी के आ जाने से टंटे बखेड़े कुछ कम हुए हैं या एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़े हैं ऐसा कुछ-कुछ अनुभव जरूर आया है। तथापि संसार में गुटबन्दी कम नहीं हुई है। पुराने स्वार्थों की कल्पनाएँ नया चोला पहनकर सामने आने लगी हैं। अफ्रीका के राष्ट्र अब धड़ाधड़ स्वतन्त्र होते जा रहे हैं। पर इन दो गुटों ने सारे विश्व को जो बाँट डाला है, उसके कारण प्रत्येक गुट में शामिल हुए राष्ट्रों की स्वतन्त्रता पूरी तरह से छिनती चली जा रही है, यह भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। अतः यह भले ही सही हो कि आज के संयुक्त राष्ट्र संघ ने पहले वाले राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक समर्थ संगठन निर्माण किया है तथा छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों को पहले की अपेक्षा अधिक अभयदान मिल रहा है, तथापि राष्ट्र की स्वतन्त्रता अभी निर्विवाद नहीं है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ केवल राजकीय स्वतन्त्रता नहीं रह गया है। स्वतन्त्रता का अर्थ सिर्फ यही रह गया है कि राष्ट्र स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ होता है राष्ट्र की स्वतन्त्रता के साथ-साथ निर्धारित सीमा के भीतर व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का केवल इतना ही अभिप्राय नहीं कि उसे प्रजातन्त्री राज्य में स्थान मिल गया है अथवा आर्थिक दृष्ट्या उसका जीवन सार्थक एवं समृद्ध हो गया है। जिस सामाजिक संदर्भ में वह व्यक्ति निवास करता है, वहाँ सामाजिक एवं आर्थिक समानता होनी चाहिए। केवल समाज के सधन हो जाने से, जीवन के स्तर के ऊँचा हो जाने से ही स्वतन्त्रता की पूर्णमासी उदित हो गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सिर्फ यही कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता रूपी चन्द्रमा की कुछ एक कलाओं का उदय हो गया है। स्वतन्त्रता की प्रसादपूर्णमासी जब विषमता से भरे आर्थिक एवं सामाजिक जीवन रूप कलंक से एकदम मुक्त हो जाएगी, तभी उसे पूरी तरह पूर्ण-

मामी कहा जा सकता है। यह अवश्य सच है कि गत १३ वर्षों में ससार भर की जनता में थोड़ा-सा आशा एवं साहस का वातावरण उत्पन्न हुआ है। साथ ही लोगों मे यह भावना भी काम करने लगी है कि व्यक्ति की उन्नति एव विकास को राष्ट्र की उन्नति एवं विकास के साथ निगडित होना चाहिए और यही कारण है कि एतद्विषयक चर्चा सब कहीं खुले रूप में होने लग गई है।

दो महायुद्धों के बाद संसार मे समता एवं स्वतन्त्रता विषयक विचारधारा पर्याप्त व्यापक हो गई है। उसे विशालता भी प्राप्त हुई है। पर इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता रूपी स्थायी भाव की अभी पूरी तरह से स्थापना नहीं हो पाई है। विश्व उष्णयुद्ध भले ही न हो तो भी शीत युद्ध का वातावरण असंदिग्ध है। कुछ राज्यों को अपने विकास के लिए इस वातावरण की आवश्यकता महसूस होती है। क्षण भर को विष खाकर जीवित रहने का यह प्रयत्न है। अल्प परिमाण में खाया गया विष दवा का काम देता है, ऐसी मानवीय दृष्टि से विचार करने पर भी यह शीतयुद्ध मानसिक सतोष का कारण नही बन पाता। ऐसा लगता है कि भवितव्य को साढेसाती ने ग्रस लिया है। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा आर्थिक समता की ओर दृष्टिक्षेप करने पर कहीं-कहीं परिस्थिति सतोषजनक अवश्य नजर आती है तो भी बहुसख्यक प्रदेशों में वह अभी तक असतोषजनक चली आ रही है। सामाजिक समता एवं आर्थिक न्याय के बगैर स्वतन्त्रता परिपूर्ण नही होती। यदि हम चाहते हैं कि वैसी स्थिति उत्पन्न हो तो हमे ससार भर की आर्थिक परिस्थिति को बहुत बड़े पैमाने पर सुधारना होगा तथा औद्योगिक उन्नति करनी होगी। इस बात के लिए जहाँ आशाजनक स्थिति है, वहाँ सामान्य रूप मे लोग कानून को मानते है। जिस वातावरण मे अर्थ-व्यवस्था प्रगमनशील हो, रोजगार बढ़ रहा हो, कर्तव्यशक्ति के विकास के लिए अवसर मौजूद हो, वहाँ साहस, प्रयत्नशीलता, उत्कट गुण एव सृजनशीलता कार्यप्रवण रहते हैं तथा प्रजातन्त्र द्वारा प्रदत्त विचार-स्वातन्त्र्य के कारण उपर्युक्त वातावरण अधिकाधिक वृद्धिगत होता जाता है। इसके विपरीत जहाँ आर्थिक व्यवस्था दुर्बल, कामचलाऊ एव विषमतापूर्ण होगी वहाँ केवल भविष्य के बारे में ही नहीं वर्तमान के बारे में भी लोग सन्देह करने लग जाएँगे और तब उन्हें नियन्त्रण मे रखने के लिए राज्यसत्ता उनकी मौलिक स्वतन्त्रता मे काट-छाँट करना शुरू कर देती है। तब बहुतों को नए विचार भयानक लगने लगते हैं। और जो बातें प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था मे स्तुत्य मानी गई है, वे ही निन्द्य साबित होती हैं। लोगों की शिकायतों की उपेक्षा होने लगती है। उस समय अनेक बार ऐसा होता है कि या तो लोगों को कुचल दिया जाता है या फिर अपनी सुविधा के लिए किसी के साथ दुश्मनी मोल लेकर देश मे सकट एवं युद्धकालीन परिस्थिति घोषित कर दी जाती है तथा न्याय्य वस्तु को बहुत दूर धकेल दिया जाता है। मदद करने के लिए आस-पास 'अयूब' अथवा 'मउदजेंदु ग' जैसे लोग मिल ही जाते हैं। यह ठीक है कि लोगों की उम्मीदों को कुचल कर अथवा उनका ध्यान राष्ट्रीय सकट की ओर आकृष्ट करके कुछ समय खींचा जा सकता है। राष्ट्र के सरक्षण के लिए प्रजा की भावनाओं को उभाड़कर अवसरवादियों [illegible] ी की रक्षा की जाती [illegible] राज्य की सीमाओं की रक्षा के

बहाने स्वतन्त्रता पर आक्रमण करके स्वतन्त्रता की ही सीमा को संकुचित करने का प्रयत्न किया जाता है। दो महायुद्धों के बाद भी अभी तक ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हो सकी, जिसमे कहा जा सके कि अब स्वतन्त्रता तथा समता के लिए कहीं कोई खतरा नहीं है। यह भी कहना सम्भव नही कि सारे विश्व में स्वतन्त्रता के लिए उत्साह एव समता के लिए ममता मौजूद है। स्वतन्त्रता एव समता का अर्थ भी जितने व्यापक पैमाने मे हम पीछे कर आये हैं, अभी बहुतेरे स्थानो मे, उतना भी नही लिया जाता है। अमेरिका मे आज भी स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण एव नियोजन रहित अर्थव्यवस्था तथा खुले बाजार की व्यवस्था ही समानार्थक है, ऐसा माना जाता है। एशिया तथा अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों मे स्वतन्त्रता का अर्थ सत्ताधारी वर्ग की राय ही दिखाई देता है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में यदि कुछ विचार होता है, तो वह भी वर्ग के हित की दृष्टि से होता है। एशिया एव अफ्रीका महाद्वीपों मे अगणित एव असख्य लोग आज भी दारिद्रय के दलदल मे फँसे हुए हैं। कुछ यूरोपियन राष्ट्रों मे महायुद्धजन्य पराजय के कारण आशामय जीवन नष्टप्राय हो गया है। तथा जहाँ स्वतन्त्र एव सधन समाज एकत्र आए हैं, वहाँ तुच्छता की भावना तथा नैतिक ह्रास दृष्टिगत होता है। सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ—अपनी भाँति अन्य देशो की तथा परदेशो की जनता को भी स्वतन्त्र एव सुखी होना चाहिए ऐसी बुद्धि—है। पर वैसी बुद्धि कही दिखाई नही देती। गत १३ वर्षों मे कुछ भी प्रगति नही हुई, ऐसी बात नही। स्वतन्त्रता का विचार लोग—हम जीवित हैं, ऐसा अनुभव होने पर—करने लगते हैं। घर, दार, बाजार तथा पडौस—सब कही दरिद्रता हो, जीना भी दुश्वार हो जाए, तो लोगो के मन—कल आने वाला दिन कैसा होगा तथा आज का दिन कैसे बीतेगा—इन्ही बातो के विचार मे डूबे रहते हैं। व्यापक एव तेजस्वी नैतिक भावना उनके मन का स्पर्श तक नही करती। और इसीलिए आवश्यकताओं से पिंड मुक्ति (फ्रीडम फ्रॉम वाण्ट्स) महायुद्ध के दिनो में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा साबित हुई। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है, यह एक मौलिक अधिकार घोषित हुआ। तथा इसी अधिकार के अनुरोध से नियोजन व्यवस्था आर्थिक क्षेत्र में आकर्षक सिद्ध हुई। तथापि सामान्य जनो की उन्नति के लिए आवश्यक नियोजन व्यवस्था को स्वतन्त्रता पर हमला बताकर उसका विरोध करने वाले लोग केवल अमेरिका में ही हैं, ऐसी बात नहीं, भारत मे भी सीलोन से लेकर श्रीनगर तक मौजूद हैं। और यदि एक राष्ट्र में स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले एव गुलामी में रहने वाले लोग एक साथ नही रह सकते अथवा एक ही राष्ट्र मे सम्पन्न एव विपन्न—ये वर्ग बहुत समय तक नही रह सकते, इस ऐतिहासिक अनुभव को मान्य करने के बाद अब समूचे विश्व में भी कुछ राष्ट्र स्वतन्त्र एव सम्पन्न तथा कुछ राष्ट्र दास्य एव दारिद्रय से ग्रस्त नही रह सकेंगे। इसी प्रकार एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधूरेपन को दूर करने के लिए उसके सम्पर्क मे आने वाले समाज के भीतर वाले तथा बाहर वाले लोगों को भी स्वतन्त्र होना होगा। इसी प्रकार एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए अन्य राष्ट्रों को भी स्वतन्त्र होना चाहिए, यह नैतिक सिद्धान्त अब सर्वसम्मत हो चुका है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यासपीठ मे उसका प्रचार किया जा

रहा है। और इसी कारण गत १०-१२ वर्षों में विश्व की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में भी कुछ नियन्त्रण मंजूर कर लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मारफत, इस दृष्टि से अनेक बातें की गई हैं। यह सब ठीक तरह से हो, इसके लिए विश्व में सहयोग एवं शान्ति की जरूरत है। तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के टण्टों को दूर करने का एकमात्र मार्ग अभी तक युद्ध ही समझा जाता है। एक युद्ध के उपसंहार के बाद का समय अगले युद्ध की प्रस्तावना का समय बन गया है। सामाजिक सुधार एवं प्रगति जिस मंजिल पर जा पहुँची है, उसे देखते हुए कहना होगा कि यदि सारे विश्व में स्वतन्त्रता, समृद्धि, स्वास्थ्य एवं स्वराज्य की स्थापना न हुई तो, यह सारी प्रगति खटाई में पड़ जाएगी। सारे विश्व की राजनीति—कम-से-कम आज की राजनीति—सामान्यतया दो गुटों में विभक्त हो गई है। एक तीसरा असंगठित किन्तु अच्यारत ऐसा तटस्थ गुट है। तो भी इस राजनीति के कारण कहीं भी कोई लड़का क्यों न हो, उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ता है। और यदि इस राजनीति में वक्रता आ जाए तथा सम्पूर्ण विश्व के व्यवहार में वक्रता के आने की सम्भावना बढ़ जाए तो उससे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार की एकता को खतरा पैदा हो जाएगा। अनेक स्थानों पर यह खतरा हमें साफ-साफ दिखाई भी देने लगा है। राजनीति में हठवादिता बढ़ जाए; तो देश में क्रान्ति की ज्वालाओं के भड़क उठने की सम्भावना हो जाती है तथा यदि यही हठवादिता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी प्रवेश कर जाए तो युद्ध के पूर्व के अशुभ शकुन दिखाई देने लगते हैं। आज यदि कहीं युद्ध छिड़ जाए, तो उसका रणांगण कोई विशेष प्रदेश अथवा महाद्वीप न होकर सम्पूर्ण भूगोल एवं खगोल उस युद्ध की लपटों में चला आएगा। शेष के सिर पर रही भूमि निःशेष हो जाएगी तथा शेष भी शेष रह सकेंगे या नहीं, कहना कठिन है। और यदि कहीं वैसा हो गया तो समूची स्वतन्त्रता एवं नैतिकता कथावशेष हो जाएगी। ग्रन्थ के ही भस्म हो जाने के बाद यह कहना आवश्यक हो जाता है कि उसके भीतर का प्रतिपादित साहित्य भी भस्म हो जाएगा। और यही कारण है कि आज व्यक्ति-व्यक्ति के लिए एवं राष्ट्र-राष्ट्र के लिए विश्वशान्ति, सद्भाव एवं सहयोग की सख्त जरूरत है। और यह सद्भाव, सहयोग एवं शान्ति तब तक संसार में स्थापित नहीं हो सकती, जब तक राष्ट्रों के बीच आर्थिक विषमता मौजूद है। अतः आज के राष्ट्रों में जो सम्पन्न एवं अभावग्रस्तों का विसंक्षोभक दृश्य दिखाई देता है, उसे दूर हो जाना चाहिए। उसे दूर करना हो तो यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि शक्ति का प्रयोग अनुचित एवं निरुपयोगी है। और इसी कारण उस क्षेत्र में भी विचार-विनिमय एवं चर्चा द्वारा अभीप्ट वातावरण की निर्मिति का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जिस प्रकार एक राष्ट्र के विभिन्न पक्षों में मौलिक विचारधारा के सम्बन्ध में, मौलिक गृहीत कृत्यों के सम्बन्ध में एकवाक्यता रहती है तथा उससे राष्ट्र की प्रगति होती है, ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इस प्रकार के किन्हीं मौलिक गृहीत कृत्यों के सम्बन्ध में एकवाक्यता होनी चाहिए। और राष्ट्रों में जब तक यह मौलिक श्रद्धा न होगी कि सब प्रश्नों एवं समस्याओं का हल हमें शान्ति, सुविचार एवं विचार-विनिमय द्वारा ही करना है, तब तक न तो कोई प्रगति होगी और न ही विश्व का भविष्य

सुनिश्चित हो सकेगा। आज यदि प्रस्फोट नही हुआ तो कल हो जाएगा, क्योकि विश्व की जनता स्वतन्त्रता के लिए तरस रही है, सुखी जीवन बिताने की उसकी भूख उत्तरोत्तर बढती जा रही है। ऐसी हालत मे यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उद्दण्ड होकर व्यवहार करने लगे तो उसकी सफलता क्षणजीवी ही सिद्ध होगी, पर उससे उसका तथा विश्व का जो अहित होगा, उसका प्रतिकार युगयुगान्तर तक नही किया जा सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी हम देखते हैं कि जबर्दस्त की बात मान लेने से उसका जबर्दस्तपन और बढता ही चला जाता है। चुप बैठे ही रहे या तटस्थ बने रहें तो आज की यह चुप्पी या तटस्थता कल के विनाश की नान्दी साबित होगी। अत. जहाँ मौलिक श्रद्धा का सवाल उठता है, वहाँ तटस्थ रहने से काम नही चलता। गोल-मोल बातें बहुत देर तक कूटनीति पाडित्य की सूचक नही रह सकती। राह चलते हुए झगडे मे शामिल होना बुद्धिमत्ता का लक्षण नही है, यह ठीक है तथापि जहाँ खुल्लम-खुल्ला गाय वध किया जा रहा हो, किसी स्त्री का शील भग किया जा रहा हो, निर्दयता एव असह्य अन्याय हो रहा हो, वहाँ दौडकर न पहुँचना भी कर्तव्य-च्युति का लक्षण हो जाता है। और यू० एन० ओ० की धर्मसभा मे जिन लोगो ने इस प्रकार की तटस्थता से काम लिया उन्होने अपनी आत्मा को तो अवमानित किया ही, साथ ही उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक अभद्र मोड भी दिया है, ऐसा कहना होगा। ससार मे शान्ति बनाए रखने के लिए अनथक प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। क्योकि शान्ति के अभाव मे विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रो की राष्ट्रीय एव वैय-क्तिक—दोनों प्रकार की स्वतन्त्रताओ का लोप हो जाएगा।

यो विश्व के इन दो गुटो मे केवल आदर्श विषयक ही भेद हो, ऐसी बात नही। सामान्यतया यह भी कहा जा सकता है कि आदर्शों के मामले मे बहुत दूर तक दोनो मे समान क्षेत्र है। फर्क है साधनों के मामले मे तथा विशेषतया सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोण मे। लक्ष्मी विश्व के समस्त दु खो का आदिकारण है, ऐसा यदि कोई कहे तो वह ठीक ही है। समुद्रमथन से निर्माण होने वाली यह लक्ष्मी सर्वत्र गडबड़ एव मथन उत्पन्न करने वाली देवता सिद्ध हुई है। निजी सम्पत्ति के बारे मे पाश्चात्य प्रजातन्त्री राज्यो का दृष्टिकोण साफ है। वहाँ हम देखते हैं कि सम्पत्ति विषयक इस दृष्टिकोण पर—इस अर्थव्यवस्था पर हमला होने पर उसका मुकाबला सम्पत्तिमान् वर्ग रक्तपात एव गृहयुद्ध की भी पर्वाह न करते हुए करता है। यही नहीं यदि प्रजातन्त्र समता की माँग करने लगे तो वे प्रजातन्त्र का भी गला घोटने के लिए आगा-पीछा नही देखेंगे। दो महायुद्धों का अनुभव हमें यही बताता है। साथ ही यह भी सत्य है कि अनेक देशो मे सम्पत्ति का उत्पादन बढ जाने से समाज सघन हो गया है। ऊपर के लोगो को नीचे नही आना पडा। नीचे के लोग ऊपर चले आए हैं। अत वर्गों के रहने हुए भी वहाँ वर्ग युद्ध की तीव्रता बहुत कम हो गई है। तथापि विषमता रह रहकर उठने वाला पेट का दर्द नहीं है, वह एक स्थायी सामाजिक रोग है। उस रोग का इलाज केवल अको के जादू से नहीं किया जा सकता। गाँव को कोई वस्तु मिले तो उसका यह अर्थ नहीं कि गाँव में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को वह मिल जाती है। अतः समाज

के प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यक वस्तु तो मिलनी ही चाहिए। पर हाँ उतने से काम चलता नहीं है। आज के युग में जरूरियात, सामाजिक औसत आदि की अपेक्षा भी जिस बात की अत्यन्त आवश्यकता है, वह है यह दिखाने का प्रयत्न कि उनके पास औरों की अपेक्षा जो चीजें ज्यादा हैं, वे सब बहुत मेहनत से तथा ईमानदारी से कमाई हुई हैं। अधिनायकतन्त्र में दरिद्रता आरोपी के कठघरे में रहती है! प्रजातन्त्र में वह साझीदार बनती है तथा उन्नति का प्राथमिक आरोप सम्पत्तिमान् वर्ग के ऊपर होता है तथा जब तक देश में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी न्यूनतम आवश्यकता की वस्तु नहीं मिल जाती, तब तक चैन नहीं मिलता और जब उतनी वस्तु मिल जाती है, तब लोगों के चित्त तब तक बेचैन रहते हैं जब तक सब को समान मात्रा में आवश्यकता की वस्तु नहीं मिल जाती और तब तक स्वतन्त्रता भी उस समाज में सार्थक नहीं हो पाती। अतः सम्पत्ति की निर्मिति पर सामान्य रूप से समाज का स्वामित्व होना चाहिए। उसके निर्माण में जिन-जिन लोगों ने हाथ बटाया हो, उन्हें तो उसका हिस्सा खलिहान ही में मिल जाना चाहिए और देश में यह व्यवस्था तभी संभव होती है, जब अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में इसके लिए अनुकूल वातावरण विद्यमान हो। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आदर्शों के सामर्थ्ययुक्त होने से राष्ट्रों में अनेक मार्गों में अभीष्ट परिस्थिति का निर्माण संभव हो जाता है। विश्व में इतनी अनुकूलता अभी मौजूद नहीं है। यदि सारा जग एक हो जाए, 'जय हिंद' एवं 'जय सोवियत' के स्थान पर 'जय जगत्' की घोषणा सर्वमान्य हो जाए, तो राष्ट्रीय सीमाएँ, राज्यों की सीमाएँ निरर्थक हो जायेंगी और एकदम सही मानों में समृद्धि एवं सम्पत्ति अविभाज्य साबित हो तो उसके उचित मात्रा में उपभोग का अवसर सबको प्राप्त होगा। आज की परिस्थिति में राष्ट्रवाद के प्रभावशाली होने के कारण जागतिक शान्ति एवं कल्याण के लिए राष्ट्र अथवा राज्य अपनी प्रभुसत्ता को थोड़ा-सा भी कम करने के लिए तैयार नहीं है। व्यक्ति अपने विकास के लिए समाज के नियमों एवं राज्य के कानूनों का पालन किया करता है। क्योंकि उसका जीवन-चित्र उस चौखट में सटीक बैठता है। ऐसी कोई चौखट अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में अभी निर्माण नहीं हो पाई है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी के प्रति विनति करने की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं करता। आज्ञा देने की स्थिति अभी उसे प्राप्त नहीं हुई है। आज भी उसकी कीमत इतनी ही है, जितनी किसी गाँव के चार चौधरियों द्वारा दिए गए फैसले की हो सकती है। कारण उसे मनवाने के लिए समर्थ दण्ड व्यवस्था मौजूद नहीं है। बिलकुल ताजा उदाहरण अफ्रीका की राजनीति को देखने से मिल जाता है। यदि निकट भविष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ एक आज्ञापक निर्णय देने वाला तथा उसे क्रियान्वित कराने वाला संगठन हो जाए तो निश्चित ही विश्व में शान्ति एवं समृद्धि की मांगल्यपूर्वक प्रतिष्ठा हो जाएगी।

हम इस ग्रन्थ में लिख चुके हैं कि आज की दुनियाँ में आर्थिक सुसम्पन्नता के अभाव में स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है। देश में यदि आर्थिक समता एवं सम्पन्नता को आना है, तो उसके लिए वैयक्तिक स्वामित्व को कम करना होगा तथा सम्पत्ति की निर्मिति एवं उसके स्वामित्व को अधिकाधिक लोगों के हाथ में

सुनिश्चित हो सकेगा। आज यदि प्रस्फोट नही हुआ तो कल हो जाएगा, क्योकि विश्व की जनता स्वतन्त्रता के लिए तरस रही है, सुखी जीवन बिताने की उसकी भूख उत्तरोत्तर बढती जा रही है। ऐसी हालत मे यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उद्दण्ड होकर व्यवहार करने लगे तो उसकी सफलता क्षणजीवी ही सिद्ध होगी, पर उससे उसका तथा विश्व का जो अहित होगा, उसका प्रतिकार युगयुगान्तर तक नही किया जा सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी हम देखते है कि जबर्दस्त की बात मान लेने से उसका जबर्दस्तपन और बढ़ता ही चला जाता है। चुप बैठे ही रहें या तटस्थ बने रहें तो आज की यह चुप्पी या तटस्थता कल के विनाश की नान्दी साबित होगी। अतः जहाँ मौलिक श्रद्धा का सवाल उठता है, वहाँ तटस्थ रहने से काम नही चलता। गोल-मोल बातें बहुत देर तक कूटनीति पाडित्य की सूचक नही रह सकती। राह चलते हुए झगडे मे शामिल होना बुद्धिमत्ता का लक्षण नही है, यह ठीक है तथापि जहाँ खुल्लम-खुल्ला गाय वध किया जा रहा हो, किसी स्त्री का शील भंग किया जा रहा हो, निर्दयता एवं असह्य अन्याय हो रहा हो, वहाँ दौडकर न पहुँचना भी कर्तव्य-च्युति का लक्षण हो जाता है। और यू० एन० ओ० की धर्मसभा मे जिन लोगो ने इस प्रकार की तटस्थता से काम लिया उन्होने अपनी आत्मा को तो अपमानित किया ही, साथ ही उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक अभद्र मोड भी दिया है, ऐसा कहना होगा। संसार मे शान्ति बनाए रखने के लिए अनथक प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। क्योकि शान्ति के अभाव मे विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों की राष्ट्रीय एव वैय-क्तिक—दोनो प्रकार की स्वतन्त्रताओ का लोप हो जाएगा।

यो विश्व के इन दो गुटो मे केवल आदर्श विषयक ही भेद हो, ऐसी बात नही। सामान्यतया यह भी कहा जा सकता है कि आदर्शों के मामले मे बहुत दूर तक दोनो मे समान क्षेत्र है। फर्क है साधनों के मामले मे तथा विशेषतया सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोण मे। लक्ष्मी विश्व के समस्त दुःखो का आदिकारण है, ऐसा यदि कोई कहे तो यह ठीक ही है। समुद्रमथन से निर्माण होने वाली यह लक्ष्मी सर्वत्र गडबड एवं मथन उत्पन्न करने वाली देवता सिद्ध हुई है। निजी सम्पत्ति के बारे मे पाश्चात्य प्रजातन्त्री राज्यो का दृष्टिकोण साफ है। यहाँ हम देखते हैं कि सम्पत्ति विषयक इस दृष्टिकोण पर—इस अर्थव्यवस्था पर हमला होने पर उसका मुकाबला सम्पत्तिमान् वर्ग रक्तपात एवं गृहयुद्ध की भी परवाह न करते हुए करता है। यही नहीं यदि प्रजातन्त्र समता की मांग करने लगे तो वे प्रजातन्त्र का भी गला घोटने के लिए आगा-पीछा नहीं देखेंगे। दो महायुद्धों का अनुभव हमें यही बताता है। साथ ही यह भी सत्य है कि अनेक देशों में सम्पत्ति का उत्पादन बढ जाने से समाज मथन हो गया है। ऊपर के लोगो को नीचे नहीं आना पडा। नीचे के लोग ऊपर चले आए हैं। अब वर्गों के रहते हुए भी वहाँ वर्ग युद्ध की तीव्रता बहुत कम हो गई है। तथापि विषमता रह रहकर उठने वाला पेट का दर्द नहीं है, वह एक स्थायी सामाजिक रोग है। उस रोग का इलाज केवल पैसे के जादू से नहीं किया जा सकता। गाँव को कोई वस्तु मिले तो उसका यह अर्थ नहीं कि गाँव में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को वह मिल जाती है। अतः समाज

अथवा समृद्ध जीवन यदि स्वतन्त्रता में से निर्माण न होता हो, तो वह स्वतन्त्रता टिक नहीं सकती और ऐसी स्वतन्त्रता अब अभीष्ट भी नहीं है। और यदि इस प्रकार का समृद्ध जीवन बनाना है, तो सारे विश्व के लिए एक ही आर्थिक व्यवस्था एवं एक स्थूल नियोजन व्यवस्था की आवश्यकता है। और उस दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों में अनुकूल प्रवृत्तियों का निर्माण होना चाहिए। जो निष्ठा राष्ट्र के प्रति है, वही निष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति भी शनैः-शनैः उत्पन्न की जानी चाहिए। और इसीलिए संसार के प्रत्येक व्यक्ति को सुशिक्षित एवं सुविचारी होना चाहिए। यदि युद्धकाल में बेशुमार खर्च करके राष्ट्र को सगठित किया जा सकता है, तो यह बात कोई स्वीकार नहीं करेगा कि राष्ट्र को सुशिक्षित करने के लिए सगठन नहीं किया जा सकता। और अतएव सम्पत्ति का विनियोग बड़े-बड़े जहाज बनाने, अन्तरिक्ष को भेद डालने वाले आयुध तैयार करने तथा समूचे विश्व को समाप्त करने की क्षमता वाले अणुबम सरीखे साधनों का निर्माण करने में न करके मनुष्य के मन को उन्नत एवं विवेकी बनाने के काम में किया जाना चाहिए। आज यन्त्र-सायन बन रहे हैं। तन्त्र-विषयक शोधकार्य बहुत बड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं। तथापि इस क्षेत्र में होने वाली प्रगति के साथ मनुष्य की मानसिक उन्नति के क्षेत्र में उतनी प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती। और जब तक मनुष्य का मन विवेकी, निष्ठावान् तथा दृढ़तायुक्त नहीं होगा, तब तक उसके हाथ में आधुनिक हथियारों का पकड़ाना खतरे से खाली नहीं। आज यदि संसार की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रहना है तो उसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर मानसिक शान्ति का होना आवश्यक है। और जब तक वह शान्ति नहीं होगी तब तक समता एवं आर्थिक सम्पन्नता उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं होगी तथा सामाजिक सम्बन्धों में जिस सन्तुलन की जरूरत होती है, वह नहीं रह सकेगा। मानसिक शान्ति के अभाव में संसार के अन्दर स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता की स्थापना कठिन हो जाएगी तथा शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता में जीवित किस प्रकार रहा जाए, इस बात की चिन्ता ही प्रमुखता पा जाएगी।

आज के विश्व में तान्त्रिक क्षेत्र में हुए शोध एवं बोध पर तथा जो विचार-प्रवाह आज हमें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दृष्टिगत होते हैं, उन पर विचार करने से एक बात साफ जाहिर होती है कि भले ही स्वतन्त्रता विषयक तत्त्वज्ञान एवं तद्विषयक सिद्धान्त स्वीकृत हो चुके हों, उन्हें प्रतिष्ठा मिल चुकी हो, तो भी यह कहना कठिन है कि वे पूरी तरह से सुरक्षित रह सकेंगे या उन पर किसी प्रकार का कोई आक्रमण होगा ही नहीं। अतः सुरक्षा की आवश्यकता एकदम स्पष्ट है तथा उसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सगठन निर्माण किया जाना चाहिए। और इस समय जो थोड़ा-बहुत मौजूद है, उसे ताकतवर बनाया जाना चाहिए। अन्याय जहाँ भी हो, चाहे वह राष्ट्रीय सन्दर्भ में हो, या अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में, उसके विरोध में यदि आवाज न उठाई गई, उसके मुकाबले के लिए प्रबल सगठन नहीं किया गया, तो दोनों ही क्षेत्रों में स्वतन्त्रता परास्त हो जाएगी—पराभूत हो जाएगी। यदि चुपचाप अन्याय को सहन कर लिया जाए, तो दिखाऊ एवं बोलने-चालने में शूर लोगों की

देना होगा। यह सब प्रजातन्त्र में ही अधिक सम्भव है ऐसा इतिहास का अनुभव है। उसी अनुभव को आधार बना कर हमने इस ग्रन्थ मे आर्थिक व्यवस्था का विवेचन किया है। व्यक्तिगत स्वामित्व एवं प्रजातन्त्र व्यवस्था अब एक साथ नही बनी रह सकती और यदि व्यक्तिगत स्वामित्व अधिक हठ ठानने लगे तो उसका क्या फल होगा, यह बताने की आवश्यकता नही। प्रजातन्त्र का रूप चाहे कुछ क्यो न हो, वह अनन्त काल तक व्यक्तिगत स्वामित्व को समाज मे बने रहने नही दे सकता। अब विश्व की राजनीति मे महत्त्व का सवाल इतना ही रह गया है कि इस व्यक्तिगत स्वामित्व को थोडा-थोडा करके समाप्त किया जाए या क्रान्ति द्वारा एकदम समाप्त किया जाए। आर्थिक विपन्नता एवं विषमता को केवल एक देश मे से उखाड देने से काम नही चलेगा। पाल मे यदि एक भी आम सडा हुआ हो, तो सारे के सारे आम सड जाते है। इसी प्रकार आज की दुनियाँ मे अगर कहीं भी आर्थिक विपन्नता एवं विषमता मौजूद रहे, तो उससे सारे विश्व की आर्थिक अवस्था के बिगड जाने का खतरा पैदा हो जाता है। अत. इस प्रश्न पर विचार तथा उसके प्रतिकार की योजना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की जानी चाहिए। यह करते समय, जाहिर है कि, आज के युग के अतिरेकी राष्ट्रवाद एव अतिरेकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर रोक लगानी होगी। यह भी जाहिर है कि विश्व के हित के लिए जिस प्रकार थोडे से सयम से काम लेना पडता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय हित के लिए भी प्रत्येक राष्ट्र को सयम से काम लेना होगा। आज भी हर राष्ट्र में ऐसे दल मौजूद है कि जो राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओ की पर्वाह नही करते। 'दुनियाँ भर के काम करो, एक हो जाओ' यह गर्जना दुर्लक्षणीय नही है। विश्व का साम्यवादी दल राष्ट्रो की सीमाओ को स्वीकार नही कर सकता। क्योकि उसे स्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि वे लोग मौलिक तत्त्वज्ञान ही को स्वीकार नही करते। सीमाविषयक वाद-विवाद कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान की दृष्टि मे अर्थहीन है। और यही कारण है कि अनेक राष्ट्रो मे राष्ट्रवादी दलो द्वारा कम्यूनिस्ट दल का विरोध होता है। राष्ट्रवाद अभी तक पर्याप्त शक्तिशाली है तथा अनेक बार कम्यूनिस्ट कहलाने वाले दलों मे, कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान को भी मात देता है। समाजसत्तावाद के बारे में भी कहा जा सकता है कि वहाँ भी ठौर-ठौर पर राष्ट्रवाद एव धार्मिक साम्प्रदायिकता की छाप पडी हुई है। क्रिश्चियन सोशलिज्म, हिंदू सोशलिज्म, चायनीज सोशलिज्म ये शब्द भिन्न-भिन्न कल्पनाओ के ही द्योतक है। उनमें कुछ साम्य अवश्य रहता है। भात तो वही है, पर एक आम्बेमोर चावल का है तो दूसरा वासमती चावल का। ऐसी विविधता दृष्टिगोचर होती है। तथापि आज जो अभीष्ट है, वह वह साम्य है, जो भौगोलिक सीमाओ को नगण्य मानता है या उनकी उपेक्षा करता है। जो प्रादेशिक सयुक्तता आज दिखाई देती है वह एक मंजिल ही समझी जानी चाहिए। सयुक्त भारत सघ एक सयुक्तता का भाव है और उस भाव मे प्रादेशिकता के साथ-साथ ध्येयविषयक साम्य भी है। यह सयुक्तता की भावना अधिक व्यापक मात्रा मे होनी चाहिए, तभी स्वतन्त्रता की दृष्टि से विश्व का कदम आगे बढेगा। लोगो को अब कागज पत्रो मे लिखी स्वतन्त्रता नही चाहिए। सुरक्षा

अथवा समृद्ध जीवन यदि स्वतन्त्रता में से निर्माण न होता हो, तो वह स्वतन्त्रता टिक नहीं सकती और ऐसी स्वतन्त्रता अब अभीष्ट भी नहीं है। और यदि इस प्रकार का समृद्ध जीवन बनाना है, तो सारे विश्व के लिए एक ही आर्थिक व्यवस्था एवं एक स्थूल नियोजन व्यवस्था की आवश्यकता है। और उस दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों में अनुकूल प्रवृत्तियों का निर्माण होना चाहिए। जो निष्ठा राष्ट्र के प्रति है, वही निष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति भी शनैः-शनैः उत्पन्न की जानी चाहिए। और इसीलिए संसार के प्रत्येक व्यक्ति को सुशिक्षित एवं सुविचारी होना चाहिए। यदि युद्धकाल में बेशुमार खर्च करके राष्ट्र को संगठित किया जा सकता है, तो यह बात कोई स्वीकार नहीं करेगा कि राष्ट्र को सुशिक्षित करने के लिए संगठन नहीं किया जा सकता। और अतएव सम्पत्ति का विनियोग बड़े-बड़े जहाज बनाने, अंतरिक्ष को भेद डालने वाले आयुध तैयार करने तथा समूचे विश्व को समाप्त करने की क्षमता वाले अणुबम सरीखे साधनों का निर्माण करने में न करके मनुष्य के मन को उन्नत एवं विवेकी बनाने के काम में किया जाना चाहिए। आज मन-साधन बढ़ रहे हैं। तन्त्र-विषयक शोधकार्य बहुत बड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं। तथापि इस क्षेत्र में होने वाली प्रगति के साथ मनुष्य की मानसिक उन्नति के क्षेत्र में उतनी प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती। और जब तक मनुष्य का मन विवेकी, निष्ठावान् तथा दृढ़तायुक्त नहीं होगा, तब तक उसके हाथ में आधुनिक हथियारों का पकड़ाना खतरे से खाली नहीं। आज यदि संसार की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रहना है तो उसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर मानसिक क्रान्ति का होना आवश्यक है। और जब तक वह क्रान्ति नहीं होगी तब तक समता एवं आर्थिक सम्पन्नता उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं होगी तथा सामाजिक सम्बन्धों में जिस सन्तुलन की जरूरत होती है, वह नहीं रह सकेगा। मानसिक क्रान्ति के अभाव में संसार के अन्दर स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता की स्थापना कठिन हो जाएगी तथा शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता में जीवित किस प्रकार रहा जाए, इस बात की चिन्ता ही प्रमुखता पा जाएगी।

आज के विश्व में तान्त्रिक क्षेत्र में हुए शोध एवं बोध पर तथा जो विचार-प्रवाह आज हमें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दृष्टिगत होते हैं, उन पर विचार करने से एक बात साफ जाहिर होती है कि भले ही स्वतन्त्रता विषयक तत्त्वज्ञान एवं तद्विषयक सिद्धान्त स्वीकृत हो चुके हों, उन्हें प्रतिष्ठा मिल चुकी हो, तो भी यह कहना कठिन है कि वे पूरी तरह से सुरक्षित रह सकेंगे या उन पर किसी प्रकार का कोई आक्रमण होगा ही नहीं। अतः सुरक्षा की आवश्यकता एकदम स्पष्ट है तथा उसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संगठन निर्माण किया जाना चाहिए। और इस समय जो थोड़ा-बहुत मौजूद है, उसे ताकतवर बनाया जाना चाहिए। अन्याय जहाँ भी हो, चाहे वह राष्ट्रीय सन्दर्भ में हो, या अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में, उसके विरोध में यदि आवाज न उठाई गई, उसके मुकाबले के लिए प्रबल संगठन नहीं किया गया, तो दोनों ही क्षेत्रों में स्वतन्त्रता परास्त हो जाएगी—पराभूत हो जाएगी। यदि चुपचाप अन्याय को सहन कर लिया जाए, तो दिखाऊ एवं बोलने-चालने में शूर लोगों की

बन आती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जो राष्ट्र सत्य का परित्याग करके केवल सुविधा की पूजा करते हैं, तत्त्व का शोर मचा कर स्वार्थ का सग्रह करते हैं, ऐसों की बन आती है और तब फिर कही तिब्बत का-सा शोकान्त नाटक देखने को मिलता है, कही कांगो जैसी अप्रिय घटनाएँ होती हैं। चुपचाप रहना तथा चुपचाप आज्ञा पालन करना जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वतन्त्रता के लिए बाधक एवं मारक होता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे खुल्लमखुल्ला होने वाले अन्याय को निर्बलता से देखते रहना तथा उसकी निन्दा भी न करना एवं उसे सह जाना अन्तर्राष्ट्रीय गुण्डागीरी को प्रोत्साहन देने वाला सिद्ध होता है। केवल यह सोचकर कि आर्थिक क्षेत्र मे सघर्ष छिड जाएगा, अथवा आर्थिक मामलो मे मिलने वाली सहायता रुक जाएगी, चुपचाप बैठे रहना उचित नही कहा जा सकता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शान्ति एवं सत्य की स्थापना की दृष्टि से स्पष्टवादिता से काम लिया जाना चाहिए। तथा जब आप देखें, सत्य, शान्ति एव प्रजातन्त्र पर आँच आने वाली है, उस समय आपको 'नरो वा कुञ्जरो वा' की नीति से काम न लेकर पूरी तरह स्पष्ट-वादिता से काम लेना चाहिए। शान्ति एव समृद्धि ये दो बातें सर्वतोपरि इष्ट हैं तथापि इन दोनो की अपेक्षा भी स्वतन्त्रता को सबसे श्रेष्ठ समझना चाहिए। राष्ट्रीय क्षेत्र मे जिस प्रकार हम स्वामित्व को गौण एव स्वतन्त्रता को मुख्य मानते है, उसी प्रकार हमे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी मानना चाहिए। यदि हम किसी जगह स्वतन्त्रता को गौण एव सत्ता, सम्पत्ति आदि को मुख्य मान लें तो उससे स्वतन्त्रता कलाहीन हो जाएगी, नामशेष हो जाएगी। अत. विश्व में स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए हमे उसकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखना होगा। इसका अर्थ यह होगा कि हम देखें कि आर्थिक क्षेत्र मे निरन्तर न्यायपूर्ण व्यवस्था से काम लिया जा रहा है। जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे, सम्पत्ति का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के हाथ मे छोटे या बडे किसी भी पैमाने मे—रहने देना, स्वतन्त्रता के लिए खतरा बन जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी सम्पत्ति की निर्मिति के सम्बन्ध मे एकाधिकार का वातावरण बनाए रखना खतरे से खाली नही है। वर्गविहीन समाज अब नवीन समाज का एक स्पष्ट लक्षण होता जा रहा है। उसी का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप यह होना चाहिए कि विश्व के सब राष्ट्रों को एक ही सतह पर लाने का प्रयत्न किया जाए तथा इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का संगठन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आज भी गुटबन्दी करके हाथ मे आए हुए अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों (स्फियर ऑफ इन्फ्लुएम) को हाथ से न जाने देने का प्रयत्न जारी है। पुराना साम्राज्यवाद तथा पुराना उपनिवेशवाद अभी गया नही है। काया बदलने पर भी आत्मा अभी वही चला आ रहा है। अत समार की प्रगति एव स्वतन्त्रता के इच्छुक लोग यदि आज सगठित नही हुए तो प्रगति एव स्वतन्त्रता दोनों ही ठण्डे पड जाएँगे। सम्पत्ति का स्वामित्व जब तक दोनों क्षेत्रों मे—मुट्ठी भर लोगों के हाथ मे रहेगा, तब तक स्वतन्त्रता की सुरक्षा असम्भव है। और सम्पत्ति के स्वामित्व को थोडे से लोगो के हाथ मे बनाए रखने के लिए जितना अधिक प्रयत्न होता रहेगा, उतना ही अधिक खतरा स्वतन्त्रता के लिए पैदा होता जाएगा,

यह स्पष्ट है। आज जहाँ ये प्रयत्न किए गए हैं कि सम्पत्ति किन्हीं मुट्ठी भर लोगों के अथवा वर्ग विशेष के हाथ में न रहे, वहाँ एक नई सभ्यता का, एक नई समाज रचना का उदय हो रहा है। और गत ४० वर्षों में आपसी फूट में से निकल कर ससार के अन्य राष्ट्रो की विरोधी करामातो का मुकाबला करते हुए, दूसरे महायुद्ध के सर्वनाशी जबड़े में से सोवियत रशिया ने एक नई सस्कृति, एक नई सभ्यता निर्माण की है, यह मानना होगा। उसमे स्वतन्त्रता की दृष्टि से जो कमी है, उसे ध्यान मे रखते हुए संसार मे एक नई संस्कृति एवं सभ्यता का निर्माण होना आवश्यक है।

चिन्ताग्रस्त करने वाली बेकारी आज सोवियत रशिया में नहीं है। पढ़ाई-लिखाई खतम हुई कि बेकारी शुरू हो गई, ऐसी बात वहाँ नहीं है। नियोजनपूर्ण अर्थव्यवस्था द्वारा व्यक्तियों एवं कामों का, कार्यों एवं कार्यकर्ताओं का सयोजन इस प्रकार किया जाता है, जिससे समूचे उत्पादन मे बढ़ोतरी हो तथा सामान्य जनो का जीवन-स्तर बढ़ता जाए। जिन आर्थिक सकटो को अपरिहार्य माना जाता था, तेजी और मन्दी को एक स्वाभाविक बात समझा जाता था, मांग और पूर्ति के सिद्धान्त को परमेश्वरी आज्ञा का स्वरूप दिया जाता था, इन सब बातों को अब सोवियत रशिया ने बदल डाला है। उपभोग के लिए उत्पादन—इस एकमात्र हेतु को ध्यान मे रखकर अब सिक्के को आर्थिक राज्य मे से निर्वासित कर दिया है। इतना ही नही, सामाजिक क्षेत्र मे एक नए आत्म-विश्वास एवं आत्मप्रतिष्ठा का वातावरण निर्माण हो गया है। श्रम को तप माना जाता है तथा उससे होने वाली निर्मिति समाज के कल्याण एवं व्यक्ति के सुख के लिए ही दिखाई देती है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' यह स्वार्थ त्याग की भूमिका आज इस नए सस्कृत समाज की पार्श्व-भूमि बन गई है। इसके साथ तुलना करने पर प्रतीत होगा कि संसार के अन्य राष्ट्रो मे जहाँ पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था प्रभावी है, दारिद्र्य, विषमता, विफलता, बेकारी तथा आर्थिक अस्थिरता की समस्या अभी हल नही हुई है। और जब तक पुरानी दुनियाँ मे, पुराने मन्त्रो का पाठ करने वाली संस्कृति कायम है, तब तक यह समस्या हल नहीं होगी। अमेरिका मे सम्पत्ति की मालकी अधिक लोगो के हाथ मे है। बहु-सख्यक लोग बीमेदार हैं। बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय पूँजी मे जिन लोगों ने अपने पैसे लगा रखे हैं, ऐसो की संख्या भी खूब बढ़ गई है। और अमेरिका मे पूँजीवाद तो है पर वह प्रजातन्त्री पूँजीवाद है तथा सम्पत्ति की निर्मिति मे अनेको का हिस्सा (पॉपुलर कैपिटलिज्म) है। वैसा होने पर भी उत्पादनपद्धति मे जब तक श्रम करने वाले मजदूरों को भाग लेने वालो के समान अधिकार नहीं प्राप्त होंगे तब तक पूँजी-वादी उत्पादन के दोष बने रहेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि अमेरिका में सम्पन्नता अधिक है। जीवन का स्तर बहुत अधिक बढ गया है, तो भी एक सामाजिक संतोष व निश्चिति विषयक आत्मविश्वास अभी तक वहाँ नही है। अत: सोवियत पद्धति के किन्हीं मूल्यों को स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार सोवियत संस्कृति को स्वतन्त्रता-विषयक कुछ मूल्य स्वीकार करना चाहिए। इससे स्वतन्त्रता एवं सम्पन्नता के मध्य उचित सन्तुलन रखा जा सकेगा। जीवन को संरक्षण एवं स्वतन्त्रता दोनों की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता एवं संरक्षण

बन आती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो राष्ट्र सत्य का परित्याग करके केवल सुविधा की पूजा करते है, तत्त्व का शोर मचा कर स्वार्थ का संग्रह करते हैं, ऐसो की बन आती है और तब फिर कही तिब्बत का-सा शोकान्त नाटक देखने को मिलता है; कही कांगो जैसी अप्रिय घटनाएँ होती हैं। चुपचाप रहना तथा चुपचाप आज्ञा पालन करना जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वतन्त्रता के लिए बाधक एवं मारक होता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे खुल्लमखुल्ला होने वाले अन्याय को निर्बलता से देखते रहना तथा उसकी निन्दा भी न करना एव उसे सह जाना अन्तर्राष्ट्रीय गुण्डागीरी को प्रोत्साहन देने वाला सिद्ध होता है। केवल यह सोचकर कि आर्थिक क्षेत्र मे संघर्ष छिड़ जाएगा, अथवा आर्थिक मामलो मे मिलने वाली सहायता रुक जाएगी, चुपचाप बैठे रहना उचित नही कहा जा सकता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शान्ति एव सत्य की स्थापना की दृष्टि से स्पष्टवादिता से काम लिया जाना चाहिए। तथा जब आप देखें, सत्य, शान्ति एव प्रजातन्त्र पर आँच आने वाली है, उस समय आपको 'नरो वा कुञ्जरो वा' की नीति से काम न लेकर पूरी तरह स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। शान्ति एव समृद्धि ये दो बातें सर्वतोपरि इष्ट हैं तथापि इन दोनों की अपेक्षा भी स्वतन्त्रता को सबसे श्रेष्ठ समझना चाहिए। राष्ट्रीय क्षेत्र मे जिस प्रकार हम स्वामित्व को गौण एवं स्वतन्त्रता को मुख्य मानते हैं, उसी प्रकार हमे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी मानना चाहिए। यदि हम किसी जगह स्वतन्त्रता को गौण एव सत्ता, सम्पत्ति आदि को मुख्य मान ले तो उससे स्वतन्त्रता कलाहीन हो जाएगी, नामशेष हो जाएगी। अतः विश्व में स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए हमें उसकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखना होगा। इसका अर्थ यह होगा कि हम देखें कि आर्थिक क्षेत्र मे निरन्तर न्यायपूर्ण व्यवस्था से काम लिया जा रहा है। जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे, सम्पत्ति का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के हाथ मे छोटे या बड़े किसी भी पैमाने में—रहने देना, स्वतन्त्रता के लिए खतरा बन जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सम्पत्ति की निर्मिति के सम्बन्ध मे एकाधिकार का वातावरण बनाए रखना खतरे से खाली नही है। वर्गविहीन समाज अब नवीन समाज का एक स्पष्ट लक्षण होता जा रहा है। उसी का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप यह होना चाहिए कि विश्व के सब राष्ट्रों को एक ही सतह पर लाने का प्रयत्न किया जाए तथा इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का सगठन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे आज भी गुटबन्दी करके हाथ में आए हुए अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रो (स्फियर ऑफ इन्फ्लुएन्स) को हाथ से न जाने देने का प्रयत्न जारी है। पुराना साम्राज्यवाद तथा पुराना उपनिवेशवाद अभी गया नही है। काया बदलने पर भी आत्मा अभी वही चला आ रहा है। अतः संसार को प्रगति एव स्वतन्त्रता के इच्छुक लोग यदि आज सगठित नहीं हुए तो प्रगति एवं स्वतन्त्रता दोनों ही ठण्डे पड जाएँगे। सम्पत्ति का स्वामित्व जब तक दोनों क्षेत्रों मे—मुट्ठी भर लोगों के हाथ मे रहेगा, तब तक स्वतन्त्रता की सुरक्षा असम्भव है। और सम्पत्ति के स्वामित्व को थोडे से लोगो के हाथ मे बनाए रखने के लिए जितना अधिक प्रयत्न होता रहेगा, उतना ही अधिक खतरा स्वतन्त्रता के लिए पैदा होता जाएगा,

यह स्पष्ट है। आज जहाँ ये प्रयत्न किए गए हैं कि सम्पत्ति किन्ही मुट्ठी भर लोगों के अथवा वर्ग विशेष के हाथ में न रहे, वहाँ एक नई सभ्यता का, एक नई समाज रचना का उदय हो रहा है। और गत ४० वर्षों में आपसी फूट में से निकल कर संसार के अन्य राष्ट्रों की विरोधी करामातों का मुकाबला करते हुए, दूसरे महायुद्ध के सर्वनाशी जबड़े में से सोवियत रशिया ने एक नई संस्कृति, एक नई सभ्यता निर्माण की है, यह मानना होगा। उसमें स्वतन्त्रता की दृष्टि से जो कमी है, उसे ध्यान में रखते हुए संसार में एक नई संस्कृति एवं सभ्यता का निर्माण होना आवश्यक है।

चिन्ताक्रान्त करने वाली बेकारी आज सोवियत रशिया में नहीं है। पढ़ाई-लिखाई खत्म हुई कि बेकारी शुरु हो गई, ऐसी बात वहाँ नहीं है। नियोजनपूर्ण अर्थव्यवस्था द्वारा व्यक्तियों एवं कामों का, कार्यों एवं कार्यकर्ताओं का संयोजन इस प्रकार किया जाता है, जिससे समूचे उत्पादन में बढ़ोत्तरी हो तथा सामान्य जनों का जीवन-स्तर बढ़ता जाए। जिन आर्थिक संकटों को अपरिहार्य माना जाता था, तेजी और मन्दी को एक स्वाभाविक बात समझा जाता था, माँग और पूर्त्ति के सिद्धान्त को परमेश्वरी आज्ञा का स्वरूप दिया जाता था, इन सब बातों को अब सोवियत रशिया ने बदल डाला है। उपभोग के लिए उत्पादन—इस एकमात्र हेतु को ध्यान में रखकर अब सिक्के को आर्थिक राज्य में से निर्वासित कर दिया है। इतना ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में एक नए आत्म-विश्वास एवं आत्मप्रतिष्ठा का वातावरण निर्माण हो गया है। श्रम को तप माना जाता है तथा उससे होने वाली निर्मिति समाज के कल्याण एवं व्यक्ति के सुख के लिए ही दिखाई देती है। 'तेन त्यक्तेन भुन्जीथा:' यह स्वार्थ त्याग की भूमिका आज इस नए संस्कृत समाज की पार्श्व-भूमि बन गई है। इसके साथ तुलना करने पर प्रतीत होगा कि संसार के अन्य राष्ट्रों में जहाँ पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था प्रभावी है, दारिद्र्य, विषमता, विफलता, बेकारी तथा आर्थिक अस्थिरता की समस्या अभी हल नहीं हुई है। और जब तक पुरानी दुनियाँ में, पुराने मन्त्रों का पाठ करने वाली संस्कृति कायम है, तब तक यह समस्या हल नहीं होगी। अमेरिका में सम्पत्ति की मालकी अधिक लोगों के हाथ में है। बहु-सख्यक लोग बीमेदार हैं। बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय पूँजी में जिन लोगों ने अपने पैसे लगा रखे हैं, ऐसों की संख्या भी खूब बढ़ गई है। और अमेरिका में पूँजीवाद तो है पर वह प्रजातन्त्री पूँजीवाद है तथा सम्पत्ति की निर्मिति में अनेकों का हिस्सा (पॉपुलर कैपिटलिज्म) है। वैसा होने पर भी उत्पादनपद्धति में जब तक श्रम करने वाले मजदूरों को भाग लेने वालों के समान अधिकार नहीं प्राप्त होंगे तब तक पूँजी-वादी उत्पादन के दोष बने रहेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि अमेरिका में सम्पन्नता अधिक है। जीवन का स्तर बहुत अधिक बढ़ गया है, तो भी एक सामाजिक संतोष व निश्चिति विषयक आत्मविश्वास अभी तक वहाँ नहीं है। अत: सोवियत पद्धति के किन्हीं मूल्यों को स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार सोवियत संस्कृति को स्वतन्त्रता-विषयक कुछ मूल्य स्वीकार करना चाहिए। इससे स्वतन्त्रता एवं सम्पन्नता के मध्य उचित सन्तुलन रखा जा सकेगा। जीवन को संरक्षण एवं स्वतन्त्रता दोनों की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता एवं संरक्षण

अनेक बार कर्तव्य को जानते हुए भी लोग उदासीन हो जाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने से प्रतीत होता है कि कानून के विरुद्ध एक निश्चित सीमा में रहकर व्यवहार करना अनैतिक नहीं समझा जाना चाहिए। किसी वस्तु को नया होने के कारण शान्तिकारक अथवा समाज-उच्छेदी मान लेना उचित नहीं। जो नया है, उसे परखना चाहिए। जो पुराना है, उसे भी परखना चाहिए। परम्परा की मुद्रा को देख कर किसी वस्तु को शतप्रतिशत उपयोगी मान लेना ठीक नहीं। सिक्के भी कुछ काल पश्चात् घिस-पिट जाते हैं। इसी प्रकार आदर्श भी घिसते-पिटते रहते हैं तथा निर्मूल्य हो जाते हैं। अतः स्वतन्त्रता एवं सामाजिक न्याय की कल्पना सनातन स्वरूप की नहीं हो सकती। उसमें परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन समय के अनुसार काल की नाड़ी परीक्षा करके किया जाना चाहिए। इतिहास हमें बताता है कि स्वतन्त्रता का युद्ध कभी समाप्त नहीं होता। प्रतिक्षण अधिकार उस पर आक्रमण करता रहता है। मौजूदा कल्पना में जिन्हें उसके कारण सुख एवं समृद्धि प्राप्त होती है, वे लोग अपरिवर्तनवादी, हठी एवं आग्रही बन जाते हैं। तथापि जिस प्रकार वायु को राह पूछने की जरूरत नहीं होती; मृत्यु को मुहूर्त की जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार स्वतन्त्रता की रक्षा एवं विकास के लिए किसी विशेष ध्येय अथवा साधन के आग्रह की जरूरत नहीं होती। प्रयत्न तो निरन्तर होते रहते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे प्रयत्न समझदारी के साथ किए जाएँ। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समाज के प्रचलनों एवं संस्थाओं को सजीव तथा कार्यप्रवण होना चाहिए। तथा समूचा वातावरण युक्तिवाद के अनुकूल होना चाहिए। जो युक्तिवाद को स्वीकार नहीं करते वे हिंसा से काम लेना शुरू करते हैं तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता पर आक्रमण करने में भी नहीं चूकते। अतः आज भले ही पहले की अपेक्षा स्वतन्त्रता का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया हो, अधिक लोगों को उसका अनुभव प्राप्त होता हो, तो भी हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह संसार के सभी लोगों को प्राप्त हो तथा सही मार्गों से प्राप्त हो। और इसी दृष्टि से हमने राज्य एवं स्वतन्त्रता की कल्पना का सविस्तार विवेचन इस ग्रन्थ में किया है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१६	सत्ता स्वतन्त्रता	सत्ता स्वातन्त्र्य	१२१	१४	क्रन्ति	क्रान्ति
		का	की	१२४	३५	करना थी	करनी थी
७	१४	स्नेप	द्वेष	१२५	२४	मर्जी गर	मर्जी पर
९	२५	विश्वविद्यालयीन	विश्वविद्यालयीय	१२६	३	मग	मन
१७	१३	महता	महत्ता	१२७	१६	इनकार	इन्कार
२१	२२	बश	वंश	१२८	२३	आंकुचिन	आकुंचित
२७	८	काई	कोई	१२८	२३	केश भूषा	वेश भूषा
३७	२५	मटल	मण्डल	१३०	५	द्यूत	द्यूत
३५	२७	जाप	जप	१३२	११	नशीनी	नशीली
३८	३	मुद्रा	मुद्रा	१३२	१८	हित में	हित में है
४०	१०	सार्वसामान्य	सर्वसामान्य	१३९	३६	भतृहरि	भर्तृहरि
४१	३०	पहेली	पहिले	१४१	१४	भविस्य	भविष्य
६०	१७	होगी	होगी	१४२	२१	लोगों की	लोगों को
६५	१६	लगाएँ जाने	लगाए जाने	१४३	२६	आने हों	आने हैं
		चाहिए	चाहियें	१४४	११	प्रयोग	प्रणीत
७०	२६	न करने के	न करने मे	१४५	१	इतना ही	इतना ही नहीं
७४	१०	फ्रुद्ध	क्रुद्ध	१५०	२३	अवस्था	अवस्था में
८१	८	नागनिक	नागरिक	१५४	११	सिमटे	सिमेटे
८४	११	मो में राज्य की	तो राज्य की	१५५	३४	समाचार पत्र	समाचार पत्र
८८	३५	नाम वी संस्था	नाम की संस्था			ही	पर ही
९१	१५	राज्य कानून	राज्य द्वारा कानून	१५६	१	लिधि	विधि
		बन्याकर	बनाकर	१५६	१५	कुत्ते की	कुत्ते के
९५	२९	सर्वसमान्य	सर्वसामान्य	१६१	१७	(ला फि अफेयर)	ला भी या फेअर
९५	३६	उचित व्यवस्था	उचित व्यवस्था	१६३	२१	तीव्र	तीव्र
		के न हो	न हो	१६८	२०	बहुसंख्यात	बहुसंख्यक
१००	३३	निकालने के	निकालने	१७२	२५	बन आती है	बन जाती है
१०४	३४	जाहिए	चाहिए	१७२	३५	देस	देश
१०८	१६	किता जाना	किया जाना	१७५	९	कर्त्तस्य	कर्त्तव्य
११५	२२	निजि	निजी	१७८	२३	किसी ने भी	किसी में भी
११८	१५	मुट्ठी	मुट्ठी	१७९	१२	ईमनदारी	ईमानदारी
११९	३१	लागू नहीं पड़ता	लागू नहीं होता	१७९	२३	निभाकर	निभकर
११७	३७	न प्रदर्शन,	मत प्रदर्शन	१८०	८	शाखाम् वस्यात्	शाकादि वा स्यात्
११८	१८	स्वमित्व	स्वामित्व			लवणेन मद्यात्	लवणाद्य वा स्यात्